SMRITI KE CHITRA : Hindi translation by R. R. Sarwate of Laxmibai Tilak's reminiscences in Marathi. Sahitya Akademi, New Delhi (1970), Price Rs. 8.50.

प्रथम संस्करण : १९७०

साहित्य अकादेमी,
रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली-१ से प्राप्य

मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

मूल्य : ८.५० रुपये

कविवर रेवरेंड नारायण वामन तिलक की पत्नी श्रीमती लक्ष्मीबाई तिलक (१८७३-१९३६) के प्रसिद्ध 'स्मृतिचित्रें' नामक मराठी ग्रंथ का यह संक्षिप्त संस्करण श्री देवदत्त नारायण तिलक ने साहित्य अकादेमी के लिए विशेष रूप से तैयार किया है। इस ग्रंथ के अनुवाद प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में किये जा रहे हैं। इसका हिन्दी अनुवाद श्री रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे ने किया है।

इस संक्षिप्त संस्करण के लिए श्रीमती कमलाबाई देशपांडे ने एक विशेष भूमिका लिखी है। उसमें वे कहती हैं : "जो जीवनी लिखता है, उसे अपने तईं एक तटस्थ की स्थिति ग्रहण करनी पड़ती है और यह कार्य उन्होंने पूर्ण रूप से निभाया है। यह अलिप्तता यदि लेखक से निभ जाय, तो जीवन में घटी हुई घटनाओं का मूल्यांकन लेखक सही रूप में कर सकता है और पढ़ने वाले को भी लिखने वाले के अनुभवों का आनंद प्राप्त होता है। अलिप्तता की वृत्ति की साधना टेढ़ी खीर है, परन्तु लक्ष्मीबाई ने ठीक वही साधी है।"

"यदि यह कहें कि साहित्य के जीवन-चरित-विभाग में अव्वल दर्जे का स्थान प्राप्त करने वाली यह लेखिका निरक्षर थी तो अधिक अतिशयोक्ति न होगी। फिर भी कहानी कहने की

कला उन्हें जन्म ही से आती थी। लम्बे-चौड़े वाक्यों के बदले चुने हुए शब्दों के छोटे-छोटे और चुभते हुए वाक्य लिखने में वह सिद्धहस्त हैं। उनकी रचना शैली से सुबोध, सहज ही स्फुरित हुए थोड़े अलंकारों और वर्णनों से मनोहर, विसंगति को छूने के उनके जन्म-जात स्वभाव के कारण विनोदपूर्ण और आस-पास के लोगों की सहानुभूति के कारण हृदयस्पर्शी लगती है और यही उसकी विशेषता है कि यह सब स्वयंभू है।"

'स्मृतिचित्रें' (चार खंड) का प्रथम संस्करण १९३४ से १९३९ में प्रकाशित हुआ था।

अनुक्रम

लक्ष्मीबाई (प्रस्तावना) : ६
मायके में : २१
ससुराल में : ३७
ससुराल की साँसत : ५२
पेंडसे के घर हमारा निवास : ७३
सप्तशृंग : ९४
बुटी के बगीचे में : ११२
राजनादगाँव : १३४
ईसाई धर्म के पथ पर : १५५
बहन के आश्रय में : १८०
भाई और भाभियों का सहारा : २०५
देवर के घर से अपने घर में : २२३
दोनों की एक गृहस्थी : २४७
कुछ स्मरणीय बातें : २७१

राहुरी का घर : २६७
नगर के वे दिन : ३२०
वालकवि की स्मृतियाँ : ३४२
नई गृहस्थी : ३७१
जीवन-पथ पर नया क़दम : ३६५
श्रीमती : ४१६
माँ : ४४१

लक्ष्मीबाई

'स्वभावोक्ती साधी[1] म्हणुनिच अलंकारिं सरसा'
रे० तिलक—'माभ्ही[2] भार्या'

'स्मृति के चित्र' पढ़ने तक लक्ष्मीबाई के विषय में मैंने केवल सुना था। उनकी 'तुम्ही कवि भिकारिण मी हो तुमच्या[3] दारीं' पहली प्रकाशित कविता है। इस कविता के द्वारा उनका नाम प्रथम बार मेरे कानों में पड़ा था। आगे चलकर 'मासिक मनोरंजन' के वसंत-विशेषांक में 'करंज्यांत मोदक कशाला?' (गुझियों में मोदक क्यों)—शीर्षक उनकी एक कविता प्रकाशित हुई। इस नई कविता के कारण सारे रसिक हड़बड़ाकर जाग उठे और कहने लगे, "जहाँ सभी मोदक हैं, वहाँ यह गुझिया कहाँ से आ गई?" यह कविता और इस कविता पर हुई चर्चा सुनने से इस कवयित्री के बारे में जानकारी पुष्ट हो गई। रेवरैंड नारायण वामन तिलक की यह पत्नी थीं। तिलक की कविताएँ इस समय अत्यन्त लोकप्रिय थीं। उनकी अन्य कविताओं के साथ उनका 'वनवासी फूल' नामक खंड-काव्य मैंने पढ़ा

---

१. स्वाभावोक्ति अलंकार में स्वाभाविकता और सादगी होती है। इसलिए, वह अलंकार सुंदर होता है।

२. मेरी पत्नी।

३. आप कवि हैं। मैं आपके द्वार पर खड़ी भिखारिन हूँ।

था—केवल पढ़ा ही नहीं, उसका पारायण भी किया था। मेरा यह अनुमान कि वह लक्ष्मीवाई इन कवि तिलक की पत्नीं हैं, हर वार पक्का हो जाता। इसकेअतिरिक्त दूसरा आश्चर्य होता कि यद्यपि तिलक ईसाई कवि के रूप मेंप्रसिद्ध हैं, तथापि, उनकी कविता यदि देखी जाय, तो वह है असली सनातनी परिपाटी की और गीता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली। भाषा सुवोध और शुद्ध है और मनःप्रवृत्ति सात्त्विक है। उनकी 'मेरी भार्या' कविता को पढ़कर, उनके प्रति और उनकी पत्नी के व्यक्तित्व के प्रति, मेरी जिज्ञासा वहुत अधिक वढ़ गई।

'मेरी भार्या' में कवि ने यद्यपि वड़े आग्रह से कहा है कि **'केलें काव्य परन्तु येथ मम हो संबंध काहीं नसे'** (मैंने कविता अवश्य लिखी है, परंतु इस कविता से मेरा कोई निजी संबंध नहीं है।), तथापि, इस कविता को पढ़ने के वाद पाठकों की यह धारणा कि इस कविता में लक्ष्मीवाई के स्वरूप की छाया पड़ी है, किसी भी तरह दूर नहीं होती। इस कविता को पढ़कर इस विषय में मेरी भी कुछ धारणाएँ वन गई कि लक्ष्मीवाई कैसी होंगी। अगले वर्ष सतारा से पूना आकर मैं हुजूरपायगाह की पाठशाला में जाने लगी। मैं अँग्रेज़ी की छठी कक्षा में भरती हुई और मुझे पता लगा कि कुमारी तारा तिलक उसी पाठशाला में अँग्रेज़ी की पाँचवी कक्षा में पढ़ रही है। यह जानकर मुझे वड़ी खुशी हुई, क्योंकि 'आनन्द' मासिक-पत्र में तिलक ने कुछ वर्ष पहले अपनी इस लड़की की एक कविता 'वाभळीच्या फुलास' (ववूल के फूल के प्रति) भेजी थी। वह मैंने पढ़ी थी और तव से इस लड़की को देखने के लिए मैं उत्सुक थी। वोर्डिंग हाउस की मैट्रन श्री० सारजावाई वापट के ज़रिये मैंने उस लड़की से पहचान भी कर ली। किन्तु आगे 'संजीवनी' मासिक पत्रिका में जव 'स्मृति के चित्र' का प्रकाशन होने लगा, तव मेरी श्रुति की लक्ष्मीवाई की मूर्ति पूर्ण रूप से मेरे सामने साकार हुई। इससे पहले भी यदि उन्हें पहचानने वाले लोगों से मेरी भेंट हो जाती, तो उनके वारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने का अवसर मैं प्राप्त कर लेती थी। कोई कहता—"वह सौ प्रतिशत ईसाई है।" कोई

कहता—"अजी, वह तो नाम की ईसाइन हैं! हम उनके घर जाकर देखें और उनसे बातें करें, तो हमें यही प्रतीत होगा जैसे हम किसी कोंकणस्थ ब्राह्मण के घर जाकर उसकी पत्नी से बातें कर रहे हैं।" इसके बाद उनके बारे में मुझे किसी से कुछ पूछने की ज़रूरत ही न पड़ी। उनके 'स्मृति के चित्र' के संपूर्ण भाग प्रकाशित हो गए और उनसे उन्हींके शब्दों में यह पढ़ने को मिला कि वह मूल में कैसी थीं, उनके मन पर कौन-से भले-बुरे प्रभाव पड़े और अंत में वह कैसी बनीं। और, यह सब पढ़कर, आदर और सराहना-भरे आश्चर्य से मस्तक नत हो गया।

और, आदर से मस्तक क्यों न झुकेगा? बात यह है कि जो जीवनी लिखता है, उसे अपने तईं एक तटस्थ की स्थिति ग्रहण करनी पड़ती है और यह कार्य उन्होंने पूर्ण रूप से निभाया है। 'वारकरी'[1] लोगों में एक रूपक प्रसिद्ध हैं:

सांगतें तुम्हां भी वेगळे निघा।
नि वेगळे निघोनि संसार बघा[2]।

इस गीत में वहू अपने पति से कहती है—'पहले तुम इस सास के घर से अलग तो हो जाओ और फिर देखो कि मैं अपनी गृहस्थी कैसी सजाती हूँ।" इस रूपक में जीवात्मा के लिए उपदेश है। जीव को यह परामर्श दिया गया है कि उसे जगत् के माया-पाश से अलग होकर स्वयं अपना स्वरूप पहचानना चाहिए। यदि संसार के सुख-दुःख में वह उलझा न रहे, बल्कि, उससे अलग होकर, अलिप्त होकर, संसार की ओर देखे, तो फिर

---

१. पंढरपुर तीर्थ की यात्रा को नियमित रूप से जाने वाले यात्री, जो पंढरी नाथ भगवान् के विशेष रूप से भक्त होते हैं।

२. मैं तुमसे कहती हूँ कि पहले अलग तो हो जाओ। और अलग होकर अपनी गृहस्थी देखो।

उसे सच्चे परमानंद, परमात्मा का अनुभव होता है। यह अलिप्तता यदि लेखक से निभ जाय, तो जीवन में घटी हुई घटनाओं का मूल्यांकन लेखक सही रूप में कर सकता है और पढ़ने वाले को भी लिखने वाले के अनुभवों का आनंद प्राप्त होता है। अलिप्तता की वृत्ति की साधना टेढ़ी खीर है, परन्तु, लक्ष्मीबाई ने ठीक वही साधी है। लक्ष्मीबाई का विवाह बारह वर्ष की अवस्था के भीतर ही हो गया था। वह तिलक-जैसे व्यक्ति के गले बँध गई थीं, जो इसमें शक नहीं कि, बड़े विद्वान् और स्नेहमय व्यक्ति थे, किंतु, उतने ही विक्षिप्त थे। जो बातें लक्ष्मीबाई ने लिखी हैं, उन्हें पढ़ने से मनोरंजन होता है, यह सच है, परंतु, मन में यह आए बिना भी नहीं रहता कि 'युद्धस्य कथा रम्या' की तरह ये बातें मीठी लगती हैं, परंतु प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करने में वे मीठी न लगी होंगी। बच्चा घर में भूख से तड़प रहा था। लक्ष्मीबाई ने पति को एक रुपया देकर चावल लाने के लिए बाज़ार भेजा। पतिदेव चावल के बदले काँच की एक दावात खरीद लाए! बात यहीं तक नहीं रही, और आगे बढ़ी। जब लक्ष्मीबाई ने इस ख़रीद की सराहना न की, तब पतिदेव को क्रोध आ गया और उन्होंने वह दावात भी फोड़ डाली! बताइए, लक्ष्मीबाई भूखे पेट इस दावात की सराहना कैसे करतीं? उस समय उस घटना ने उन्हें फूट-फूटकर रुलाया ही होगा।

उनके जीवन में दूसरी बात यह भी दिखाई देती है कि उन्हें ऐसे विक्षिप्त लोगों के बीच रहने का जन्म ही से अभ्यास हो गया था। वह पहले ही कहती हैं कि उनके पिताजी को 'सोले' (छूतछात आदि की परहेज़गारी) की सनक सवार रहती थी। इसका वर्णन करके कि उनके द्वारा नमक, शक्कर इत्यादि चीज़ों को शुद्ध करने के लिए पानी से धोते समय उस 'सोले' का, उस छुआछूत की परहेज़गारी का, किस तरह पालन किया जाता था, उसकी असंगति से वह स्वयं ही हँसने लगती हैं। पिताजी ऐसे, तो ससुर-जी उनसे भी अजीब! 'पैठणी', साड़ी और चूड़ियों के लिए जैसा उन्होंने लक्ष्मीबाई को सताया था, उसे तो छोड़ ही दीजिए, परंतु जब वह भोजन

करने के लिए बैठतीं, तभी कोई भूला हुआ काम बताकर, यह ससुरजी उन्हें आधे भोजन से उठा देते थे। इन ससुरजी ने अपनी पत्नी को एक बार झूठ-मूठ ही लिखकर भेज दिया था कि मैं सख्त बीमार हूँ और जब उनकी गर्भवती पत्नी देखने को कल्याण से माखोड तक पैदल आई, तब उससे मीठी बातें करने के बदले उन्होंने उसकी कमर में लात मार दी। इन सब बातों को पढ़कर हँसी आने के बदले पाठकों को भी क्रोध और संताप आए बिना नहीं रहता। लक्ष्मीबाई जन्म ही से ऐसे विचित्र स्वभाव वाले मनुष्यों के हाथ के नीचे बढ़ती थीं। कोई दुर्बल मन का मनुष्य होता, तो ऐसी परिस्थिति में मानसिक घुटन उत्पन्न होकर उसके मस्तिष्क में विकृति भी आ सकती थी। परंतु, लक्ष्मीबाई के स्वभाव में इसके कारण कोई मानसिक विकृति तो उत्पन्न हुई ही नहीं, उल्टे, उनके अंतरंग का मानसिक अंकुर मूल ही में अत्यन्त स्वस्थ और ज़ोरदार होने के कारण इस बाह्य परिस्थिति के प्रभाव से सूखा नहीं, बल्कि अपनी निजी विनोद-प्रिय और आनंदमय वृत्ति से वह अपने आस-पास की परिस्थिति पर आनंद की छाया फैला सका। उन्होंने अपने बारे में स्वयं ही कहा है कि "स्वभाव ही से जीवित रहने की मेरी इच्छा बड़ी प्रबल है और चीमड़ शरीर वाली तथा बड़ी सहनशील हूँ।" इसका एक-एक अक्षर सच जान पड़ता है। लक्ष्मीबाई जन्म ही से हिंदू स्त्रियों के संस्कार अपने साथ लाई थीं। परन्तु इसमें उनकी अपनी विशेषता यह थी कि पति के साथ यद्यपि वह बिलकुल छाया की तरह चलीं तथापि, मरे हुए मन से नहीं। जहाँ मौका आता, वहाँ वह अपनी बात तिलक को सुनाकर ही रहतीं और उसके लिए उनसे लड़ भी पड़ती थीं। विशेषतः, उस समय, जब तिलक के मन में धार्मिक विचारों के बारे में हलचल शुरू हो गई थी, उन्होंने उसे जानकर, उन विचारों से उन्हें बचाने के लिए जिस तरह झगड़ा किया, उसे देखकर उनके प्रति सराहना के भाव पैदा हो जाते हैं। यह ध्यान में आते ही पति का कुछ दूसरा ही विचार है, वह उनके पीछे पड़ गईं। चूल्हे पर रखा 'थाली पीठ' (सतनजे की नमकीन रोटी) जल गया, भार से उनकी पीट का चीला बन गया, पर वह

तिलक की टोह लगाकर ही रहीं और इस अस्वस्थ मन:स्थिति ही में उनकी कविता का जन्म हुआ। लेकिन, इसकी अपेक्षा, तिलक के ईसाई हो जाने के वाद से स्वयं लक्ष्मीवाई के ईसाई होने तक का कथा-भाग अत्यन्त ही हृदयद्रावक है। रेवरेंड तिलक किसी को वताए विना ही ईसाई वने थे। उन दिनों लोग धर्म-परिवर्तन भयंकर मानते थे। इस समाचार से उनके परिवार, रिश्तेदारों तथा इष्टमित्रों को धक्का लगा। लक्ष्मी-वाई के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ा और वह पागल-सी हो गईं। उनके भाई-वहनों को यह एक नई ही चिंता पैदा हो गई कि अव इस लड़की और इसके पुत्र की परवरिश किस तरह की जाय। रिश्तेदार उदार थे। इसलिए, लक्ष्मीवाई और उनके पुत्र के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करना उनके लिए असंभव न था। परंतु तिलक चैन नहीं लेने देते थे। वह कहते कि मेरी स्त्री और पुत्र को मेरे पास भेज दो। कभी-कभी उन्हें पाने के लिए वह अदालत का भी डर दिखाते। धर्म-भ्रष्ट हुए तिलक के पास उनकी स्त्री और पुत्र को भेजना उनके रिश्तेदारों को उचित नहीं प्रतीत होता था। इस कारण, सव लोगों के लिए दुःख का वातावरण निर्मित हो गया। लक्ष्मीवाई का धर्मांतर पसंद न था, पर धर्म-भ्रष्ट पति की पत्नी की हैसियत से उनकी सामाजिक स्थिति दयनीय थी। शुरू के कुछ दिन तो तिलक को हिंदू धर्म में वापस लाने की कोशिश में वीते। तत्पश्चात् उन्हें पक्का विश्वास हो गया कि तिलक का अव हिंदू धर्म में वापस आना असंभव है और भविष्य में मुझे अपने पुत्र के साथ ही ज़िंदगी काटनी होगी। 'नीरस सौभाग्य की अपेक्षा साफ़-साफ़ वैधव्य अच्छा'—ऐसा जो कहा जाता है, सो यही स्थिति है। यह उन्हें दिखाई देने लगा कि दिन-प्रतिदिन सामा-जिक दृष्टि से मेरी स्थिति क्या होगी। इस विषय को लेकर चर्चा होने लगी कि उन्हें सुहागिन मानें या विधवा! इष्ट मित्रों ने उन्हें यद्यपि वड़े प्रेम से रखा था, तो भी, अंत में उन्हें लगने लगा कि यह सव धर्म के कारण है। उन पर अपने पुत्र को शिक्षित करने की धुन सवार हो गई थी और इसलिए मायके को छोड़कर वह पंढरपुर, अपने देवर के घर, रहने चली गई थीं।

परंतु, वह कहीं भी जातीं, उनके पीछे तिलक भी तुरंत वहाँ जा धमकते थे और तिलक का आगमन घर वालों के लिए बड़ा कष्टदायक हो जाता। एक दिन लक्ष्मीबाई विट्ठल भगवान् के मन्दिर में बैठी रो रही थीं कि एक महिला ने उन्हें सलाह दी—"तू अपने रिश्तेदारों का लिहाज़ न कर, बदनामी से न डर। अपने लड़के को लेकर सीधी गणगापुर चली जा और जो सूझ पड़े, उस मार्ग से, और अगर मौक़ा ही आ जाय, तो कहीं रसोईदारिन बनकर भी, अपनी और अपने पुत्र की जीविका चला।" इस सुझाव के अनुसार लक्ष्मीबाई ने दूसरे ही दिन पंढरपुर छोड़कर चले जाने का निश्चय किया। परंतु, योगायोग देखिए कि रात ही को तिलक का तार आया कि मैं आ रहा हूँ। तिलक की यह तीव्र इच्छा थी कि उनकी पत्नी और पुत्र उन्हींके साथ रहें। वह बार-बार पत्नी को पत्र लिखकर उसे अपने पास बुलाते और यह मालूम होने पर कि वह नहीं आतीं, उसे कुछ अनाप-शनाप भी लिख मारते थे। वह पत्नी को धर्म-परिवर्तन करने के लिए कभी नहीं लिखते थे। परंतु, दूसरे लोगों को यह पक्का विश्वास था कि जहाँ पत्नी उनके पास गई, वहाँ उसका धर्मांतर भी पत्थर की लकीर है और इसीलिए लक्ष्मीबाई के तिलक के पास जाने का लोग विरोध करते थे। आज का यह दिन उनके जीवन में क्रांति करने वाला था। यदि तिलक का तार न पहुँचता और दूसरे दिन चुपचाप किसी को कुछ न बताकर वह गणगापुर चली जातीं, तो शायद उनके जीवन को कोई दूसरा ही मोड़ मिल जाता। परंतु, उसके पहले ही तिलक पंढरपुर आ गए और लक्ष्मी बाई के मन में विचारों का द्वंद्व फिर बढ़ गया। देवर कुछ भी सलाह देने को तैयार न था। अंत में स्वयं लक्ष्मीबाई ने ही यह निश्चय किया कि तिलक के साथ नगर चली जाऊँ और अपने लिए एक अलग मकान लेकर, अपने पुत्र दत्तू को पढ़ाऊँ। परंतु, तिलक के साथ लक्ष्मीबाई का क़दम जिस दिन घर से बाहर पड़ा, उसी दिन से जन-दृष्टि में उनका धर्मांतर भी हो गया और धर्म-भ्रष्ट लोगों के साथ जैसा रूखा, चिड़चिड़ा और प्रेम-विहीन बर्ताव किया जाता था, वैसा उनके साथ भी होने लगा। इसके

विपरीत रे० तिलक और उनके ईसाई-बंधु अहमदनगर में लक्ष्मीवाई के निवास को सुखमय बनाने का प्रयत्न करने लगे। इस सबका प्रभाव लक्ष्मी वाई के मन पर, अनजाने ही क्यों न हो, धर्मांतर के अनुकूल ही पड़ा होगा, इस विधर्मी घर में ऐसी स्थिति कुछ दिन चलती रही कि पति ईसाई और पत्नी और पुत्र हिंदू। तिलक अमूर्त्त परमेश्वर की प्रार्थना करते, तो लक्ष्मी-वाई देवी, गणेशजी आदि सब देवों—मूर्तियों की पूजा करतीं। वह अपनी छुआछूत की भावनाओं की चुपचाप रक्षा करतीं। परंतु तिलक की प्रत्येक विषय में बड़ी हठीली प्रवृत्ति थी। कई वार वह बेहूदा हठ ही पकड़ बैठते। अंत में, महावलेश्वर में एक दिन उनका हठ चरम सीमा पर पहुंच गया। लक्ष्मीवाई चाहती थीं कि वह सामने वाले कुए से अपने लिए स्वयं पानी भरकर लाया करें और अपने 'सोले' की (छुआछूत की) भावना की रक्षा करें। तिलक का यह हठ था कि मेरी पत्नी का सार्वजनिक कुए पर जाकर अपने लिए स्वयं पानी भरकर लाना मेरी शान के खिलाफ़ है। इसके बदले इसे मुसलमान के हाथ का पानी क्यों न पीना चाहिए? अंत में लाचार होकर लक्ष्मीवाई ने मुसलमान के हाथ के पानी से भरे हुए गिलास को ओठों से लगाया। किंतु, इससे उन्हें एकदम वमन हो गया और वह बीमार पड़ गईं। तिलक को बाद में बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने वचन दिया कि भविष्य में वह छुआछूत के मामले में उनसे कोई हठ न करेंगे। परंतु, लक्ष्मी-वाई पर इस घटना से उलटी प्रतिक्रिया हुई। शायद उन्होंने यह सोचा होगा कि जब हर हालत में जीवन इन्हींके साथ काटना है, तब उन्हींकी इच्छानुसार काटना अच्छा। उनकी जाति-भेद-संबंधी सारी कल्पनाएँ ढह-कर गिर पड़ीं और उन्होंने अपने मन का निश्चय प्रकट किया कि "आज से मैं जाति-भेद और छुआछूत नहीं मानूँगी।" उन्हें स्वयं ऐसा लगा कि मुझे साक्षात्कार हुआ, परंतु, यह कहना कठिन प्रतीत होता है कि इस साक्षात्कार के पीछे जाति-भेद-सम्बन्धी निर्णय और पति की इच्छानुसार रहकर उनसे समझौता करना—इन दो बातों में से कौन-सी बात अधिक प्रभावशाली हुई होगी। तिलक ने खान-पान के बारे में उन्हें नहीं सताया था

और कुछ दिनों के वाद यह द्विधर्मी परिवार, लक्ष्मीबाई के धर्मांतर कर लेने के कारण, एकधर्मी वन गया ईसाई होने के बाद के अपने अनुभव बताते समय जिस वड़े अभिमान से वह यह कहती हैं कि "पैंतीस वर्ष हो गए, मेरे घरमें कभी मांस नहीं पका", उस समय मन में आता है कि हिंदू धर्म छोड़ देने पर भी हिंदू धर्म का मांसाहार-निषेध उनके मन में जीवित था और उसे टिकाए रखने के लिए उन्हें तिलक पर गर्व था। उन्होंने जाति-भेद की कल्पनाएँ छोड़ दीं और अनाथ और अपाहिजों को अपने नज़दीक रखा। यह इसलिए कि ईसाई धर्म की शिक्षा उन्हें जँच गई थी, वरना कोई भी हिंदू स्त्री रास्ते में मिलने वाली किसी अनाथ लड़की को, उसकी जाति कि पूछ-ताछ किये विना अपने पास कभी न रख सकती। परंतु, हिंदू धर्म की यह शिक्षा कि 'अंत में पति के सिवा सती का अन्य कोई देव नहीं' ईसाई धर्म स्वीकार करते समय उनके मन में अमिट थी। ऐसा लगता है कि हिंदू धर्म के अनुयायी लोग धर्मांतरित लोगों के प्रति यदि अधिक सहानुभूति दिखाते, तिलक का खिचाव पत्नी की ओर कम होता और धर्मांतर करने के उपरांत भी यदि पत्नी से वह इतना अधिक प्रेम न करते रहते, तो लक्ष्मीवाई का धर्मांतर न होता। इस धर्मांतर के वाद लक्ष्मीवाई में दो तत्त्वों का समन्वय हो गया, पहला ईसा की परोपकार की आत्मसात् की हुई कल्पना और दूसरा यह विश्वास कि पति के साथ रहने ही में हित है और हिन्दू-धर्म की युग-युग से चली आ रही यह कल्पना कि मांसाहार-त्याग एक श्रेष्ठ सिद्धांत है। फलतः ये सभी प्रसंग वड़े हृदयद्रावक प्रतीत होते हैं। परंतु, इन्हींमें लक्ष्मी-वाई के मन की दृढ़ता दिखाई देती है। उनके सव आत्मीयगण स्नेह के कारण ही उन्हें तिलक के पास न जाने देते थे। उनकी वहन तो कहती— "मनू, हमने तुझे पकड़कर रखा तो है। पर, यह पिंजरा कैदखाना नहीं है। हमें प्रेम ही से तुझे बंद करना पड़ता है। नहीं तो, तू किसी भी दिन फुर्र-से उड़ जायगी।" परंतु, जव उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि पति और आत्मीयों में से किसे स्वीकार किया जाय, तव उनकी स्पष्ट विचार-धारा का पता चलता है। श्री पैंडशे के उनसे यह कहने पर

कि "तुम तिलक के पास न जाओ! मैं तुम्हारे निर्वाह की सारी व्यवस्था किये देता हूँ" उन्होंने उत्तर दिया—"आप यदि अपनी पूरी संपत्ति भी मुझे दें, तो भी वह मुझे नहीं चाहिए। यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि मनुष्य से प्राप्त हुआ पर्याप्त नहीं होता और ईश्वर का दिया हुआ समाप्त नहीं होता।" यह थी उनकी जीवन-निष्ठा और इसे देखकर, वह स्त्री हों या पुरुष, वंदनीय व्यक्तियों में उनका स्थान अटल प्रतीत होता है।

यहाँ तक उनके जीवन के प्रसंगों के बारे में कहा गया। परंतु, यह देखना भी उतने ही आनंद का विषय है कि इन सब प्रसंगों का वर्णन उन्होंने किस तरह किया है। यदि यह कहें कि साहित्य के जीवन-चरित-विभाग में अव्वल दर्जे का स्थान प्राप्त करने वाली यह लेखिका निरक्षर थी, तो अधिक अतिशयोक्ति न होगी। बचपन में उनके लिए कोई पाठ-शाला तो थी ही नहीं। तिलक ने उन्हें थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना सिखा दिया था। वह भी पूरी तरह नहीं। मूलाक्षर और संयुक्ताक्षर उन्हें बहुत बार रोक देते। इसका सुन्दर वर्णन वह एक स्थान पर करती हैं कि उपन्यास लिखते समय 'मनुष्य' शब्द के 'ष्य' संयुक्त-अक्षर ने उन्हें किस तरह रोक दिया और उन्होंने उसे अन्य पुस्तकों में से किस तरह खोजकर निकाला। परन्तु साहित्याभिरुचि उनमें जन्म ही से रही होगी, तिलक-जैसे कवि पति की संगति और उस विक्षिप्त कवि के साथ ज़िंदगी बिताते हुए और उसके मानसिक आन्दोलन के साथ ताल देते समय हृदय में होने वाली ऐंठन में से उनकी कवित्व-शक्ति जाग्रत हुई और स्वयं अपने दुःख का आत्म-निवेदन करते समय आप-ही-आप लिखी जाने वाली कविता की पंक्तियाँ वह कोयले, खड़िया या दावात और दियासलाई की सींकों की सहायता से दीवारों और धरती पर लिखने लगीं। इसका पता नहीं चलता कि रोज स्थान बदलने वाली उनकी गृहस्थी में उनका पठन-पाठन कितना हुआ! घर में काम बहुत रहता और दरिद्रता की चिन्ता ही में उनका सारा समय बीत जाता, परंतु आगे चलकर धर्मांतर हो जाने के बाद कुछ मानसिक स्थिरता आई और आस-पास का ईसाई वातावरण हितकर सिद्ध हुआ होगा। पठन-

पाठन फिर आगे बढ़ा होगा। उनके लेखक का मज़ाक उन्हींके लड़कों और कवि ठोंबरे ने किस तरह उड़ाया, यह वही बताती हैं। इसका ज्ञान होना उनकी गृहस्थी के विस्तार में कठिन ही था कि इस लेखन का भी कोई शास्त्र हो सकता है। वह स्वयं अपने बारे में, विनोद से, एक स्थान पर कहती हैं :

'षट् शास्त्रांची नांवें[1] मजला माहित नाहींत पुरीं।
तरी मी जगांत शास्त्रीण खरी।'

भले ही ये बातें उन्हें मालूम न हों, फिर भी कहानी कहने की कला उन्हें जन्म ही से आती थी। लम्बे-चौड़े वाक्यों के बदले चुने हुए शब्दों के छोटे-छोटे और चुभते हुए वाक्य लिखने में वह सिद्धहस्त हैं। "चिन्ता थी सिर्फ़ खाने की और सिक्कों की।" "जिंदगी-भर मेरा जोड़ और तिलक का घटाव चलता रहता।" कोई लम्बी-चौड़ी सुसंगत कथा कहने की अपेक्षा हर प्रकरण में किसी घटना को वह बड़े मनोरंजक ढंग से कह देती हैं। कहते समय पूर्व-स्मृति के कारण होने वाले दुःख की अपेक्षा एक प्रकार की तुष्टि ही दिखाई देती है। इस तरह से बीती बातों के दुःख की ओर वह अलिप्तता से देख सकती हैं कि "जो हो गया सो हो गया, अब उसका क्या ?" ससुर की विक्षिप्तता बताते समय यदि वह एकाध शब्द क्रोध से लिख देतीं तो वह क्षम्य होता। परतु, उन प्रसंगों का वर्णन भी वह हँसते-खेलते करती हैं। ससुरजी को लगा कि लक्ष्मीबाई ने पूजा के बरतन नहीं माँजे और वह उन पर नाराज़ हो गए। इस प्रसंग पर लक्ष्मीबाई लिखती हैं : "बात यह हो गई थी कि वर्तनों में दाग़ पड़ गए थे। बरतन थे ताँबे के, पानी था कुए का, राख थी लकड़ी की और दिन थे बरसात के। इसलिए, मैं उन्हें कितना भी साफ़ माँजती, फिर भी, उन पर बादल छा ही जाते।" ऐसे छोटे-छोटे अलंकार-युक्त वाक्य उनके लेखन में सहज ही आ जाते हैं। परंतु

---

१. मैं छह शास्त्रों के नाम भी पूरी तरह नहीं जानती, फिर भी, दुनिया की दृष्टि में शास्त्रों की जानकार और विदुषी हूँ।

यह इसलिए नहीं कि वह अलंकारों को जानती थीं। उसका वह सुन्दर वर्णन करती हैं कि साहब के गाँव में आने के समाचार से घबराई हुई उनके मायके की स्त्रियाँ रास्ते में किस तरह भय-ग्रस्त होकर दौड़ने लगीं। परंतु, उन्होंने इसलिए ऐसा नहीं लिखा कि रघुवंश में वैसा वर्णन पढ़ा था। उनकी रचना-शैली से सुबोध, सहज ही स्फुरित हुए थोड़े अलंकारों और वर्णनों से मनोहर, विसंगति को छूने के उनके जन्म-जात स्वभाव के कारण विनोदपूर्ण और आस-पास के लोगों की सहानुभूति के कारण हृदयस्पर्शी लगती है और यही उसकी विशेषता है कि यह सब स्वयंभू है।

—कमलाबाई देशपाण्ड

मायके में

इन स्मृतियों में कुछ केवल सुनी हुई बातें हैं।

मेरी माँ और बुआजी त्र्यंबकेश्वर[1] के मंदिर में खड़ी हुई बातें कर रही थीं। बुआजी के कोई संतान न थी। उन्हें बच्चे बड़े पसंद थे। वैसे मेरे सभी भाई-बहन उन्हींके घर छोटे से बड़े हुए। परंतु वह एक ऐसा बच्चा चाहती थीं, जिसे वह बिलकुल अपना कह सकें। इस बातचीत के सिलसिले में मेरी माँ ने उन्हें वचन दिया कि अब की बार जो बच्चा होगा, चाहे लड़का हो या लड़की, वह तुम्हारा होगा। उन दोनों ने अपने वचन पूरी तरह से क़रीब-क़रीब निभाये और क़रीब-करीब जन्म ही से मैं बुआजी ही के घर पली।

नाना साहब यानी मेरे पिताजी को 'सोले'[2] की बीमारी-सी थी। उनके इस सोले के कारण घर के सभी लोगों को बड़ी तकलीफ़ होती। इसलिए, बुआजी के घर हम सब बच्चे पूरी आज़ादी महसूस करते।

इस संबंध में नीचे लिखी एक बात कही जाती है कि नाना साहब

---

१. नासिक के पास एक तीर्थस्थान, जिसे महाराष्ट्र के धार्मिक जीवन में बड़ा महत्त्व प्राप्त है।

२. सोला यानी शारीरिक पवित्रता। नाना साहब की पवित्रता और शारीरिक शुद्धता की कल्पनाएँ हद से ज़्यादा बढ़ी-चढ़ी थीं।
सारी दुनिया तथा उसकी सारी चीज़ें उन्हें अपवित्रता से सनी प्रतीत होती थीं। अपनी शारीरिक पवित्रता बनाए रखने के लिए वह बहुत अधिक सजग रहते थे।

'सौले' के पीछे कितने पागल थे :

सन् सत्तावन की क्रांति में मेरे नाना[1] को गिरफ्तार करके तुरंत फाँसी दे दी गई। यह नाना यानी मेरी माँ के पिता। उनका और मेरे पिता नानासाहव का पिता-पुत्र-जैसा प्रेम था। यह समाचार सुनते ही कि ससुरजी को फाँसी हो गई है, नाना साहव उठे और दूर-पंचवटी के भी उस पार—तपोवन में स्नान के लिए चल दिए। इधर घर में बुआजी ने अपने भाई के स्नान की सारी तैयारी कर रखी थी। परंतु, नाना साहव सुवह से जो वाहर गए, सो शाम को दिया-वत्ती के वक्त, भीगे वदन, घर लौटकर आए।

उनसे किसी ने पूछा—"आप थे कहाँ और इस तरह भींगे वदन क्यों चले आए ?" तव उन्होंने उत्तर दिया—"मैं तपोवन गया था। वहाँ एक ढेड़ के पानी का एक छींटा मेरे वदन पर पड़ गया। उससे मैं अशुद्ध हो गया हूँ। अव दूर से मेरे वदन पर पानी डालो। मैं स्नान करूँगा।"

सोले की उनकी यह सनक अन्त तक यानी पच्चीस-छव्वीस वर्ष तक क़ायम रही।

इस सोला-कांड के वारह-तेरह वर्ष वाद मैं पैदा हुई। नाना साहव के इस सोले से सिर्फ़ घर वाले ही नहीं, वल्कि सारा गाँव तंग आ गया था। उन्हें व्राह्मण की भी छूत लग जाती! फिर दूसरों की तो वात ही क्या ? घर की स्त्रियाँ जव किसी वुलावे से घर लौटतीं, तव उन्हें स्नान करके घर में प्रवेश करना पड़ता। रसोईघर पर भी नानासाहव की वड़ी कड़ी नज़र रहती। रसोई गीले वस्त्रों से वनानी पड़ती थी और वह भी केवल दाहिने हाथ से! दूसरा हाथ इस तरह एक ओर रखा जाता, जैसे टूट गया हो! और यह काम पड़ता मेरी माँ ही पर: यदि कोई पड़ोसी हमारे घर आता (और पड़ोस हमेशा व्राह्मणों ही का होता) और घर से लौटता, तो माँ को उसके पीछे-पीछे जल छिड़कते हुए जाना पड़ता।

---

१. वासुदेव भगवंत जोगलेकर।

परन्तु जहाँ नाना साहब सुबह एक बार बाहर चल देते, वहाँ फिर हम सब लोग ज़रूर बड़े मज़े में रहते। उनके चले जाने पर पड़ोस की स्त्रियाँ हमारे घर आतीं। हम लोग भी खेलने के लिए बच्चों को इकट्ठा करतीं। माँ तो मनुष्यों की संगति के लिए सदा ही बड़ी लालायित रहती थी। वह दूसरों के बच्चों को नहलाती, जो लड़कियाँ ससुराल से मायके आई होतीं, उन्हें समझाती-बुझाती, किसी को दवा देती और किसी से मीठी-मीठी बातें करती। एक बार तो एक मराठा[1] के घर जाकर उसने वहाँ 'पूरण'[2] की रोटियाँ भी बना दी थीं!

परंतु, यह सब बिलकुल चोरी से! नाना साहब का कारोबार बिलकुल अलग था। बाहर से आने वाली सब चीज़ों को वह धुलवा लिया करते। चाहे नमक हो, या मिर्च, उसे धोना ही पड़ता था। एक बार उन्होंने लड़कों से नमक धोने के लिए कहा। लड़के नाना को सबक सिखाना ही चाहते थे। उन्होंने नमक को कपड़े में बाँधकर खूब भिगो दिया और फिर वह झोली एक खूँटी पर टाँग दी। थोड़ी देर में सारा नमक घुलकर चू गया। नाना साहब ने जाकर झोली में देखा, तो भीतर कुछ नहीं बचा था! तब से नमक, गुड़, चीनी, तेल और घी—ये चीज़ें बिना धोए ही घर में खपने लगीं।

इन चीज़ों को धोने का काम अकसर माँ और नानी को करना पड़ता। जिन-जिन चीज़ों को धोने के लिए नाना कहते, वे सब उन्हें धोनी पड़तीं अथवा उन्हें धोने का दिखावा करना पड़ता। नमक और चीनी को धोने का काम जब तक माँ अथवा नानी की तरफ़ था, तब तक वे चीज़ें वास्तव

---

१. मराठा ब्राह्मण नहीं होते।

२. चने की दाल पकाकर उसे सिल पर रगड़कर पीस लेते हैं। फिर उसमें गुड़ या शक्कर मिलाते हैं। इस गुड़-मिले लौंदे को आटे में भरकर मोटी रोटी बनाई जाती है, जो मीठी और स्वादिष्ट होती है। महाराष्ट्रीय भोजन में यह महत्त्वपूर्ण पकवान है।

में कभी न धुली थीं ! वे अनेक वार इस धोने में चालाकी करतीं और हमें भी झूठ वोलना सिखातीं। उसका कारण भी वैसा ही था। नाना का यह कड़ा नियम था कि खेतों से जव अनाज घर में आवे, तव अंदर रखने के पहले उसे धो डालना चाहिए। वैसे वीस-वीस मन अनाज माँ अथवा नानी धोतीं भी कैसे ? तव वे यह करतीं कि थोड़ा-सा अनाज धोकर उसकी परत समूचे अनाज के ढेर पर फैला देतीं। जव नाना घर आते, तव वह सव वच्चों की गवाहियाँ लेते। वच्चे तो पहले ही से सिखाए-पढ़ाए हुए रहते। इसलिए, वे प्रायः एक-सी ही वात कह देते। परंतु, यदि कोई घवराकर भूल कर देता—यानी सच वात कह देता, तो सारे घर में एक हंगामा शुरू हो जाता ! स्त्रियों को उन सारी अशुद्ध और अपवित्र चीज़ों को नाना के सामने धोना पड़ता, वच्चे झूठ वोलने के कारण खूव पीटे जाते और वच्चों को पीटने के वाद उन्हें छू लेने से अपवित्र हो जाने के कारण नाना पुनः स्नान करते !

एक वार घर में अमरूद से भरी हुई तीन टोकरियाँ रखी थीं। सच पूछा जाय, तो वे हमारे गाँव से, यानी जलालपुर से, आई थीं और विक्री के लिए नासिक के वाज़ार में भेजी जाने वाली थीं। परंतु वे फल अशुद्ध थे, क्योंकि उन्हें धोया नहीं गया था। नाना सुवह वाहर जाते और शाम को लौटने पर अंधेरा होने तक हाथ-पैर धोते और नहाते रहते। शाम तक हमें आज़ादी रहती। उस दिन शाम तक हमारा सारा वक्त इसी सोच-विचार में गुज़रा कि उन टोकरियों के अमरूद उठाकर खावें या नहीं। अंत में यह तय हुआ कि हममें से एक-एक द्वार के पास वारी-वारी से खड़ा रहे और वाकी लोग अमरूद खावें। होते-होते मैं ही अकेली वच रही। परंतु, मेरे वक्त द्वार के पास खड़ा होने के लिए कोई तैयार न हुआ। तव स्वयं मैं ही द्वार तक गई और यह देखकर कि वाहर कोई नहीं है, अमरूद उठाकर खाने लगी। इसी समय नाना मेरे सामने एकाएक आ धमके। उन्हें देखते ही मैं जान लेकर भागी और कोने में रखे हुए मूसल के पीछे जाकर छिप गई। नाना पिछवाड़े गए। वहाँ सीताफल के पेड़ लगे

थे। एक पेड़ से उन्होंने एक टहनी तोड़ी। उन्होंने मुझे मूसल के पीछे से घसीटकर वाहर निकाला और उस टहनी से मेरी खूब मरम्मत की। मुझे पिटते देखकर वेचारी नानी को अत्यन्त दुःख हुआ। घर के दूसरे लोगों के छक्के छूट गए। उन्हें डर लगा कि यह लड़की यदि अब सबके नाम बता देगी, तो सब पर मार तो पड़ेगी ही, ऊपर से पूरा घर धोना पड़ेगा, सो अलग !

एक दिन मैं गेहूँ के ढेर के पास सो रही थी। समीप ही मेरी एक गुड़िया पड़ी थी। उस गुड़िया को मैंने साड़ी पहनाई थी। खेलते-खेलते मुझे नींद आ गई। गुड़िया की साड़ी मुझे और गेहूँ के ढेर को छू रही थी। नाना आए। उन्होंने देखा। यह देखते ही कि गुड़िया की साड़ी के स्पर्श से गेहूँ अशुद्ध हो गए हैं, उनके सारे बदन में जैसे आग-सी लग गई। उन्होंने मुझे झटका देकर खींचा और बेतहाशा पीटना शुरू किया। मेरी मँझली वहन और भाई को भी किसी की छूत लग गई थी। पीट चुकने पर नाना ने मुझे उन दोनों के साथ स्नान करने के लिए गंगा[1] भेज दिया।

गंगा जाते समय हम तीनों ने यह तय किया कि आज हममें से किसी एक को डूबकर मर जाना चाहिए। जब इस तरह हममें से कोई एक चल वसेगा, तब कहीं नाना की आँखें खुलेंगी और वह फिर किसी को तंग न किया करेंगे। हम तीनों गंगा में डूबने लगे। हम सवका इरादा एक ही था कि नाना के दिल में अच्छी दहशत बैठ जाय। मुझ पर तो मार ही पड़ी थी। इसलिए, नाना को सवक सिखाने की इस योजना को पूरी करने का मेरा निश्चय पक्का ही हो चुका था। मैंने पानी में डुबकी लगाई और डुबकी लगाते ही मेरे नाक और मुँह में पानी भरने लगा। मैं थक गई। उस समय नदी के किनारे हमारे एक पड़ोसी महाशय बैठे हुए संध्या कर रहे थे। उनका ध्यान एकदम मेरी ओर आकृष्ट हुआ, वह तुरंत नदी में कूद पड़े और उन्होंने मुझे वाहर निकाल लिया। नाना तो सवक नहीं

---

१. नासिक के क्षेत्र में गोदावरी को गंगा कहते हैं।

सीखे, पर मैंने ज़रूर पूरी तरह से सवक़ सीख लिया !

मेरी वुआ के पति का नाम था गोविंदराव खांवेटे। उन्हें सव लोग मामा कहते। हमारे मामा मनुष्यों की संगति के लिए हमेशा वड़े भूखे रहते थे। गाँव था विलकुल छोटा-सा और उनके घर के दरवाज़े हमेशा सवके लिए खुले रहते थे। इस कारण, उनके घर लोगों का आना-जाना सदा जारी रहता। नाना के सोले के पीछे पागल हो जाने के कारण उनके घर का सव कारोवार मामा ही को देखना पड़ता। उनकी खेती-वारी, लेन-देन, व्रतवंध और विवाह इत्यादि सवका भार उन्होंने अपने सिर पर ले लिया था। हम भाई-वहनों को तो अपना निजी घर भी उतना पसंद नहीं था, जितना मामा का।

हम कुल मिलाकर पाँच भाई-वहन थे। वैसे हुए वहुत, पर, वचे पाँच ही। वड़ी वहन भिकूताई, उसके वाद केशव, भागीरथी, विष्णु और आखिरी मैं। भिकूताई मुझसे पन्द्रह-सोलह वर्ष वड़ी थी। वह नासिक में पेंडसे के घर व्याही गई थी। नाना साहव पेंडसे को हम लोगों का वड़ा खयाल रहता था।

इसी समय नासिक में तिलक[1] कवि के रूप में प्रसिद्ध होने लगे थे। पेंडसे का तिलक की ओर भी ध्यान था। उन्होंने गोविंदराव मामा को मेरे लिए इस वर के वारे में लिखा। गोविंदराव मामा ने तिलक के पिता वामनराव तिलक से पत्र-व्यवहार शुरू किया और लड़की देखने के लिए उन्हें वुलाया। वामनराव का पत्र आया—"मैं दहेज लेकर अपने लड़के को वेचूंगा नहीं। जो आप कर सकें, वह आप करें; और जो मैं कर सकूँगा, वह मैं करूँगा। हाँ, जन्मपत्री ज़रूर ठीक से मिल जानी चाहिए। इसके विना मैं अनुमति नहीं दूंगा। मेरे घर में कोई स्त्री नहीं है, इसलिए, लड़की के वड़ी होने तक तुम्हींको उसे सँभालना पड़ेगा। मुझे लड़की देखने की ज़रूरत नहीं। वहाँ के सव लोगों को यदि वह पसंद है, तो मुझे भी पसन्द है।"

---

१. स्व० रेवरेंड नारायण वामन तिलक—मराठी के कवि

यह पत्र पढ़कर सबको आनंद हुआ। बड़ी होने तक मुझे सँभालने के लिए मामा बड़ी खुशी से तैयार थे। अब मुझे नासिक ले जाकर दिखा आना-भर रह गया था।

मुझे जिस दिन दिखाया गया था, उससे कुछ दिन पहले की एक बात बता दूँ। मामा उन दिनों नासिक में थे। मैं भी उन्हींके घर थी। मामा के पड़ोस में एक नए किरायेदार रहने आए थे।

उनके यहाँ सखू नाम की एक लड़की ससुराल से मायके में रहने आई थी। उसकी उम्र यही कोई बारह-तेरह वर्ष की थी और घर में वही एक-मात्र स्त्री थी। पुरुषों में उसके दो बड़े भाई थे। एक अँग्रेज़ी की पाँचवीं कक्षा में पढ़ता था और दूसरा छठी में।

सखू जितना खेल पाती, उतना खेलती। मैं भी हमेशा उसके घर खेलने के लिए जाती। हमारे खेल के कारण सखू को चूल्हा सँभालने में देर हो जाती। उसके भाई इस पर नाराज़ होते, उससे तंग आ जाते और भूखे ही जाकर सो जाते। तब बड़े भाई ने स्वयं ही उसके साथ खेलना शुरू किया। सखू पड़ोस की लड़कियों के साथ खेलती रहती है और फिर सभीको भूखा रहना पड़ता है, इससे तो अच्छा यह हो कि उसके साथ स्वयं मैं ही खेलने लगूँ और अगर पड़ोस की छोकरियाँ आयें, तो उन्हें निकाल बाहर करूँ। ऐसा उसने निश्चय किया। लड़कियों के 'सोंगट्या,'[1] 'सागर-गोटे'[2] आदि सभी खेल वह खेलता।

उस घर में दो ज़ीने थे। एक दिन मैं नित्य की भाँति सखू के घर खेलने गई। मुझे देखते ही सखू के भाई ने एक लकड़ी से मुझे ज़ीना चढ़ने से रोक दिया। वह बोला—

"खबरदार, हमारे घर आई, तो तेरी टाँग ही तोड़ दूँगा!"

उधर ऊपर से सखू मुझे पुकार रही थी। तब मैं दूसरे ज़ीने से चढ़कर

---

१. गोटियाँ, चौसर या शतरंज का खेल।

२. करंजवा के बीजों को हाथ में उछालने का खेल, जिसे लड़कियाँ खेलती हैं।

ऊपर जाने लगी। परन्तु, मेरी यह कोशिश भी बेकार हुई। उधर से भी फिर ये शब्द सुनाई दिये—"देख, टूटी टाँग लेकर ही तुझे घर जाना पड़ेगा। समझी ?"

तबसे मैंने निश्चय किया कि सखू के घर कभी न जाऊँगी और उसके भाई का मुँह न देखूँगी। आगे चलकर सखू उमा-महेश्वर के मन्दिर में यानी हमारे नासिक के घर के बिलकुल नज़दीक आकर रहने लगी। फिर भी मैंने उसके घर में कभी क़दम न रखा। अस्तु।

मुझे जलालपुर से नासिक ले जाकर दिखाना था। बुआजी इस वक्त नासिक में न थीं। पर, वहाँ मेरी बड़ी बहन भिकूताई थी। पेंडसे नासिक के रहने वाले थे और वहाँ उनकी कोठी थी। मुझे भिकूताई के घर पहुँचा दिया गया। मुझे जब देखने आए, तब भिकूताई ने मेरा अच्छी तरह सिंगार किया और वह मुझे ऊपर अटारी पर ले गई। वहाँ, अलबत्ता, मेरी यह हालत हो गई कि काटो तो खून नहीं! सखू के घर में क़दम न रखने का मेरा जो निश्चय था, उसे ढहा देने का मुझ पर मौक़ा आ गया! मेरी टाँग तोड़ने पर आमादा हुए महाशय ही मुझे देखने के लिए आए थे और उन्होंने मुझे पसन्द भी कर लिया! अपनी अजिया-सास की कसौटी पर भी मैं पूरी तरह से खरी उतरी। उन्होंने मेरे बाएँ कान को ज़ोर से उमेठकर देखा और कहा, "लड़की मुझे पसंद है।" कान ज़ोर से ऐंठे जाने पर भी मैंने न हूँ किया और न चूँ। इससे उन्होंने शायद यह अनुमान लगाया हो कि लड़की का कान पकड़कर हम उसे जिस तरफ़ झुकायँगे, उसी तरफ़ वह झुक जायगी।

लेकिन, मुझे आश्चर्य होता है इस बात पर कि तिलक ने कैसे मुझे पसन्द कर लिया। मेरा रूप और रंग साधारण ही था। अलबत्ता, नाक और आँखें यद्यपि सुडौल न थीं, फिर भी, वे थीं और बिलकुल ठीक स्थान पर थीं।

गोविंदराव मामा और बुआजी की परेशानी और दौड़-धूप का क्या पूछना! बामनराव ने कहा था कि वे बारह गाड़ी भरकर बराती लायँगे

और अपने वचनानुसार वे बारह गाड़ी भरकर बराती लाए भी। मेहमानों से घर बिलकुल भर गया था। दरवाजे के सामने एक बड़ा मंडप बनाया गया था। विवाह के चार दिन रह गए थे। वामनराव ने बहू को देखा।

अब एक दूसरी ही कठिनाई उपस्थित हो गई। गोखले और तिलक दोनों के गौत्र थे काश्यप और शांडिल्य ! ये गोत्र जुड़ते नहीं हैं ! फिर विवाह कैसे हो ? परन्तु, शास्त्र का आधार निकल आया। तय हुआ कि मुझे गोविंदराव को गोद दे दिया जाय। वैसे देखा जाय, तो मेरे जन्म से पहले ही मुझे खांबेटे-परिवार को दे दिया गया था और जन्म से लेकर विवाह के दिन तक मेरा सारा लालन-पालन गोविंदराव ही ने किया था। आखिर यह तय हुआ कि भले ही चार दिन के लिए ही क्यों न हो, मैं गोखले से खांबेटे बनूँगी।

परन्तु, दत्तक-विधान के समय दत्तक देने के लिए नाना का कहीं पता न था ! वह अपने नित्य-नियमानुसार मिट्टी लाने चल दिए थे जंगल की ओर। शाम तक उनके घर लौटने की कोई संभावना भी न थी। जिन नाना ने मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई और 'नाना ! नाना' पुकारती हुई अपनी माँ को यह संदेशा भेजा था कि, 'ठहर, मेरे स्नान-संध्या समाप्त होने तक तू प्राण न छोड़ !' वह नाना अपनी बेटी के दत्तक-विधान की भला क्या परवाह करते !

गोविंदराव मामा अब बहुत क्रुद्ध हुए। उन्हें कभी क्रोध न आता था। परन्तु, अब उन्हें सचमुच बहुत बुरा लगा। वे बोले—

'जिसकी बेटी है, वही करे कन्या-दान ! वही जब इस तरह की लापर-वाही दिखाते हैं, तब हमारी क्या अटकी पड़ी है ? लड़की उनकी है। उनके जी में जो आवे, सो करें।' बुआजी का पारा भी बहुत चढ़ गया था। उनका मुँह लगातार चल ही रहा था।

मेरी माँ की हालत अलबत्ता ऐसी हो गई थी कि काटो तो खून नहीं। उसे भय होने लगा कि कहीं थोड़ी-सी बात के पीछे ही यह विवाह भंग न हो जाय। मेहमानों के आनंद और उत्साह पर भी पानी फिर गया। जहाँ-

तहाँ गड़बड़ मच गई ।

इसी समय मामा के चाचाजी माँ की मदद के लिए आगे बढ़े । उन्होंने शास्त्र का आधार ढूँढ़ निकाला कि माँ को भी बेटी को गोद देने का अधिकार है । यह शास्त्राधार उफनते हुए दूध पर छिड़की जाने वाली ठंडे पानी की बूँदें सिद्ध हुआ । सब शान्त हो गया । माँ ने भीगी हुई पलकों से मुझे मामा को गोद दे दिया ।

दो-तीन दिन के बाद विवाह सम्पन्न हुआ । मामा ने कन्या-दान किया ।

विवाह के समय मेरे पति की उम्र १७-१८ वर्ष की थी और मैं थी ग्यारह साल की ।

विवाह-तिथि के दूसरे दिन ग्यारस थी ! समधियाने के सभी लोगों को एकदम उपवास करने की सनक सवार हुई । वे थे बारह गाड़ियों-भर ! इसके अलावा, बारह घर के बारह लोग ! उनमें किसे क्या सनक आ जाय, इसका क्या ठिकाना ! आखिर फलाहार के बहुत-से प्रकार बनाए जाने पर भी उन्हें एक ओर रख देना पड़ा और हर बाराती की रुचि के अनुसार एकादशी का फलाहार देना पड़ा !

स्वभावत: तिलक कभी रूठते न थे । उनसे रूठते बनता ही न था । वह नाराज़ चाहे जितने हो जायँ, परन्तु, रूठना-ऊठना उन्हें बिलकुल न आता था। इसके बावजूद, उनके कुछ मित्रों ने उनसे कह दिया था कि ससुराल वाले जब तुम्हें भोजन के लिए बुलायँ, तब तुम अपने स्थान से न उठना । कहना कि मुझे दो तोले की अँगूठी चाहिए और रूठकर बैठे रहना । तिलक को इस तरह सिखा-पढ़ाकर उनके मित्र अपने जनवासे की ओर चल दिए ।

दोपहर को एक बजे केशवराव मामा—मेरे बड़े भाई— तिलक को भोजन के लिए बुलाने गए । तिलक ने कहा—'मैं रूठ गया हूँ । जब मेरे मित्र और रिश्तेदार भोजन के लिए आयँगे, तभी मैं भी आऊँगा ।' हमारे यहाँ के मेहमानों के पेटों में चूहे डंड पेल रहे थे । उन्होंने चुपचाप नाश्ता कर लिया और फिर बैठ गए दामाद की राह देखने । इधर दामाद को भी भूख लग

रही थी। उन्होंने धीरे से केशवराव को एक तरफ़ बुलाकर कहा—'मुझे तो भूख लगी है, भई!' यह सुनकर केशवराव को बड़ी खुशी हुई। इसे उन्होंने जैसे अपनी इच्छानुसार ही काम करने की अनुमति माना। जल्दी से थालियाँ लगवाईं और फिर समधियाने में संदेशा भेजा कि थालियाँ परोस दी गई हैं। रसोई ठंडी हो रही है। तिलक खाने को बैठ गए हैं।' बस, काम बन गया! जल्दी-जल्दी से सारे बाराती पटों पर आकर बैठ गए। इसके बाद किसी के मुँह से अँगूठी का नाम तक न निकला। सुपारी[1] खेलना, कुल्ला[2] थूकना, कौर[3] देना आदि सब बातें तिलक की इच्छा के विरुद्ध थीं, पर, वे सब पूरी हुईं। हमारे ब्याह में कोई लड़ाई-झगड़े आदि न हुए।

मेरे मामा ने मेरे विवाह में अधिक नहीं तो कम-से-कम एक हज़ार रुपया अवश्य खर्च करने का निश्चय किया। मेरे पिताजी थे नारायणराव गोखले! वह क्या करेंगे सो दिखाई ही दे रहा था! माँ चाहती तो बहुत

---

१. २. ३. महाराष्ट्र में बाल-विवाह-प्रथा की द्योतक ये विभिन्न बाल-क्रीड़ाएँ हैं, जो बड़े-बूढ़ों द्वारा वर-वधू से विवाह के समय कराई जाती हैं। बाल-विवाह-प्रथा के साथ ही इन सब क्रीड़ाओं का भी लोप होता जा रहा है। इन सब क्रीड़ाओं में प्राथमिक शृंगार की बड़ी ही कोमल अभिव्यक्ति हुआ करती है, जो वासनाहीन तथा अबोध बालक-बालिकाओं ही को शोभा देती है। अब विवाह की उम्र बढ़ जाने पर इनकी सुन्दरता प्रतीत होना संभव ही नहीं रहा।

सुपारी खेलना—वर-वधू अपनी-अपनी मुट्ठी में सुपारी दाबते हैं। वर बाएँ तथा वधू दाहिने अथवा दोनों हाथों से एक-दूसरे की सुपारी छीनने की कोशिश करते हैं। दर्शकों का ख़ासा मनोरंजन होता है।

कुल्ला थूकना—वर-वधू को एकत्र नहलाया जाता है। उस समय वे एक-दूसरे पर मुंह से पानी डालते हैं। यह जल-क्रीड़ा भी बड़ी आकर्षक होती है।

कौर देना—भोज में सबके सामने वर-वधू को एक ही थाली में खाने के लिए बैठाया जाता है। इस समय वे किसी काव्य-पंक्ति के द्वारा अथवा अन्य कलात्मक ढंग से एक-दूसरे का नाम लेकर किसी पकवान का कौर एक-दूसरे के मुँह में देते हैं।

थी कि वह कुछ करे, पर, वह बेचारी क्या कर सकती थी ? वह दूसरों के लिए जन्म-भर मरी-खपी और उसके लिए तीसरे मर-खप रहे थे। मामा की ओर सजल नेत्रों से देखकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के सिवा वह और क्या कर सकती थी ? ठीक विवाह की गड़बड़ में मेरे पिताजी (नाना साहब) जंगल में बैठे हाथ-पैर धो रहे थे ! विवाह हो गया। मामा ने कन्या-दान किया।

मामा का अपने दामाद पर पुत्र के समान प्रेम था। वह कहते—'मेरा क्या है ? मनी मेरी इकलौती बेटी है। आगे-पीछे मेरा जो कुछ है, वह सब मनी और तिलक ही का है।'

लेकिन, बुआजी का दृष्टिकोण भिन्न था। यदि दामाद को हमेशा बेकार बनाकर घर ही में लाड-प्यार से रखें, उसके भविष्य का क्या होगा ? इसी मतभेद के कारण पति-पत्नी में हमेशा लड़ाई ठनी रहती।

जलालपुर के नज़दीक ही गंगापुर है। दोनों के बीच में केवल 'गंगा' का व्यवधान है। गंगापुर जलालपुर से बड़ा, अधिक धनिक और शौक़ीन गाँव है। वहाँ दशावतारी[1] नाटक हुआ करते। तिलक को उस गाँव में मित्र और अपनी कविता के रसिक श्रोतागण भी बहुत मिल गए थे। मित्रों के आग्रह से और स्वयं अपने शौक से भी तिलक ने इन नाटकों में अभिनय करना आरंभ किया। परंतु, यह सब चोरी-चोरी से होता था। सब लोग काफ़ी सावधानी बरतते कि यह बात गोविंदराव मामा के कानों में न पड़े, लेकिन, इतनी सावधानी की चहारदीवारी को लाँघकर भी यह समाचार मामा के कानों में पड़ ही जाता था। कोई-न-कोई आकर उनसे सहज भाव से कह देता था—

---

१. महाराष्ट्र में नाटकों का प्रथम रूप। भगवान् के दस अवतारों पर आधारित ये नाटक खुली जगह में हुआ करते और लोगों का काफ़ी मनोरंजन करते थे। अब वे लुप्त हो गए हैं।

'मामा, तुम्हारे दामाद ने तो कल वड़ा कमाल कर डाला ! दशरथ का काम इतना अच्छा किया कि सब लोग फूट-फूटकर रोने लगे।' इस पर मामा कहते—'यह संभव नहीं है। जमाई जी तो रात को घर ही में थे।'

हम लोगों के सो जाने पर मामा दरवाज़े में बाहर से चुपचाप ताला लगा लेते और उस ताले के बल पर ही लोगों के मुँह पर ताला लगाने का का प्रयत्न करते।

सब ओर सन्नाटा हो जाने पर गंगापुर में किए जा रहे नाटक का शोर जलालपुर में सुनाई देता। "अब गणेशजी का प्रवेश हुआ। डफ पर थाप पड़ी। वह देखो, 'नाच शारदे !' गीत कितना साफ़ सुनाई देता है।" —इस तरह विस्तर पर पड़े-पड़े तिलक के अधीर शब्द अँधेरे में ध्वनित होते, तो उधर घर की खिड़की के नीचे कानाफूसी शुरू हो जाती। तिलक के मित्रगण वहाँ इकट्ठे होकर धीरे से उन्हें खिड़की के रास्ते से नीचे उतार लेते। हमारा घर किसान का घर था। इसलिए रस्सी, डोरे आदि जहाँ-तहाँ पड़े रहते थे। उनसे भी काम लिया जाता।

एक दिन तिलक इसी तरह आधी रात को गंगापुर भाग गए और सुवह होते ही उसी रस्सी के सहारे खिड़की के रास्ते से भीतर आ गए। मामा ने चाभियाँ टटोलकर देखीं वे जहाँ की तहाँ थीं। वे सोचते कि लोग झूठ बोल-कर कि दामाद नाटक में काम करते हैं, हम दोनों में मनमुटाव पैदा करना चाहते हैं। उस दिन फिर तिलक के अच्छा अभिनय करने का समाचार नित्य की तरह मामा के कानों में पड़ते ही वह बोले—'ऐसे नहीं, आज रात को मैं ही जाऊँगा नाटक देखने। तुम्हारे मुँह ऐसा किये बिना बंद न होंगे।' उस रात मामा सचमुच चुपचाप नाटक देखने गए। इसकी कल्पना भी तिलक को न थी कि अपने ससुर दर्शकों की भीड़ में बैठे होंगे। दृश्य यह था कि राम-वनवास के लिए रवाना हो रहे हैं और राजा दशरथ शोक कर रहे हैं। तिलक स्वयं कविताओं की रचनाएँ करके उन्हें गाने लगे। दर्शक रो उठे। तिलक के जीवन-काल में काव्य-गायन की प्रथा शुरू नहीं हुई थी। परंतु, उन्होंने अपना काव्य-गायन इस प्रकार उस समय भी

किया। मामा की आँखों से आँसू वहने लगे और उन्हींसे उनकी क्रोधाग्नि वुझ गई!

मामा की क्रोधाग्नि तो वुझ गई, परंतु, बुआजी की विजली कड़कनी थी, सो कड़ककर ही रही।

बुआजी तिलक के वारे में गाँव-भर में यह कहती फिरतीं कि वह संध्या ही नहीं करते। संध्या की सामग्री उनके सम्मुख रखती हूँ, तो वह पात्र में पानी डालकर उसे भर देते हैं और भस्म खा डालते है। इसके विपरीत तिलक लोगों से यह शिकायत करते कि सासजी वड़ी कठोर हैं, पर ससुर साहव अच्छे हैं। ससुर वेचारे मेरे दोषों को ढाँकने की कोशिश करते हैं और सासजी पत्नी के ज़रिए मेरे दोषों को जानने पर तुली रहती हैं।

इस अनवन के कारण अंत में तिलक ने जलालपुर छोड़ देने का निश्चय किया। मुझे साथ लेकर वह नासिक आए। चार दिन हम नासिक में रहे। पर, चार ही दिनों में हम नासिक से ऊव उठे। फिर जलालपुर लौट जाने की इच्छा होने लगी।

अव सवाल यह पैदा हुआ कि चार कोस मुझे पैदल किस तरह ले जाया जाय। इसके लिए एक घोड़ा तय किया गया। परन्तु, इसके लिए मैं राजी नहीं होती थी कि तिलक तो पैदल चलें और मैं घोड़े पर वैठूं! इसके सिवा मुझे घोड़े पर वैठने में डर भी लगता था। वह वोले—'आओ, हम दोनों घोड़े पर वैठें!' परन्तु इसमें शर्म मालूम होने लगी कि एकदम दोनों एक साथ घोड़े पर वैठें। उन्होंने मुझे समझाया—'वाज़ार का वक्त अव टल गया है। रास्ते में कोई मिलेगा ही नहीं। अगर कोई मिल ही गया, तो कह देंगे कि हम दोनों पड़ोसी हैं।' मुझे वात जँच गई और हम दोनों घोड़े पर वैठकर रास्ता तय करने लगे। आलंदी के पास गाँव का नाई मिला। हमें देखकर वह ज़ोर-ज़ोर से कहकहा लगाने लगा। उसने हँसते-हँसते कहा कि अजी दामाद साहव यह खूब वारात निकाली है आपने!' हम दोनों शर्माकर नीचे उतर पड़े। नाई के हाथ में आठ-वारह आने देकर उसकी मुट्ठी गरम की। उसने स्वीकार किया कि वह किसी से

न कहेगा। घोड़े पर हमने जो गुदड़ी डाल रखी थी वह भी घोड़े के साथ नाई को समर्पित कर दी। क्योंकि उसे जलापुर कैसे ले जाते? घोड़े पर सवार होकर नाई महाशय ने अपनी नासिक की यात्रा बड़े सुख से संपन्न की। हम दोनों पैदल चलकर जलालपुर आए और गोविंदराव मामा के द्वार पर आकर खड़े हो गए।

हमारा स्वागत मौन ही से हुआ। दो-चार दिन घर में जैसे मौन व्रत रहा। फिर धीरे-धीरे ऐसे आसार नज़र आने लगे कि बुआजी का ज्वाला-मुखी भड़कने वाला है और अंत में जो होना था, सो होकर ही रहा। मामा भी अब बुआजी ही की तरह बोलने लगे। दोनों का यह कहना था कि तिलक का घर-गृहस्थी में मन नहीं लगता। आखिर तिलक रूठ गए और मुझे छोड़कर चल दिए।

गंगापुर तक वह बड़े वेग से गए। आगे गति धीमी हो गई। रास्ते में उन्हें मिल गए गोपाल भट। वह थे जलालपुर के ग्राम-जोशी। उनके अत्यन्त आग्रह के कारण तिलक अपना क्रोध भूलकर फिर जलालपुर लौट आए!

उस समय मेरे बड़े भाई केशवराव मामा ने तिलक का स्वागत किया।

'क्यों, लौट आए "मुरड कानोला"[१] खाए जैसे?'

'छि:! अरे, मैं कहाँ आ रहा था? गोपाल भट ले आए मुझे।'

'अच्छा, तो यह कहना चाहिए कि भैंस वाली[२] कहावत चरितार्थ हुई।'

---

१. **मुरड कानोला**—मोड़दार गुझिया। महाराष्ट्र में परदेश जाने वाले संबंधियों को मोड़दार गुझिया खिलाने की प्रथा है। उसका मतलब यह है कि जाने वाला जल्दी मुड़कर वापस आजाय।

२. एक मराठी कहावत है—'अगे अगे म्हशी मला कां ग नेशी' जिसका अर्थ है—अरी ओ भैंस, मुझे अपने साथ क्यों ले जा रही है? एक आदमी अपनी पत्नी से हमेशा लड़ा करता था। उसे डर दिखाने के लिए उसने अपनी पत्नी से कहा—'देख, तू मुझसे बहुत लड़ती है। मैं इसे बरदाश्त न करूँगा। मैं घर छोड़कर चला जाऊँगा।' पत्नी अपने पति की असलियत जानती थी। बोली—'तुम जा सकते

तिलक हँस दिए। उनके साले साहब भी हँस पड़े।

परंतु, इसके बाद जलालपुर में अधिक दिन रहना हमारे लिए संभव न था। 'तिलक का घर-गृहस्थी की तरफ़ ध्यान नहीं है। हमने यह व्यर्थ की बला मोल ले ली है' आदि बुआजी के शब्द लोगों के मुँह से होकर तिलक के कानों तक पहुँच गए और जलालपुर छोड़कर नासिक चले जाने का उनका विचार फिर पक्का हो गया।

अपने विचार को कार्यान्वित करने में तिलक को अधिक समय नहीं लगता था। तुरंत ही उन्होंने नासिक का रास्ता पकड़ा और वह नासिक की पंचवटी में जा पहुँचे। आगे कुछ दिनों के बाद उन्होंने वहाँ एक प्राइवेट अंग्रेज़ी स्कूल खोला और फिर इस प्रकार हमारी गृहस्थी सुचारु रूप से चल निकली।

हो।' वह उठा और नदी के किनारे जाकर बैठ गया और सोचने लगा कि अब घर लौटने के लिए क्या बहाना किया जाय। शाम को उसके घर की भैंस पानी पीने के लिए नदी पर आई। जब वह घर लौटने लगी, तब वह आदमी भी उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। जब भैंस द्वार पर पहुँची, तब उस मनुष्य ने उसकी पूँछ पकड़ ली और कहने लगा—'अरी ओ भैंस, मुझे घर में क्यों ले जा रही है?' इस कहावत का उपयोग ऐसे समय किया जाता है, जब कोई मनुष्य कोई थोथा बहाना बनाकर अपनी फ़ज़ीहत बचाने का यत्न करता है।

ससुराल में

ससुराल की कहानी कहने के लिए फिर विवाह-मण्डप ही से आरंभ करना होगा।

विवाह के तीन महीने वाद चैत का महीना आया। मेरी अजिया-सास ने मुझसे चैत का 'हल्दी-कुंकुम'[1] कराया। सखू ननद थीं ही। घर के दो-चार लोगों ने गौरी की झाँकी अच्छी सजा दी थी।

उस दिन शुक्रवार था। ससुरजी आए हुए थे। उसी दिन कोंकण से ससुरजी को उनके बड़े दामाद का पत्र मिला कि उसकी पत्नी का नवज्वर से स्वर्गवास हो गया! पत्र मृत्यु के दस दिन वाद आया था, इसलिए सिर्फ़ स्नान करके ही सवको छुट्टी मिल गई। यह ननदजी मेरे विवाह में आई थीं।

हर शुक्रवार को ससुरजी के शरीर में देवी आती थी। यह अपेक्षा रहती थी कि ऐसे समय उनके पास घर के सब लोगों को हाज़िर रहना चाहिए। यदि कोई गैरहाज़िर होता, तो उस पर वह बहुत नाराज़ होते। ऐसी वातें देखने का जीवन में मेरा यह पहला ही मौक़ा था। मैं बहुत घवरा गई।

---

१. हल्दी-कुंकुम—गनगौर की पूजा करके सुहागिनों को निमंत्रित करने एवं उनका सत्कार करने का समारोह। यह समारोह चैत सुदी तीज से वैसाख सुदी तीज तक होता है। इस समारोह में गनगौर की झाँकी सजाई जाती है।

आने के पहले मेरी जगह पर मेरी सासजी अप्रिय थीं।

सासजी के अप्रिय होने के दो-तीन कारण थे। पहला कारण यह था कि वह कविता लिखा करती थीं। उनकी कविताओं को ससुरजी जला डालते। ससुरजी की क्रोधाग्नि और वास्तविक अग्नि की ज्वालाओं से सासजी की कविताओं की सिर्फ दो ही पंक्तियाँ आज तक बची हुई हैं। वे दो पंक्तियाँ ये हैं :—

ही चिंधीची अल्प बाहुली प्रताप ही चा पहा
बाळपणापासून मुलींना शिकवी संसार हा।[1]

यदि यह कहें कि तिलक को कविता की घुट्टी यहीं मिली, तो अतिशयोक्ति न होगी। माँ कविता लिखती है, इसलिए, पिताजी उस पर नाराज़ होते हैं। पिताजी मुझ पर भी नाराज़ होते हैं। शायद इसीलिए उसी समय से प्रतिक्रिया के रूप में तिलक का अपनी माँ और कविता के प्रति अधिक प्रेम रहा होगा। उनकी पीठ पर चार भाई-बहन हो चुके थे, फिर भी, कि माँ की गोद में सोऊँ वह चाहते इस बात को लेकर सोते समय रोज़ भाई-बहनों से मार-पीट हुआ करती।

माँ और बेटे का यह प्रेम ससुरजी को सहन नहीं होता था। उनका सासजी पर नाराज होने का यह दूसरा कारण था।

तीसरा कारण यह था कि सासजी के पास कुछ देसाई मिशनरी मेमें

---

१. चिंदियों की बनी हुई इस नन्ही-सी गुड़िया का प्रताप तो देखो। बचपन से यह लड़कियों को गृहस्थी के सबक सिखाती है।
ईसाई-सेवा-संघ के रे० फ़ादर विन्सलो ने इन दो पंक्तियों का अँग्रेज़ी अनुवाद इस रूप में किया है :

See what a majesty pervades
This doll of rags and wood
Instructress she of tender maids
In arts of motherhood

आया करती थीं। उन्होंने सासजी को सीना-पिरोना और कसीदे का काम सिखाया था। उन्हींने बाइबिल की 'नीति की पुस्तक' सासजी को दी थी। वह उस पुस्तक को हमेशा पढ़ा करतीं। ससुरजी ने एक दिन उस पुस्तक को जला डाला।

उस समय तिलक को अपने पिता पर इतना गुस्सा आया कि वह इस घात में बैठ गए कि उन्हें कैसे मज़ा चखाऊँ! ससुरजी को तम्वाकू खाने की लत थी। वह तम्वाकू में चूना मिलाकर खाया करते थे। तिलक ने उनकी आँख बचाकर उनके बटुए में से चूने की डिबिया उड़ा ली और कुए में ले जाकर फेंक दी! बचपन ही तो था वह! ससुरजी ने वह नीति की पुस्तक जला दी इसलिए दुनिया की सारी नीति की पुस्तकें जलकर खाक नहीं हो जाने वाली थीं या तिलक ने ससुरजी की चुनौटी कुए में फेंक दी इसलिए दुनिया की सारी चुनौटियाँ झटपट जाकर कुए में कूदकर अपनी जान नहीं देने वाली थीं। नतीजा यह ज़रूर हुआ कि ससुरजी का क्रोध भड़ककर बेक़ाबू हो गया। उधर वह गुस्से से उबल रहे थे और इधर तिलक अपने स्थान पर पड़े-पड़े मज़े में उनका तमाशा देख रहे थे। ससुरजी ने सबको पुकारा और प्रत्येक के बयान लिए। कोई क़बूल नहीं करता था। अंत में वह तिलक पर बरस पड़े और एक बड़ी-सी टहनी लेकर उन्होंने उससे उनकी खूब मरम्मत की। तीसरे दिन तिलक घर से भाग गए। छह महीने तक उनका कोई पता न चला। मार खाने के दूसरे दिन तिलक इतनी अच्छी तरह पेश आए कि उनके पिता ने भी मन में उनकी सराहना की होगी! परंतु, वह सब था माँ के लिए।

उनका उद्देश्य यह था कि भाग जाने के पहले दिन माँ को पूर्ण सुख दूँ।

तिलक के चले जाने पर बेचारी सासजी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई। इस देव की मन्नत मानतीं, उस देव की मनौती मनातीं, इससे कहतीं, उसके आगे गिड़गिड़ातीं—यही क्रम चल रहा था। कोंकण में उनके एक भाई रहते थे। उनके पास भी उन्होंने खबर भेजी। खबर पाते ही वह कल्याण आए। ससुरजी उस वक्त कल्याण में थे।

इसी समय वहाँ पूना से एक सज्जन आए थे। उन्होंने सासजी से कहा—'आपके नाना को मैंने पूना में एक नाटक में अभिनय करते देखा है।'

जब सासजी के मन में यह पूर्ण विश्वास हो गया कि उन सज्जन ने तिलक को सचमुच देखा है, तब उन्हें बड़ी खुशी हुई। उन्होंने वह ख़बर अपने भाई के ज़रिए ससुरजी के कानों तक पहुँचा दी और वे तिलक को पूना से जैसे-तैसे घर वापस लाए। घर लौट आने पर ससुरजी तिलक को बहुत तंग करने लगे। सासजी को बड़ी चिन्ता होती। उन्हें लगता कि तिलक कहीं फिर न भाग जायँ! तिलक और सखाराम लाला दोनों साथ-साथ पाठशाला जाते। लाला अब उनकी चुगली कम करते थे। उनके मन में यह जम गया कि मेरे कारण ही नाना भाग गए थे।

इन्हीं दिनों दोनों के पैरों में नहरुआ हो गया। सासजी दोनों पुत्रों की सेवा समान भाव से करतीं। लेकिन, ससुरजी तिलक से कहते—'अच्छा हुआ! तू यदि लँगड़ा हो जाय, तो मुझे बड़ी खुशी हो। तुझे सबक़ सिखाना ही चाहिए!' नज़दीक ही सखाराम लाला पड़े रहते। उनसे ससुरजी कहते—'बेटा रोओ मत! अब जल्दी ही अच्छे हो जाओगे।' दोनों के नेहरुए के धागे निकालने के लिए एक नाई बुलाया गया था। धागे निकालते वक्त ससुरजी सखाराम लाला को अपनी गोद में लेकर उनकी पीठ पर हाथ फेर रहे थे। अलबत्ता, तिलक के भाग्य में यह न था। उल्टे, धागे निकालने पर घर में जाकर उन्होंने सखाराम लाला को पेड़ा लाकर दिया और तिलक रो रहे थे सो उन्हें पीटने की धमकी दी!

ये बातें काल्पनिक नहीं हैं। तिलक ने सखाराम लाला के मुंह पर मुझसे कही थीं।

कर्ज़ से मेरी सास और मेरे ससुर दोनों को बड़ी नफ़रत थी। उन्होंने कभी किसी से कर्ज़ नहीं लिया। सासजी सीना-पिरोना करके ससुरजी के 'आटे में अपना नमक डाला करतीं।' उन्हें बहुत आशा होती कि मेरे लड़के पढ़-लिखकर पुरुषार्थी होंगे।

ससुरजी के अनजाने सासजी ने सौ रुपए बचाकर इसलिए रखे थे कि अपने आड़े वक्त में कुछ मदद मिले। इन रुपयों का उपयोग आड़े वक्त हुआ तो अवश्य, परंतु, वह सासजी की इच्छा के अनुसार न होकर ईश्वर की योजना के अनुसार हुआ।

जब तिलक गुम हो गए थे, तब सासजी ने हनुमानजी की मन्नत मानी थी—'हे बजरंग बली, मेरा बेटा ढूंढ़ दो। मैं तुम्हें बड़ों की माला पहनाऊँगी।' तदनुसार एक दिन उन्होंने बड़ों की माला बनाकर अपने लड़कों के हवाले की।

'यह माला हनुमानजी को पहना आओ!'

तिलक बोले—'माँ, हनुमानजी को बड़े देने की क्या ज़रूरत है? हमीं को दे दो न ये बड़े!'

'तुम्हारे लिए एक-एक बड़ा घर में रख दिया है, समझे! जाओ, जल्दी से यह माला हनुमानजी को पहना आओ।'

तिलक तालाब पर गए। सखाराम लाला जी साथ थे। तिलक ने सारे बड़े वहाँ बैठकर खा डाले। इस भय से कि तिलक कहीं फिर न भाग जायँ, लालाजी ने उनसे कुछ भी न कहा। घर आने पर माँ बड़ा देने लगी, तो तिलक उसे खाते न थे। बोले—

'मुझे नहीं चाहिए!'

'तू माँग रहा था न?'

'मैंने खा लिए!'

'कहाँ?'

'तुमने जो दिए थे, वे।'

'मतलब? तूने भगवान् के बड़े खा डाले क्या?'

'हाँ!'

सासजी को बहुत बुरा लगा।

'तुम कहती थीं न कि भगवान् दूर नहीं रहता। वह हमारे हृदय के भीतर ही बसता है।'

'अरे, पर, ऐसा नहीं करना चाहिए। मैंने नहीं सोचा था कि मेरे कहने का तू यह अर्थ निकालेगा। भगवान् हृदय के भीतर हैं, इसका अर्थ यह होता है कि हमारे मन के सारे बुरे विचारों का उन्हें पता चल जाता है।'

सासजी को जितना क्रोध आया, उतना ही तिलक के प्रति उनके हृदय में कौतुक का भाव भी पैदा हुआ। दूसरे दिन सासजी ने स्वयं जाकर हनुमानजी के गले में बड़ों की माला पहनाई।

तिलक घर के कामों में अपनी माताजी का हाथ बँटाते। ससुरजी तो चाहते कि उन्हें पीने के लिए पानी भी कोई दूसरा लाकर दे। तिलक जब अपनी माँ के लिए पानी भरते, तब ससुरजी उनसे कहते—'भर, पानी ही भरता रह! तेरे भाग्य में पानी भरना ही बदा है। सखाराम को देख, तुझसे छोटा है, फिर भी हमेशा पढ़ता रहता है।'

यह सुनकर सासजी की दृष्टि के सम्मुख उनका बेटा पानी-पाँडे के रूप में मूर्त्त हो उठता और वह रोने लगतीं। उनकी आँखें पोंछते हुए तिलक कहते—'अब मैं सच कहता हूँ कि जैसा तुम कहोगी, वैसा ही मैं बर्ताव करूँगा।'

आगे चलकर ससुरजी की बदली मोखाडा को हो गई। वहाँ शिक्षा का कोई सुभीता न होने के कारण उन्होंने अकेले ही जाने का निश्चय किया। उन्होंने स्त्री और बच्चों को कल्याण ही में छोड़ा और वह मोखाडा जाकर अपने काम पर हाज़िर हुए। ससुरजी के जाने पर उसी घर में शान्ति, संतोष और आनंद आदि मिलकर विचरण करने लगे। तिलक की शरारतें कम हो गई अथवा यदि यह कहें कि जितनी वे ससुरजी को दिखाई देतीं, उतनी सासजी को नहीं दिखाई देती थीं, तो कोई हर्ज नहीं। अब तिलक को अपनी माँ से यथेच्छ बातें करने का समय मिलता। इसका कारण यह था कि जब ससुरजी रहते थे, तब काम बहुत रहता था और माँ और बेटे की बातचीत सुनकर उन्हें क्रोध आ जाता था। अब वह बात बिलकुल न थी। अब सिर्फ़ लड़के और माँ। फिर क्या पूछना!

सासजी एक आदर्श माता थीं। वह अपने लड़कों की बड़ी चिन्ता

रखतीं। साधारण किंतु, गर्मागर्म भोजन लड़कों को करातीं। उनकी पढ़ाई की ओर ध्यान देतीं। उनकी हलचलों पर नजर रखतीं। तिलक तो माँ की अनुमति के विना घड़ी-भर के लिए भी घर से बाहर न जाते।

तिलक घर में अत्यन्त नम्रता से वर्ताव करते। अपने छोटे भाई-बहनों को वह तनिक भी तंग न करते। सखाराम लाला समझ चुके कि अब मेरे पिताजी यहाँ नहीं है, इसलिए माँ और नाना तिलक की आज्ञानुसार मुझे बर्ताव करना चाहिए।

तिलक कहते—'माँ, घर में जब पिताजी नहीं होते, तब अच्छा लगता है। यदि वह सदा बाहर रहें, तो कितना अच्छा हो। फिर हमें कोई भी तकलीफ़ नहीं।'

'फिर तेरा पेट कौन भरेगा?'

'सच कहूँ माँ! उनसे मुझे बड़ा डर लगता है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि वह बिलकुल ही न रहें, तो अच्छा।'

'ऐसी वाहियात बात नहीं कहनी चाहिए।'

'अकेले मैंने उनका क्या बिगाड़ा है? तुम जैसा कहती हो, क्या वैसा मैं नहीं रहता? यह मैं ही नहीं समझ पाता कि आखिर मैं करता क्या हूँ?'

'जब तू बड़ा हो जायगा, तब सब समझने लगेगा।'

बाल्यावस्था को शोभा देने योग्य ऐसी बातें माँ-बेटे में हुआ करतीं। तिलक कहते—'माँ, मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जाऊँगा। मेरे कारण तुम्हें बहुत-से कष्ट उठाने पड़े हैं न?'

'खैर! छोड़ इन बातों को। आगे अगर तू ठीक इसी तरह से रहेगा, तो मैं समझूँगी कि मैंने सब पा लिया।'

मनुष्य के इरादे, विचार और आगामी कार्य आदि सब ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित होते हैं। अमृत-भरे घट में विषैला सर्प विष उगल दे, ऐसा हो गया। एक दिन मोखाडा से पत्र आया। पत्र में हस्ताक्षर ससुरजी के थे, पर लिखावट किसी दूसरे की थी। उसमें नीचे लिखा मजमून था—

'वामनराव सख्त बीमार हैं। उनके अंतिम दर्शन करने ज़रूर आओ। लापरवाही न करना।'

एक तो अकेली स्त्री, घर में कोई मर्द नहीं, ऊपर से ग़रीबी, फिर पति का ऐसा पत्र, चारों तरफ लड़कों का घेरा, जाने का रास्ता अत्यन्त कठिन, इन सब विचारों से सासजी का मन बेचैन हो उठा और वह यह नहीं समझ पा रही थीं कि अब क्या किया जाय। वह व्याकुल हो उठीं। बेचारी करतीं क्या। उन्हें कोई उपाय ही नहीं सूझता था। इसके बावजूद हिम्मत बाँधकर वह लड़कों से बोलीं—

'बेटा, तुम लोग यहीं रहो। मैं अकेली ही जाती हूँ।'

तिलक ने कहा—'माँ, अब हम एक काम करें। हम दोनों चलें। सखाराम सूबेदार के घर रह जायगा। मेरा साथ होने से तुम्हें बहुत मदद मिलेगी। तुम अकेली क्या करोगी? पिताजी बीमार हैं। घर में कामकाज रहेगा। पानी दूर से लाना पड़ेगा। तुम मुझे ले चलो। हम दोनों चलें। मैं बिलकुल तुम्हारे मन के मुआफ़िक़ रहूँगा।'

डूबते को तिनके का सहारा। तिलक की बात सासजी को जँच गई। सच पूछा जाय, तो बात यह थी कि तिलक अपनी माँ को छोड़कर नहीं रहना चाहते थे। सखाराम देवरजी को कल्याण ही में छोड़कर उन्होंने माँ के साथ जाने की तैयारी की। सासजी ने आड़े वक्त के लिए बचाकर रखे हुए रुपए साथ लिए और निकल पड़ीं। पचास वर्ष पहले का मोखाड़ा का रास्ता जो जानता हो, वही उसकी कठिनाई समझ सकता है। सासजी की पीठ से छोटा बच्चा बँधा हुआ और तिलक के पास एक छोटी-सी गठरी—इस ठाट से वे दोनों चल पड़े। वे दिन गर्मी के थे। पैरों-तले धरती जल रही थी। ऊपर चिलचिलाती धूप आग बरसा रही थी। मन में चिंता, पेट में भूख, रास्ते में पानी का अकाल, पैरों में पादत्राण न होने के कारण काँटों और कंकरों की चुभन, आस-पास घना जंगल, मन में हिंस्र पशुओं का डर समाया हुआ और इन कठिनाइयों के साथ-साथ एक पहाड़ से उतरकर दूसरे पर चढ़ना, एक ओर गहरी खाई, रास्ते में मछुओं के छोटे-

छोटे गाँव, बीच ही में यह आभासित होता, जैसे बाँवियों से वड़े-वड़े सर्प बाहर निकल रहे हैं, सूखी घास और पत्तियों में से आवाज़ें आतीं—ऐसे विकट मार्ग से सासजी अपने जीवन की सब मर्यादाओं को लाँघकर चली जा रही थीं।

'माँ, अव मैं लिये लेता हूँ इसे। आप थक गई होंगी।'

'नहीं वेटा। मैं तुझसे वड़ी हूँ। इसलिए, मुझमें शक्ति अधिक है।'

इस प्रकार एक-दूसरे से वातें करते और एक-दूसरे के श्रमों को हल्का करते हुए वे जैसे-तैसे मोखाडा जा पहुँचे। यह गाँव टेकरी पर बसा है। सासजी कहतीं कि ज्यों ही मैंने उन्हें सकुशल देख लिया, त्यों ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगी।

'वे कुशल से हैं। आप चिन्ता न करें। उन्हें कुछ नहीं हुआ है।'

'नहीं ही हुआ हो वेटा, मैं यही मनौती मनाती हूँ। ईश्वर करे कि यही सच निकले। अव मैं और कुछ नहीं माँगती।'

ये लोग कगार पर चढ़कर गए। यह गाँव वहुत बड़ा नहीं है। इसलिए, थोड़ी ही देर में पता लग गया। इस काम में अधिक समय न लगा। ये लोग जव घर पहुँचे, तव ससुरजी वाहर बैठे गप्पें मार रहे थे! यह देखकर सासजी के आनंद की सीमा न रही। उनका श्रम-भार तुरंत हल्का हो गया।

थोड़ी देर के वाद सासजी घर के कामों में लग गईं। घर का कूड़ा-कचरा वुहारकर वह लड़कों को साथ लेकर कगार के नीचे उतरने लगीं। उन्हें नहाने के लिए कुए पर जाना था।

'क्यों माँ, मैंने कहा था न कि उन्हें कुछ नहीं हुआ है?'

'तेरे मुँह में शक्कर पड़े, तेरी वात सच निकली। अव तू अपने वचन के अनुसार ठीक ढंग से रहना शुरू कर दे। वस, फिर मैं सव-कुछ पा जाऊँगी।' सासजी के सिर पर पानी का हंडा और तिलक की गोद में महादेव देवरजी—इस तरह ये लोग रवाना हुए।

'लाइए, मैं लिये लेता हूँ उस हंडे को।'

'नहीं, तेरे लिए वह भारी पड़ेगा।'

'माँ, क्या आप थकीं नहीं ?'

'नहीं, अभी इतनी नहीं थकी हूँ।' सिर पर हंडा, कंधे पर धुले हुए वस्त्रों का ढेर और दिमाग़ में यह विचार लेकर कि अव जाकर रसोई वनानी है, वह घर आई। ससुरजी द्वार के नज़दीक ही वैठे हुए थे। वह दरवाज़े के पास आई। 'क्या यह हंडा ज़रा उतरवा दोगे ?' इन शब्दों के कानों में पड़ते ही ससुरजी शेर की तरह गरजकर सासजी पर टूट पड़े।

'मैं कोई तुम्हारा नौकर नहीं हूँ,' कहकर उन्होंने सासजी की गरदन पकड़ी और पीछे से उनके एक लात मारी। उसी समय सासजी 'हा राम' पुकारती हुई धरती पर गिर पड़ीं। यह दृश्य देखते ही दोनों लड़के हक्के-वक्के हो गए और रोने लगे।

तिलक ने महादेव लालाजी को नीचे विठाया और माँ के पास जाकर पूछा—'क्या आपके चोट आ गई है ?' माँ ने हाथ के इशारे ही से 'नहीं' कहा और उनके मुँह से 'राम' शब्द निकल पड़ा। तिलक ने उन्हें सूखा वस्त्र पहनने को दिया। उसे जैसे-तैसे पहनकर उन्होंने विस्तर पकड़ा। तिलक के मन में फिर अपने पिता को मजा चखाने का विचार आता, पर, माँ की ओर देखकर वह चुप रह जाते।

यह काण्ड पड़ोसियों को कुछ भी समझ में न आया। ससुरजी वाहर आराम से वैठे थे, वीच-वीच में वह घर आते-जाते रहते। सासजी ने आठ दिन तक मुँह से 'राम' शब्द के सिवा किसी दूसरे शब्द का उच्चारण न किया और न पानी के सिवा और कुछ मुँह में डाला। ऐसी स्थिति में, आठवें दिन ससुरजी को विधुरावस्था में छोड़कर और लड़कों को दुनिया के हवाले करके उन्होंने 'राम-राम' कहते हुए प्राण छोड़ दिए।

तिलक का मन तो वहुत अधिक सकपका गया। उनके दुःख की सीमा न रही। अपनी माँ के प्रति वहुत पहले से उनकी 'न मातुः परदैवतम्' वाली वृत्ति थी। वह साफ़-साफ़ कहा करते थे कि माँ के वदले यदि पिताजी चल वसते, तो कितना अच्छा होता। माँ ने अंत में 'राम' को पुकारा। मेरा

नाम भी न लिया। इसीलिए, राम उसे ले गए। मुझे भी ऐसा ही करना चाहिए। फिर मैं भी उनके पीछे चला जाऊँगा। लेकिन, फिर महादेव को कौन सँभालेगा ? इस तरह नाना प्रकार के विचार उसके मन में कुहराम मचा रहे थे।

ससुरजी ने तिलक को तंग करना छोड़ दिया और तिलक ने भी उनसे छेड़-छाड़ करना बंद कर दिया। परंतु, तिलक मन-ही-मन एक अत्यंत गम्भीर विचार में निमग्न हो गए थे। उनके छोटे-से दिमाग़ में यह बात घुस गई थी कि किसी तरह पिताजी के पास से भाग जाऊँ और अपनी जीविका स्वयं चलाऊँ। परंतु, उन्होंने अपना यह विचार किसी दूसरे पर प्रकट न किया।

ससुरजी ने चाहा कि मेरी पत्नी की अस्थियाँ गंगाजी में गिराई जायँ। मोखाडा से त्र्यंबकेश्वर का तीर्थ-स्थान ही नज़दीक है, इसलिए वहाँ जाकर क्रिया-कर्म करने का निश्चय किया गया।

महादेव लाला को वहीं किसी पड़ौसी के घर छोड़कर तिलक को साथ ले जाने की बात निश्चित हुई। सासजी अपने साथ छोटी-सी गठरी लाई थीं, उसीमें महादेव लाला के कपड़े रखे थे। ससुरजी ने वह गठरी खोली। उसमें कपड़ों के साथ ही एक भारी-सी पोटली भी ससुरजी के हाथ लगी। उसमें सासजी के द्वारा आड़े वक्त के लिए रखे गए सौ रुपये उन्हें मिले ! इन रुपयों को देखकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। 'हरे हरे !' यह कहकर फूट-फूटकर रोने लगे कि अपनी उत्तर-क्रिया के लिए ही ये रुपए उसने रखे थे।

तिलक और ससुरजी त्र्यंबकेश्वर आए। ससुरजी का यह इरादा था कि वहाँ की सारी विधियाँ समाप्त होने पर लड़कों-बच्चों को साले के सुपुर्द करके वह छुट्टी पा लें। इसलिए, उन्होंने अपने साले वेडेंकर को मोखाडा भी बुला लिया था।

तिलक मन में कह रहे थे—मामा के आ जाने से सखाराम और महादेव का प्रबंध तो हो जायगा। उन्हें कोई कष्ट न होगा। इसलिए

अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। मामा के साथ यदि मैं उनके घर जाऊँगा, तो बार-बार मुझे माँ की याद आयगी और मैं रो पड़ूँगा। इसलिए, अब मुझे कहीं अन्यत्र ही चल देना चाहिए। उस समय तिलक की उम्र ग्यारह-बारह वर्ष की होगी। रात को जब घर के सब लोग सो गए और सर्वत्र सन्नाटा छा गया, तब तिलक धीरे से उठे और घर से भाग गए। ससुरजी सुबह उठकर देखते हैं, तो तिलक अपनी जगह पर नहीं हैं। फिर यह बात कल्याण-जैसी ही हो गई। ससुरजी घबरा गए, और उन्हें त्र्यंबकेश्वर छोड़ने में निश्चित समय से बहुत अधिक समय लग गया।

तिलक जो रात को चले, सो आकर एक धर्मशाला में सो रहे। सुबह जिधर रास्ता ले जाय, उधर ही वह चल पड़े। वह रास्ता नासिक का था। बदन में पहने हुए कपड़ों के सिवा उनके पास और कुछ न था। जेब में एक पैसा नहीं, साथ में एक रोटी नहीं! इसका भी उन्हें कोई पता न था कि मैं कहाँ जा रहा हूँ इतना ही वह उस समय जानते थे कि सीधे चलते जाना और अपने पैरों पर खड़े होना।

ससुरजी मोखाडा लौट गए। वहाँ उनके साले लड़कों को ले जाने के लिए बैठे हुए ही थे। जब वह लड़कों को ले गए, तब ससुरजी को बड़ा दुःख हुआ।

तिलक की आँखों के सामने अपनी माँ की मूर्ति निरंतर घूम रही थी और कानों में उसके द्वारा कहे गए 'राम-राम' शब्द गूँज रहे थे।

तिलक लगभग दस बजे नासिक पहुँचे। वह नासिक पहुँच ज़रूर गए थे, परंतु, उस नगर का नाम वह नहीं जानते थे। क्योंकि इससे पहले वह नासिक कभी न आए थे। पूछ-ताछ करने पर उन्हें पता चला कि वह नगर नासिक है। यह पता लगते ही कि इस नगर का नाम नासिक है, उन्होंने तुरंत गंगा (गोदावरी) का रास्ता पकड़ा और वह घाट पर अपना आसन जमाकर बैठ गए। भगवान् किसी को भी नहीं भूलता। इसलिए, वह तिलक को भी नहीं भूला। उन्हींकी उम्र का एक लड़का स्नान के लिए उनके पास, थोड़ी दूर, घाट पर बैठा था। वह उन्हें अपने घर ले गया।

उस लड़के की माँ ने उन्हें अपने घर में ही रख लिया।

लगभग आठ-नौ महीने के वाद ससुरजी को पता चला कि उनका वेटा नासिक में है और यह जानकर उन्हें संतोष भी हुआ। उन्होंने तुरंत अपने साले को पत्र लिखकर सूचित किया कि नाना (तिलक) नासिक में है, वहाँ पढ़ाई का अच्छा प्रबंध है, खर्च भी कम लगता है, इसलिए, तुम अपने लड़के सखाराम अपनी भौजाई को नासिक भेज दो। वहीं उन्हें मकान किराए पर लेकर रहने दो। तुम दस रुपया महीना भेजना, दस मैं भेजूंगा।

ससुरजी की सूचना के अनुसार ये सब लोग नासिक आए। साथ में गोविंदराव की विधवा भौजाई थी। वह घर का काम-काज देखने लगी।

तिलक को पिता और मामा से जो आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी, वह पर्याप्त न थी। इसलिए वह भी जो काम मिल जाता, वह करके कुछ पैसे कमाते। उन्हें विद्या भी प्राप्त करनी थी। इसलिए, उन्होंने भटजी के मठ में संस्कृत और घर में अंग्रेज़ी पढ़ना आरंभ किया। किसी ने उनसे कह दिया था कि अंग्रेज़ी डिक्शनरी मुखाग्र रट डालनी चाहिए। इसलिए, वह उसे रटने लगे। कानों-कान यह खबर नासिक हाई स्कूल के हैडमास्टर तक जा पहुँचे। उन्होंने तिलक को अपने पास वुलाया और अपने स्कूल में भरती कर लिया। सखाराम लाला इसी स्कूल में पढ़ते थे। तिलक यहाँ सिर्फ़ एक-दो साल ही रहे। लेकिन, उनका वक्तृत्व और काव्य-लेखन ज़ोरों से जारी रहा।

आगे, हमारा विवाह होने पर, शीघ्र ही सखाराम देवरजी अपनी नासिक की शिक्षा समाप्त करके पूना चले गए। कोकण वाले कोकण चल दिए। अव रह गए सिर्फ़ हम दोनों। वीस रुपए माहवार की हमें जो मदद मिलती थी, वह स्वभावतः वन्द हो गई। तव हम जलालपुर गए। पर, वहाँ कुछ व्यवस्था न जमी, इसलिए लौटकर फिर नासिक आ गए। वहाँ पंचवटी में तिलक ने एक स्कूल खोला और ऐसा रंग दिखाई देने लगा कि हमारी गृहस्थी अव सुचारु रूप से चलेगी।

ससुराल की साँसत

एक दिन ससुरजी सखाराम लाला को साथ लेकर नासिक पहुँचे। हमारी गृहस्थी देखकर उन्हें संतोष-सा होता नज़र आया। ससुरजी को एक सत्यनारायण की कथा करनी थी। सत्यनारायण की कथा हो जाने पर ससुरजी और लाला वापस चल दिए। वे लौटकर घर पहुँचे ही होंगे कि तुरंत उनका पत्र मिला। लिखा था कि सखाराम लाला का विवाह निश्चित हो गया है, इसलिए तुम दोनों पूना चले आओ। पिताजी की आज्ञा के अनुसार हम दोनों पूना गए। नासिक छोड़ते समय तिलक ने अपनी छोटी-सी पाठशाला वहीं के एक महाशय को सुपुर्द कर दी। अपने द्वारा स्थापित की गई पाठशाला को छोड़ते समय उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। परंतु, तिलक के स्वभाव की यह एक विशेषता थी कि जो उनकी आँखों के सामने होता, वह उन्हें प्राणों से भी प्यारा लगता, किंतु यदि कोई व्यक्ति या काम उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता, तो बहुत बार उसकी उन्हें याद तक न रहती। उनकी **'पांखरा[1] येशिल का परतून'** वाली कविता किसी ने यदि उन्हींको लक्ष्य करके कही होती, तो कुछ अनुचित न होता। वह जब कहीं बाहर चले जाते, तब हम पर **'वाऱ्या-वरचा तरंग चंचल जाशिल तूं भडकून'[2]** कहने की नौबत आ जाती। वह इस तरह कहीं बाहर

१, हे पक्षी, क्या तुम कभी लौटोगे भी ?

२. तुम वायु की चंचल तरंग हो, कहीं भी भटक जाओगे।

चले जाते, तो मैं आँसू बहाती रहती, घर के बड़े-बूढ़े चिन्ता में डूब जाते और नौजवान उनकी खोज में चल पड़ते। अस्तु।

पूना में सब रिश्तेदार आकर इकट्ठे हो गए। पर न जाने क्या बात हुई कि लाला का वह विवाह भंग हो गया। तब स्वभावतः सब लोग तितर-बितर हो गए। तिलक भी वहाँ से सटक जाना चाहते थे, पर जाते कैसे? पैसों की कमी थी। माँगते किससे? पत्नी के पास ससुरजी ने सिर्फ़ मणि-मंगलसूत्र सुहाग-चिह्न ही छोड़ा था। कहने को सिर्फ़ एक पैठणी (सुहागिनों के पहनने की ज़री की साड़ी) थी।

तिलक यह जानते थे। उन्होंने किसी बहाने से वह पैठणी मुझसे माँग ली। उस पैठणी का आगे क्या हुआ, इसका मुझे पता न चला। तिलक अलबत्ता मुझे पूना में छोड़कर चल दिए। उस पैठणी पर उन्हें यात्रा के लिए आवश्यक रुपए मिल गए।

एक दिन ससुरजी ने मेरा बयान लेना शुरू किया।

'लछमीबाई, आपकी पैठणी कहाँ है?'

'मैं नहीं जानती। मैंने उसे बाँधकर ताक में रख दिया था।'

'यह मैं कुछ नहीं जानता। पैठणी ले आइएगा। वरना, मुझसे पाला पड़ा है!'

ससुरजी जब गुस्से में होते, तब मेरे लिए आदर-सूचक सर्वनाम का प्रयोग करते।

सच बात यह थी कि लाला और ससुरजी तिलक द्वारा गिरवी रखी हुई पैठणी छुड़ाकर ले आए थे। यदि यह कहूँ कि आगे वह पैठणी मुझे फिर कभी दिखाई नहीं दी, तो कोई हर्ज न होगा।

मैं अकेली ही ससुराल में—यानी ससुराल के चंगुल में फँस गई।

'ससुरजी, मुझे चूड़ियाँ पहननी हैं।'

'तो मुझसे क्या कहती हैं? पैठणी ले आइए और फिर पहनिए चूड़ियाँ।'

'मेरी धोतियाँ फट गई हैं—'

'तो मैं क्या करूँ ? पैठणी ले आइए—फिर धोतियाँ खरीद लेंगे।'

'आपकी सौगंध खाकर कहती हूँ कि पैठणी मैंने नहीं खोई।'

'वह मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। मज़दूरी कीजिए, किसी का पिसान पीसिए और पहन लीजिए चूड़ियाँ और खरीद लीजिए धोतियाँ—'

उपर्युक्त ढंग की बातचीत होने पर मैं धीरे-धीरे रोती रहती। सीकाकाई (बाल धोने का एक पदार्थ) तेल आदि कुछ भी वह मुझे न देते। माँगती, तो ऊपर लिखे हुए निश्चित साँचे में ढले हुए जवाब दे देते।

एक दिन दोपहर को ससुरजी बाहर से आए। उस समय वह मुझसे बड़ी मीठी-मीठी बातें करने लगे।

'लछमीबाई, तुम्हें धोतियाँ चाहिएँ न ?'

मुझे बड़ी खुशी हुई।

'हाँ, मेरी धोतियाँ बिलकुल फट गई हैं।'

'एक चाहिए या दो ?'

'दो।'

'अगर एक चाहती हो, तो चार रुपए की एक खरीदे देता हूँ। यदि दो चाहती हो, तो दो-दो रुपये की दो मिलेंगी।'

अब बताइए, इस पर मैं क्या बोलती ? मुझे बड़ा दुःख हुआ। फिर कोने में जाकर आँखें पोंछी और काम में लग गई। विवाह के बाद ससुराल से मिली यही पहली धोतियाँ थीं। मुझे अपने मायके की और गोविंदराव मामा के स्नेह की याद आने लगी। लगातार सिसकियाँ आ रही थीं। थोड़ी देर के बाद मुझे दो-दो रुपयों वाली दो धोतियाँ मिलीं।

इस तरह कुछ दिन बीते। आगे ससुरजी की बदली मुरवाड़ हो गई। तिलक ने मुझे वहाँ ले जाने का निश्चय किया। मेरे ससुरजी बड़े सफाई-पसंद व्यक्ति थे। सासजी की मृत्यु के बाद उन्होंने न तो दूसरा विवाह किया और न वह किसी दूसरे झमेले में फँसे। उनका आचरण अत्यन्त शुद्ध था। पराई स्त्री को वह माता के समान मानते। सासजी के बाद घर की सारी व्यवस्था वह स्वयं करते। अपने हाथ से रसोई बनाते और इतने

सही अंदाज़ से कि भोजन के बाद चावल का एक दाना भी न बचता !

मुरवाड में वह राम के मंदिर में रहते थे। उसके पड़ोस ही में एक भोजनालय था। हम जब मुरवाड पहुँचे, तब ससुरजी खाना खा चुके थे। वह बाहर बरामदे में बैठे हुए थे। स्वभावतः घर में हमें खाने को कुछ न मिला। ससुरजी ने हमें खाने के लिए बाहर के एक भोजनालय में भेज दिया। वहाँ भात इतना था, जितना एक आहुति में दिया जाता है, जितना हल्दी-कुंकुम चढ़ाते हैं, उसके बराबर दाल थी, भुनी हुई कड़वी सेमें और अंत में छाछ, जिसमें पानी ही की मात्रा अधिक थी—ऐसा हमारे भोजन का ठाठ था ! तिलक को इसकी कोई परवाह न हुई। परन्तु मुझे, जिसने चार पीढ़ियाँ देश[1] में गुज़ारी थीं, वह भोजन उपवास से भी अधिक कष्टदायक प्रतीत हुआ। भोजन करने के बाद घर लौटने पर ससुरजी ने मुझे अपना घर दिखाया।

'लछमीबाई, यदि तुमने यहाँ कोई अव्यवस्था की अथवा लापरवाही दिखाई, तो वह मुझसे बरदाश्त न होगी। यह रहा सारा सामान, यह रहा ईंधन, देखो वह बाहर कुआं है। अब शाम की रसोई तुम बनाना।'

चावल की रोटी बनाने का वह मेरा पहला ही मौका था। चावल के आटे की रोटी मैंने जीवन में पहले कभी न बनाई थी और न देखी थी। पहली वर्षा के बाद जमीन में जिस तरह दरारें पड़ जाती हैं, उसी तरह मेरी रोटियों में दरारें पड़ गई थीं।

मैं जब रसोई बनाती, तब ससुरजी सामने वाले कमरे में बैठे रहते। रसोई में होने वाला सब काम वहाँ बैठे-बैठे उन्हें दिखाई देता। बहुत बार एक तरफ वह ठाकुरजी का पूजन करते और दूसरी तरफ़ मुझे रसोई बनाना सिखाते। मैं अच्छी रसोई बना सकती थी। पर वह देश की। एक बार ससुरजी ने मुझसे कहा—

१. मूल स्थान सह्याद्रि, बालाघाट, कर्णाटक एवं गोदावरी नदी से घिरा हुआ भूभाग।

'आमटी'[1] को ज़िंदा वघार देना !'

'ज़िंदा वघार कैसे दिया जाता है ?'

'चम्मच को खूब गरम करके ।'

मैं चम्मच गरम करके हमेशा की तरह वघार देने लगी। ससुरजी विगड़ पड़े ।

'तू पत्थर होती तो तेरा पाखाने की सीढ़ी के लिए उपयोगी हो जाता ।'

'कौन जाने, पाखाने की सीढ़ी के लिए उपयोग होता अथवा भगवान् की मूर्त्ति वनाने के काम आती !' परंतु मैंने यह मन-ही-मन कहा।

ससुरजी वोले—'तेल से ज्वाला निकलने पर वघार देना चाहिए।' मैंने तेल से ज्वाला निकालने के लिए एक जलती हुई लकड़ी चम्मच पर पकड़ रखी ! आगे ज्वाला तो वेशक वहुत अच्छी निकली, पर, साथ ही ससुरजी भी काफ़ी गरम हो गए !

एक तो कोकण[2] की खाने की चीज़ें हमारे देश की चीज़ों से भिन्न, दूसरे उन चीज़ों के नाम वड़े अजीव, और तीसरे ससुरजी के ताने; इनके कारण मैं वड़ी परेशान हो जाती ।

एक वार ससुरजी ने मुझसे 'आयती' वनाने के लिए कहा। मैंने सोचा कि ससुरजी कहीं यह तो नहीं कहना चाहते कि मैं आयती (अनायास) वैठी खा रही हूँ ? एक वार उन्होंने कहा—'पेज-डुव्वा' भात वनाओ। मैंने 'पन-डुव्वा' शव्द सुना था। परंतु, यह मैं न समझ पाई कि 'पेज-डुव्वा' का क्या मतलव था, अंत में मुझे एक गुरुआइन मिल गई। कुए के नज़दीक एक मकान था। उसमें गंगावाई नाम की एक महिला रहती थी। ससुरजी मुझसे कुछ वनाने को कहते, तो मैं घड़ा उठाकर कुए से पानी लाने भागती और पानी खींचते-खीचते गंगावाई से धीरे से पूछ लेती। गंगा

---

१. वघारी गई खट्टी दाल ।

२. महाराष्ट्र का वह भूभाग, जो पश्चिमी समुद्र के किनारे है ।

चाची मुझे सब-कुछ समझा देती। 'चाचो, "पेज-डुब्बा" भात कैसा होता है ?'

'अरी, भात में बहुत-सा पानी छोड़ दे। बस, बन गया पेज-डुब्बा भात !'

मैं हँसते-हँसते घर आई और जैसा ससुरजी चाहते थे, वैसा भात बनाकर उन्हें परोसा। फिर वह जब-जब मुझसे कोई विचित्र चीज़ बनाने को कहते, तब-तब मैं गंगा चाची से पूछकर उसे इतनी आसानी से बना देती, जैसे मैं बचपन ही से उसे बनाना जानती हूँ।

तिलक ने यहाँ भी एक पाठशाला खोली। वह अब इस काम में बड़े कुशल हो गए थे। अँग्रेज़ी पढ़ाने में तो वह सिद्धहस्त थे। वह विद्यार्थियों को अपने मित्र और भाई-जैसा मानते। उनकी पाठशाला वेतन वाली पाठशाला न थी। अपने विद्यार्थियों से वह पुत्रवत् स्नेह रखते और विद्यार्थी भी पिता की तरह उनका आदर करते। उन्हें 'फ़ीस' भी काफ़ी मिल जाती।

पर, मेरी हालत बड़ी अजीब-सी हो गई थी। मेरी हलचलों पर ससुर-जी का हमेशा ध्यान रहता।

मेरा जन्म जैसे बिलकुल खाने के लिए ही हुआ हो ! मुझे ससुरजी की छोटी-मोटी आज्ञाओं की याद न रहती। जब पुरुष भोजन कर चुकते, तब मैं जूठन समेटकर, गोबर का लौंदा बरतनों के पास रखकर हाथ धोती, फिर अपने लिए भोजन परोस लेती। मेरे एक-दो कौर खाने तक ससुरजी मुझसे कभी कुछ न कहते। परंतु, दो-चार कौर गले के भीतर उतर जाने के बाद वह कहते—

'लक्ष्मीबाई, देखो, यह गोबर का लौंदा बरतनों के पास पड़ा है। ज़रा उसे उठाकर दूर फेंक दो।' तब मैं अपनी थाली को एक ओर हटा देती, अपने स्थान से उठती और गोबर का लौंदा बाहर फेंक आती। ससुरजी का हमेशा यह कहना था कि गोबर का लौंदा बरतनों के पास नहीं रखना चाहिए। लेकिन, मैं ठीक यही बात भूल जाती।

फिर भोजन करने बैठती, तो वह कहते—

'लक्ष्मीवाई, तुलसी को जल चढ़ा दिया ?' तव मैं फिर उठती। यह काम मैं रोज़ भूल जाती और उन्हें करने के लिए मुझे भोजन करते समय रोज़ वीच में उठना पड़ता।

यह तो हुआ दिन का कार्य-क्रम। रात का भी कार्य-क्रम था ही। ससुरजी कहते—

'लक्ष्मीवाई, खाना खाने से पहले मेरा विस्तर विछा देना। मेरे टीन के डिब्बे में पानी भर देना। भूलना नहीं। समझीं ?'

रात को वड़ी देर में खाना खाया जाता था। जी चाहता कि खाना खाने के वाद ही विस्तर विछाऊँ। परंतु, मुश्किल से गले के नीचे दो कौर उतारती कि ससुरजी कहते—

'लक्ष्मीवाई, मेरा विस्तर तो विछा दो ज़रा।' कि वस उठी लक्ष्मी-वाई। 'सोला'[1] उतारकर, 'ओला'[2] पहनती, ससुरजी का विस्तर विछाती और फिर सोला पहनकर भोजन करने वैठती।

एक वार मैं रसोई वना रही थी कि कुछ विद्यार्थी आ पहुँचे और वोले—'अजी भाभीजी ! ओ भाभी ! दादाजी उधर नाना (तिलक) का और आपका वारहवाँ और तेरहवाँ कर रहे हैं न !'

मैं झट उठी और यह देखने के लिए कि मामला क्या है मंदिर में गई। वहाँ जाकर क्या देखती हूँ कि ससुरजी अटारी से पूजा का एक-एक वरतन नीचे फेंक रहे हैं, जो सीधा आकर राम-मंदिर के सभा-मंडप में गिर रहा है। फेंकने के साथ प्रत्येक वार वह कहते जाते--

'मेरी वहू मर गई। उसका आज वारहवाँ है। मेरा पुत्र मर गया। उसे तिलांजलि दे रहा हूँ।'

---

१. स्नान के उपरांत पवित्रता की दृष्टि से पूजा एवं अन्य धार्मिक क्रियाओं में पहना जाने वाला एक विशेष वस्त्र, जो अधिकतर रेशम या 'कोसे' का होता है।

२. रोज़ के पहनने के मामूली वस्त्र, जो सूती होते हैं और जो विशेषत: भोजन और पूजन के अवसर के लिए पवित्र नहीं माने जाते।

बात यह हो गई थी कि बरतनों में दाग़ पड़ गए थे। बरतन थे ताँबे के, पानी कुए का, राख लकड़ी की और दिन बरसात के। इसलिए, मैं उन्हें चाहे जितना साफ़ माँजती, फिर भी उन पर बादल छा ही जाते।

मैं अटारी पर गई। वहीं पाठशाला के एक कोने में ससुरजी ने अपने ठाकुरजी रख छोड़े थे। मैंने ऊपर जाकर सारे बरतन इकट्ठे किए। ससुर जी मेरे पीछे-पीछे आए।

'तूने बरतन माँजे थे ?'

'हाँ।'

'खा मेरी सौगन्ध !'

'आपकी सौगंध, मैंने माँजे थे !'

'मैं मर जाऊँ, तो कौन तेरी आँखों में आँसू आने वाले हैं ? पकड़ अपना 'मंगल-सूत्र' (सुहाग-चिह्न) हाथ में और खा उसकी सौगंध !'

मैंने मंगल-सूत्र हाथ में पकड़कर उसकी सौगंध खाई। जब मेरी ग़लती थी ही नहीं, तब मुझे भय किस बात का होता ?

'ठहर ! मैं स्त्रियों की सभा बुलाता हूँ और उसमें इन बरतनों को रखकर उनकी राय पूछता हूँ। वे धिक्कार देंगी तुझे अच्छी तरह से !'

परंतु, मेरा विश्वास था स्त्रियाँ मुझे कभी धिक्कार न देंगी।

'पकड़ मेरे चरण और खा सौगंध। देख, अगर चरणों को हाथ लगाया, तो जलकर भस्म हो जायगी।'

मैं उनके चरण छूने लगी, तो वह पीछे हटने लगे।

'देख, व्यर्थ जल जायगी।'

'कोई हर्ज नहीं। आपके चरणों से यदि मृत्यु आ जाय, तो कोई बुरा नहीं !'

अंत में मैं औंधी पड़ गई और मैंने उसके चरण कसकर पकड़ लिए। मैं जलकर मरी नहीं। बड़ी निराशा हुई मुझे। मैं भी सोच रही थी कि यदि मर जाऊँ, कितना अच्छा हो। परंतु या तो ससुरजी की उतनी तपस्या न थी या मैंने बरतनों को सचमुच माँजा था, इसलिए, मैं उस दिन जलकर

नहीं मरी।

परंतु, इस आग में तिलक की सहानुभूति की आर्द्रता मिलने के कारण दुःख में भी सुख था।

नीचे लिखी बात तो मैं कभी नहीं भूलूंगी।

सामने वाला कुआ सूख गया था और पानी लाने खेत के कुए पर जाना पड़ता था। वहाँ दिन में बड़ी भीड़ हो जाती। ससुरजी ने कहा कि रात को जाकर पानी ले आया कर। मुझे अँधेरे में डर लगता। परंतु, ससुरजी को इसकी कोई परवाह न थी। उन्होंने मुझसे कहा—'तुझे यदि कोई खाने आय, तो उससे कह देना कि मेरा ससुर मंदिर में बैठा है, पहले जाकर उसे खा ले, फिर मुझे खाना।'

परंतु, तिलक ने मुझसे कहा—'डरो मत। मैं पानी ले आया करूँगा।' रात होती, तो सचमुच वह टहलने के बहाने सामने के द्वार से बाहर निकलते और मैं पिछवाड़े के द्वार से पानी लाने बाहर निकलती। बाद में मैं घर से थोड़ी दूरी पर रुक जाती और उनके द्वारा कुए से भरकर लाए गए पानी को घर में लाकर भरती जाती! ससुरजी सोचते कि बहू बड़े आत्म-विश्वास के साथ पानी भर रही है।

ससुरजी मुझे ऊपर लिखे अनुसार तंग करते। परंतु, दो बातों में मुझे उनके गुण अनुकरणीय प्रतीत होते। एक तो उन्होंने मुझसे कभी कोई अपशब्द नहीं कहा और मेरे बदन को हाथ नहीं लगाया। वैसे कभी-कभी किसी-किसी से वह मेरी प्रशंसा भी करते।

लेकिन, वह कभी एकाध बार ही। उनसे जाकर माँगती, तो उनका पारा एकदम बहुत ऊँचा चढ़ जाता। तेल और 'सीकाकाई' मुझे कभी न मिली। मैं माँगती, तो वह कहते कि मज़दूरी करो, किसी के घर जाकर गेहूँ पीसो और ले आओ सीकाकाई और तेल। इस पर मैं मिट्टी ही से अपने केश धो लेती। उसमें भी कभी-कभी ऐसा होता कि मैं नहाने बैठती और सिर ही पर पानी डाल पाती कि मेरे पास का गरम पानी वह उठाकर ले जाते और उससे स्वयं नहाने लगते! बचा हुआ स्नान मुझे शीतल जल ही से करना

पड़ता।

तेल और सीकाकाई के नित्य के झगड़े में वह मुझे एक बात सुनाया करते—

'एक बार ईंधन खत्म हो गया था। मेरी पत्नी गर्भवती थी, फिर भी, मैंने उससे लकड़ियाँ फुड़वाईं। फिर तू किस खेत की मूली है? मेरी पत्नी मुझे उलटकर जवाब नहीं देती थी। घर का सामान खत्म होने लगता, तो बचा हुआ सामान चुपचाप मेरे सामने लाकर रख देती। इसमें मैं समझ जाता कि सामान खत्म हो गया है! परंतु, आजकल की तुम लड़कियाँ बड़ी उद्धत हो। यह तुम नहीं जान सकतीं कि बड़े-बूढ़ों से कैसे पेश आना चाहिए।'

तिलक की कवि के रूप के अब प्रसिद्धि होने लगी थी। बंबई-पूना तक उनका नाम सुनाई पड़ने लगा। मुझे यद्यपि घर में कष्ट थे, फिर भी उनकी दृष्टि से अब ये अच्छे दिन आए थे।

उन्हें किसी विषय पर व्याख्यान देने बंबई बुलाया गया था। यह कहकर कि आठ दिन के भीतर लौट आऊँगा तिलक बंबई गए। पर, जो गए, सो वहीं रम गए। आठ दिन हुए, दस दिन बीते, पन्द्रह दिन गुज़र गए, फिर भी उनका न तो कोई पता चला और न कोई पत्र आया।

मुझे बड़ी चिन्ता होने लगी। मेरी आँखों के आँसू रुकते न थे। इससे तो ससुरजी बुरी तरह मेरे पीछे पड़ गए कि उन्होंने सरदारगृह (बंबई के मशहूर होटल) का पता दिया था ससुरजी कहते—

'आज तेरे पति का पत्र आया है।'

'अच्छा!'

'उसे सरदारगृह में धोतियाँ धोने की नौकरी मिल गई है।'

'अच्छी बात है। मैं उन्हें सुखाने के लिए फैला दिया करूँगी।'

'वह वहाँ थालियाँ परोसने का काम करता है।'

'मैं जूठन समेटा करूँगी। मुझे आप बंबई पहुँचा दें।'

'मेरे पास रुपए नहीं हैं। तू जाना चाहती है, तो किसी तरह चली जा।

लेकिन, बंबई मुरवाड़ नहीं है। वहाँ किसी कंकड़ की तरह तेरा पता भी न लगेगा।'

एक दिन मैं बहुत रोई। ससुरजी को मुझ पर दया आई। वह मेरे नज़दीक पटा बिछाकर बैठ गए।

'लछमी, मेरे कोई बहुत बेटियाँ नहीं। सिर्फ़ एक ही है। एक मर गई। तू मेरी दूसरी बेटी ही है। जैसी सूख, वैसी तू। रो मत। यदि वह चला गया है, तो जाने दे उसे। कल हरतालिका (तीज) है। तू शाम को दो सुहागिनें 'आयरण'[1] के लिए बुला लेना। लड्डू बनाना। मैं तुझे सारा सामान लाए देता हूँ।'

यह कहकर बाज़ार गए और बेसन के लड्डुओं के लिए सारा सामान लाकर उन्होंने मेरे हवाले कर दिया। मैंने सब तैयारी की। लड्डू बनाए। लड्डू तैयार होते ही ससुरजी ने तीन लड्डू डिब्बे से बाहर निकालकर रख दिए, डिब्बा अपने संदूक़ में रख लिया और संदूक को ताला लगा दिया। न्योते में आई हुई स्त्रियों को तीन लड्डुओं ही की दावत दी गई!

जो स्त्रियाँ न्योते में आई थीं, ससुरजी उनसे मेरी शिकायत करने लगे—

'लछमी चुराकर खाती है!'

इस पर गंगाबाई काफ़ी गरम हो गई। 'क्या चुराकर खाती है जी? तुम्हारा तो सब माल ताले में बंद रहता है। फिर क्या चुराकर खाती है? क्या लकड़ियाँ खाती है या मिट्टी का तेल पीती है?'

तात्पर्य यह कि तीज का त्योहार इस प्रकार सम्पन्न हुआ। वह यह बताना चाहते थे कि उन्होंने लड्डू क्यों उठाकर रख लिए थे। परंतु, उपर्युक्त भूमिका बाँधते ही दाँव उन्हीं पर उलट गया।

एक दिन ससुरजी कहीं बाहर गए थे। अड़ोस-पड़ोस के लड़के आकर इकट्ठे हो गए और उन्होंने ससुरजी की दावात औंधी कर दी। मैं पड़ोस

---

१. तीज के पहले दिन की शाम का भोजन।

में मिलने गई थी। वहाँ वे लड़के दौड़ते-दौड़ते आए और कहने लगे — 'भाभी, भाभी, दादाजी की दावात औंधी हो गई।' मैं घबराकर उठी और जाकर फैली हुई स्याही पैरों से पोंछकर वापस आई। मेरे पैरों के निशान धरती पर उछल आए।

ससुरजी घर लौटे और स्याही फैली हुई देखकर आग-बबूला हो गए। कोई लड़का यह स्वीकार नहीं करता था कि उसने स्याही फैलाई है। तब उन्होंने हर व्यक्ति का पैर, पैर के उछले हुए निशान पर रखकर जाँच की, और अंत में गरजते हुए ही वह रसोईघर में आए!

'चल अटारी पर।'

आज्ञानुसार मैं अटारी पर गई।

'यह स्याही किसने फैलाई है?'

'मैं नहीं जानती!'

'यह पैर किसका है? रख उस पर अपना पैर! बता तूने स्याही फैलाई है या नहीं?'

'मैंने नहीं फैलाई।'

'तूने ही फैलाई है। यह सरकारी स्याही थी। तुझे वह भर देनी होगी।'

ससुरजी पटवारी थे।

'मैं कैसे भरूँ?'

'मजदूरी करके, चक्की पीसकर।'

उनके इस तकियाकलाम से मेरा अच्छा परिचय हो जाने के कारण उसकी मुझे कोई परवाह न हुआ करती थी और वैसा मौक़ा भी भगवान् की कृपा से मुझ पर कभी नहीं आया।

ससुरजी ने दो पत्र लिखे। एक तिलक को बंबई लिखा और दूसरा गोविंदरावजी को जलालपुर लिखा।

तिलक को लिखा—'तेरी औरत रात को बाहर जाती है और सुबह लौटती है। तू आकर उसे ले जा। मुझ पर कोई जिम्मेदारी नहीं। नहीं तो

आज ही उसे तिलांजलि दे दे ।'

गोविंदराव मामा को लिखा—'तुम्हारा दामाद बहुत बिगड़ गया है। वह कई प्रकार के दुर्व्यसनों का शिकार हो गया है। उसने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया है। वह भाँग, गाँजा, चरस और चंडूल पीता है। तुम्हें अगर अपनी बेटी की ज़रूरत हो तो तीन दिन के भीतर आकर उसे ले जाओ। वरना, मैं उसे कहीं भी छोड़ दूंगा।'

तिलक का मुझ पर पूर्ण विश्वास था और पिता के स्वभाव से भी वह पूर्ण रूप से परिचित थे। इसलिए, ससुरजी के पत्र का तिलक पर कोई असर न हुआ।

मामा और बुआजी अवश्य पत्र पहुँचते ही बहुत घबरा गए। बुआजी बोलीं—'यह तो समझ गई कि दामाद भाँग और गाँजा पीता है, पर चंडूल कैसे पीता है ? चंडूल उसके हाथ कैसे लगता है ? कहते हैं कि चंडूल तो आकाश में उड़ता है।'

इस पर मामा ने कहा—'चंडूल यानी चंडू पीता है। चंडू यानी अफ़ीम, तब तो वह अधिक ही घबरा गईं।

नाना इस समय बीमार थे। उनका कोई भरोसा न था। इस दुविधा में वे दोनों पड़ गए कि उन्हें उसी हालत में छोड़कर लड़की के पास जायँ अथवा उनके पास बैठकर लड़की को हाथ से खो दें।

अंत में मामा ने धीरे-से नाना से पूछा—'क्या मनी को जाकर ले आऊँ ?'

नाना के 'जा' कहते ही अपने मन की बात पूरी होती देखकर मामा फौरन मुरवाड़ जाने के लिए रवाना हो गए। तिलक को जो पत्र भेजा गया था, उस पर उन्हें ज़रा भी विश्वास न हुआ। परंतु, उनके मन में यह आशंका उत्पन्न हुई कि पिताजी की बातों से ऊबकर मेरी पत्नी ने आत्म-हत्या कर ली होगी और इसीलिए पिताजी ने मुझे ऐसा पत्र लिखा है। इसलिए वह भी मुरवाड़ के लिए तुरंत रवाना हो गए।

इधर ससुरजी इस आनंद में मग्न ही थे कि लड़के या समधी

में से कोई-न-कोई आकर देश की असगुनी, कोकण की रसोई न बना सकने वाली अपढ़ बहू को यहाँ से ले जायगा। और उधर वे दोनों चिन्ता से बेचैन होकर मुरवाड़ का सफ़र कर रहे थे।

बंबई मुरवाड़ के नज़दीक था। इसलिए, तिलक की रेल-यात्रा तुरंत समाप्त हो गई। ससुरजी घर में बैठें हुए अपने मित्रों में ज़ोर-ज़ोर से गप्पें हाँक रहें थे। घर पहुँचते ही तिलक ने पहला प्रश्न किया—

'दादा, आप कैसे हैं ?'

'मुझे क्या हुआ है ? तू अपनी औरत को ले जा। मैं उसे अपने पास नहीं रखना चाहता। वह तुझसे मेरी बहुत-सी चुगलियाँ करेगी, पर, तू उसकी एक न सुनना। वह मुझसे कभी बात तक नहीं करती।' वह और भी कहे ही जा रहे थे, परंतु, आगे कुछ सुनने के लिए तिलक वहाँ रुके ही नहीं। वह तत्काल रसोईघर में आए। मैं वहाँ बैठी हुई रो रही थी। उन्होंने मुझे समझाया और कहा—'बंबई में मुझे नौकरी मिल गई है और हम दोनों कल सुबह बंबई चलेंगे।' मेरे आनंद की सीमा न रही। ससुरजी को भी खुशी हुई और दूसरे ही दिन हम बंबई जाने के लिए घर से निकल पड़े।

हमने सुबह मुरवाड़ छोड़ दिया और उसी दिन शाम को गोविंदराव मामा मुरवाड़ पहुँचे !

यह देखते ही कि मैं मुरवाड़ में नहीं हूँ उनके छक्के छूट गए। ससुरजी ने उनसे ठीक ढंग से बात नहीं की। उन्होंने मामा से इतना ज़रूर कहा कि तुम्हारी बेटी अपने पति के साथ बंबई चली गई। उन्होंने बंबई का हमारा पता पूछा, तो कह दिया कि मैं नहीं जानता।

हमारे पीछे-पीछे मामा ने भी बंबई की राह पकड़ी। वह बंबई पहुँचे ज़रूर, पर मुझे खोजें कहाँ ? वह तीन दिन बिलकुल पागलों की तरह रास्तों की कोठरियों की ओर देखते हुए जूतियाँ चटकाते घूमते रहे।

हमने अपनी गृहस्थी गिरगाँव के कमरे में बसाई। तिलक ने घर में सामान लाकर डाल दिया। मैंने उसे कायदे और तरीके से जमाने की

ज़िम्मेवारी अपने ऊपर ली। परंतु, बंबई की अपूर्वता ने मुझ पर इतना जादू कर दिया था कि यदि बाहर कोई नमक बेचने वाला या पुरानी ज़री बेचने वाला 'लौ नमक' अथवा 'लो पुरानी ज़री' की आवाज़ लगता, तो मैं फौरन बाहर जाकर झाँकती।

इसी तरह एक बार मैं बाहर झाँककर सड़क की ओर देख रही थी कि मुझे मुँह बाए ऊपर नज़र किये चल रहे मामा दिखाई दिए। मैंने ज़ोर से पुकारा—'मामा!'

'मनी!' कहकर नीचे से मामा ने मेरी पुकार का जवाब दिया।

हम दोनों को इतना आनंद हुआ कि कुछ न पूछो!

थोड़ी देर के बाद ससुर और दामाद की भेंट हुई। मामा को देखकर तिलक को बड़ी खुशी हुई। मामा ने तिलक से नाना के सख्त बीमार होने का समाचार कहा और मुझे जलालपुर ले जाने की अनुमति माँगी। यह संभव न था कि तिलक इन्कार कर देते। दूसरे दिन फिर मैं बोरीबंदर पर आई।

मामा ने मुझे ज़नाने डिब्बे में बैठा दिया और हर स्टेशन पर आकर वह मेरी पूछ-ताछ करने लगे। मैं उनसे 'सब ठीक है' कहती रही। पर, सच बात कुछ और ही थी।

सिंहस्थ का वह अंतिम महीना था। डिब्बा भाटियों-गुजरातियों की स्त्रियों से पूरा भरा हुआ था। हर एक की भुजाएँ मोटी-मोटी थीं! कोई मुझे बैठने को भी जगह न दे रही थी। उन सब भाटियों के बीच मैं एक छोटे-से चूहे की तरह फँस गई थी, फिर भी चूहे की 'चूँ-चूँ' की तरह मैं बीच-बीच में उनसे कहती—'स्टेशन आने दो, मैं स्टेशन-मास्टर से कहूँगी।' पर इतने से वे क्या बाज़ आने वाली थीं! उनकी तनाकशी और चिकोटी काटना जारी ही था। कल्याण छोड़ने के बाद धीरे-से एक औरत का लड़का गोद में लेकर मैं उसे खिलाने लगी। मुझे बैठने को थोड़ी-सी जगह मिल गई। परन्तु, धीरे-धीरे डिब्बे के सभी बच्चे मेरे बदन पर आ पड़े। अस्तु!

यह क्या कम था कि वच्चों को खिलाते हुए ही क्यों न हो, किन्तु कुशलपूर्वक अच्छी तरह बैठी हुई, मैं नासिक पहुँच सकी।

नासिक स्टेशन पर उतरने के बाद ताँगे वाले शहर तक जाने के लिए पाँच रुपए सवारी माँगने लगे। मामा के पास उतने रुपए न थे। वह कहते—'तू जा ताँगे से।' मैं कहती—'आप जाइए। मैं पैदल चलूँगी।' इस तरह करते-करते आखिर यह तय हुआ कि दोनों ही पैदल चलें।

यह अवश्य सच है कि हम लोगों में वात करने के संवंध में विवेक-दृष्टि नहीं होती। मैं और मामा, दोनों, कठिन परिश्रम से बहुत थक गए थे। स्टेशन से चिलचिलाती धूप में छह-सात मील पैदल चलकर नासिक आए थे। वैसे देखा जाय तो हमें नासिक में थोड़ी देर मुकाम करना था, खाना-पीना था और फिर घर से गाड़ी मँगवाकर आगे छह मील का जलालपुर का सफ़र पूरा करना था। परंतु, शहर में प्रवेश करते ही पुरोहित जी मिल गए। उन्होंने नीचे लिखे अनुसार पराक्रम प्रकट किया।

'क्यों गोविंदराव मामा, कहाँ गए थे?'

'मनी को लाने।'

'कितने दिन हुए?'

'चार।'

'तो जव नाना गोखले मरे, तव तुम शायद यहाँ नहीं थे?'

यह सुनते ही हम दोनों को वहुत बुरा लगा। अव कैसा खाना-पीना, और कहाँ का विश्राम? हम सीधे पैदल ही जलालपुर के लिए रवाना हो गए।

नाना ने यद्यपि कभी प्रेम से मुझ पर सांत्वना का हाथ नहीं फेरा था, फिर भी, मुझे उनकी मृत्यु से अत्यन्त दुःख हुआ। मेरी माँ बारह वर्ष की उम्र ही में मुझे अनाथ कर गई थी। यह सव याद आया!

तिलक को अव वंवई में आकर्षण प्रतीत होने लगा। वहाँ मकान इत्यादि लेने तथा सव सुभीता हो जाने पर कुछ दिनों के वाद तिलक मुझे

लेने के लिए जलालपुर आए। जलालपुर से हमारी लक्ष्मी और नारायण की जोड़ी निकली। अब वास्तव में हमें अपनी नई और सुन्दर गृहस्थी स्वतंत्र रूप से बसानी थी। मैं अपनी नई गृहस्थी के लिए मायके से अधिक-से-अधिक ले जा सकने योग्य सामान ले चलने का प्रयत्न कर रही थी, परंतु, सफ़र में अधिक सामान ले जाने में तिलक की अरुचि थी। वह उसमें बाधा डाल रहे थे। फिर भी, मैं जितने फल और साग अपने साथ ले जा सकती थी, उतने मैंने रख ही लिए।

जलालपुर से हम नासिक आए। वहाँ तिलक की विपुल मित्र-संपदा थी। उस मित्र-संपदा का मज़ा लूटने में तिलक ने दो बार गाड़ी चुकाई। यह निश्चय करके कि अब तीसरी बार गाड़ी नहीं चूकनी चाहिए, हम दूसरे दिन नासिक शहर छोड़कर, नासिक रोड स्टेशन पर आ गए। बिलकुल प्लेटफ़ॉर्म तक पहुँच गए। अब मेरी जान में जान आई। तिलक ने कुली को सामान देकर, उसके साथ मुझे प्लेट-फॉर्म पर भेज दिया और वह टिकट-घर की खिड़की के सामने लगी हुई भीड़ में अदृश्य हो गए। मैं सारे सामान को तरीके से रखकर गाड़ी आते ही झट डिब्बे के भीतर घुसने की तैयारी करके खड़ी हो गई। गाड़ी आई। कुली ने सामान भीतर चढ़ाया मैं भी जाकर भीतर बैठ गई। गाड़ी ने सीटी दी। मैं जल्दी-जल्दी से सामान बाहर फेंककर नीचे कूद पड़ी, क्योंकि तिलक का पता न था!

देखते-देखते सामने से गाड़ी निकल गई। गाड़ी के चले जाने पर तिलक किसी महाशय से बहस करते हुए दिखाई दिए। गाड़ी छूटने तक उन्हें टिकट खरीदने की याद ही न रही। मैं टुकुर-टुकुर देखती खड़ी रही।

स्टेशन ही पर एक दिन बिताकर दूसरे दिन निश्चित रूप से चल देने का विचार हुआ। सामान आदि फिर ठीक से बाँधा गया। तिलक बातें ही कर रहे थे।

जैसे-तैसे हम रवाना हुए। एक-दो स्टेशनों तक कुशलपूर्वक पहुँचे। इतने में तिलक का ध्यान मेरे द्वारा लाए गए फलों और सागों की ओर

गया। जितने फल थे, वे सब उन्होंने डिब्बे में बैठे हुए लोगों में बाँट दिए और सब्ज़ी की एक-एक चीज़ सीधी खिड़की से बाहर फेंक दी !

'सामान का कितना मोह है तुम्हें ? बंबई में माँ-बाप को छोड़कर और सब-कुछ मिलता है ।'—इत्यादि मुँह से वह बक ही रहे थे। स्त्रियों को मायके का तिनका भी महल से अधिक प्रिय होता है। थैलियों में मैंने कुछ दाल-चावल आदि चीज़ें रख ली थीं। सिर्फ़ उन्हीं चीज़ों को बोरी-बंदर के दर्शन हुए।

हम नए घर में आए। सखाराम देवरजी वहाँ हमारी प्रतीक्षा करते हुए दिखाई दिए। सामान फेंक दिए जाने से मेरा मन उदास हो गया था, फिर भी, घर में दाल और चावल मिल गए। उन्हींको पकाकर मैंने अपने नए घर की पहली दावत की व्यवस्था की।

परोसने लगी। इतने में तिलक बोले—'सखाराम, मुकटा[1] पहनो। मैं अभी शौच से निबटकर आता हूँ।' तिलक चल दिए। सखाराम लाला 'सोला' पहने हुए उनकी प्रतीक्षा करने लगे। मैंने परोसा हुआ भात फिर देगची में रखा। आठ बज गए, साढ़े आठ बज गए, तिलक का पता नहीं। लालाजी ने इधर-उधर खोज की। अंत में 'ओला' पहनकर शहर में तिलक के परिचितों के घर उन्हें ढूँढ़ने गए और अंत में घर आकर भूख से व्याकुल होकर निराशा के साथ भाई की बाट जोहने लगे।

हम दोनों गुमसुम बैठे हुए थे। इसी समय हमें आभास हुआ कि नीचे के तल्ले के ज़ीने के नज़दीक वाले कमरे में तिलक कविता गा रहे हैं। सखाराम लाला ने जाकर नीचे देखा तो वहाँ तिलक के काव्य-गायन से जैसे बाढ़ आई हुई थी।

तिलक हर आदमी पर विश्वास कर लेते। यदि कोई पक्का चोर भी होता और वह आकर तिलक से कह देता कि मैं सज्जन हूँ, तो वह उसके

१. रेशमी वस्त्र, जो सोले का काम देता है।

कहने ही से तुरंत उस पर विश्वास कर लेते और उसके पीछे दुनिया से झगड़ा करने से भी बाज़ न आते। उनका कहना था कि मनुष्य जन्म से दुष्ट नहीं होता, परिस्थिति उसे दुष्ट बना देती है। तिलक के इस सद्‌गुण में उन्हींके सहवास के कारण मेरी संशयालु वृत्ति का 'ब्रेक' लग गया था। यदि वह किसी आदमी पर विश्वास करते, तो मैं उस पर निश्चित रूप से अविश्वास करने लगती! इसके कारण हम दोनों में हमेशा अनबन रहती।

मेरी नथ टूट गई। तिलक तुरंत एक सुनार को ले आए और मोतियों को गिनकर उससे नथ गूँथ लाने के लिए कहा। मैंने कहा कि उससे कहो कि वह सोने का तार बना लाय। मोती हम अपने सामने गुँथवायँगे। इस बात को लेकर हम दोनों में खूब खटकी। उन्होंने मेरी बात न मानकर सुनार को गिनकर सोलह मोती दे दिए और उसे रास्ता दिखाया। जब वह चला गया, तब ऊपर से मुझे उपदेश के काफी 'डोज़' पिलाए, नहीं, एक लोटा भर उपदेश पिलाया। परंतु, मुझ पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। दो-तीन दिन तक मेरी आँखों के सामने से मेरी नथ और वह बेईमान सुनार हटता न था।

तीसरे दिन सुनार नथ लेकर आया। उसके द्वारा लाई गई नथ में सोलह के बदले अठारह मोती थे! तिलक मुझसे बोले—'देखा! लोगों पर विश्वास रखना चाहिए। इस मनुष्य ने अपनी गाँठ से दो मोती मिलाए और तुम्हारी नथ बनाकर ले आया।'

यह तिलक ने आगे चलकर बहुत दिनों के बाद स्वीकार किया कि नथ के सारे मोती नकली निकले। परन्तु, कम-से-कम कुछ दिनों तक तो वह सचमुच यही समझते रहे कि सुनार ने अपनी गाँठ के और दो खरे मोती मेरी पत्नी की नथ में गूँथ दिए हैं।

तिलक स्वभाव से बहुत ही शान्त, किन्तु, क्रोधी भी थे! यह नहीं कह सकती कि यह कैसे था। परंतु, वह वैसे थे, यह सच है। और उन्हें क्रोध आने के लिए और फिर शान्त हो जाने के लिए मामूली कारण

ही पर्याप्त हो जाता। चौपड़ खेलते वक्त उन्हें आने वाले गुस्से से उनके वहुत से मित्र परिचित हैं।

मुझसे एक दिन उन्होंने कहा—'आओ, चौपड़ खेलें !' चौपड़ खेलते समय मुझे एक वीमारी हो जाती। और वह थी हँसने की ! तिलक जब हारने लगते, तव मैं हँस पड़ती और जहाँ मैं हँसती कि वह चिढ़ उठते। उस दिन खेलते-खेलते मैं जीतने लगी। साथ ही मेरी हँसी की बीमारी ज़ोर पकड़ने लगी। जैसे-जैसे तिलक के गुस्से का पारा चढ़ने लगा, वैसे-वैसे मेरी वीमारी भी ज़ोर पकड़ने लगी और उस दिन उस वीमारी के कारण सचमुच मौत के मुँह में जाने का वक्त आ गया था। थोड़े ही से वच गई।

गोटें, विसात और पासे सव थर-थर काँपने लगे। कुछ ने नीचे नाली का आश्रय लिया। लगे हुए विस्तर जिधर रास्ता मिला, उधर दौड़ने लगे। सारे सामान ने विद्रोह कर दिया। जहाँ का तहाँ यदि कुछ रह गया था, तो वह थी सिर्फ़ स्त्री और दीपक ! मामला इतना अधिक वढ़ गया कि अंत में चिराग भी गुल हो गया। दियासलाई कभी की चादर का सहारा लेकर विस्तरों के ढेर में मुँह छिपाकर बैठ गई। फिर भी मुझे मज़ा आ रहा था। मैं और भी अधिक ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी।

अव इस युद्ध-कांड का अंतिम भाग। ज़ीने में किवाड़ न था। तिलक ने मुझे अँधेरे में ढकेल दिया।

मैं ज़ीने से लुढ़कती हुई नीचे धरती पर जा गिरी। तिलक का क्रोध ठंडा हो गया और मेरी हँसी भाग गई। तिलक घवराए हुए दियासलाई खोजने लगे। वह मिलती ही न थी। अंत में अँधेरे ही में टटोलते हुए वह नीचे आए और मुझे उठाकर ऊपर ले गए। विद्यानंद के समय मुझे वह सातवाँ महीना था।

यह वात तिलक के ध्यान में आई कि मैं अव वाप वनूँगा और उन्होंने मुझे मायके भेज भेज दिया। मुझे भेज देने के वाद उन्होंने भी वंवई छोड़ दी और इसका कोई पता न था कि छह महीने तक वह कहाँ गायव रहे।

बुआजी और मामा ने मेरा यथासंभव अधिक-से-अधिक लाड़-प्यार किया। मेरे सारे दोहद (सगर्भावस्था की इच्छाएँ) पूरे किए। परंतु, मुझे निरंतर तिलक की चिन्ता लगी रहती। ऐसा नहीं लगता कि मेरा एक क्षण भी उनकी चिन्ता के बिना वीता हो।

हमारे इन चिन्ता के दिनों में मामा और बुआजी के लिए अत्यन्त आनंददायक घटना घटी। उनके नाती हुआ।

पेंडसे के घर हमारा निवास

हमारा निवास अपनी वहन के घर बार-बार हुआ करता। भिकूताई मेरे लिए माँ की तरह थी; क्योंकि उसकी और मेरी उम्र में पन्द्रह-सोलह साल का अन्तर था। उसकी इकलौती वेटी घारुमाई लगभग मेरी ही उम्र की थी। इस कारण मुझे सगी वहन की तरह लगती। हम दोनों एक-दूसरे से अत्यन्त प्रेम करती थीं।

नाना साहव इस समय करमाल में तहसीलदार थे।

हमारे बंबई में रहने के दिनों घारुमाई का विवाह निश्चित हुआ। नाना साहब के घर का यह पहला और अन्तिम कार्य था। उन सबको इसका वड़ा शौक़ था और उनके पास धन भी काफ़ी था, इसलिए यह निश्चित था कि यह समारोह वड़ी धूम-धाम से होगा। नाना साहव के भतीजे बालासाहव पेंडसे बंबई में रहते थे। पेंडसे ने तिलक को विवाह में सम्मलित होने के लिए वड़े आग्रह के साथ निमंत्रण-पत्र भेजा। तिलक ने मुझसे कहा—'तुम तैयारी करो। शाम को बाला आयगा। उसके साथ तुम्हें घारु के विवाह के लिए करमाल जाना है।' इतना कहकर तिलक बाहर चल दिए। मैं तैयारी क्या करती? बहन के घर का यह पहला मंगल-कार्य था। भानजी मेरी वड़ी लाडली थी। उसके विवाह में सिर्फ़ हाथ हिलाते हुए कैसे जाते? मेरे बदन पर एक भी ज़ेवर नहीं था और तिलक बिलकुल अकिंचन। शंकर और पार्वती के जीवन की इसी तरह की एक घटना का स्मरण आने से मुझे हँसी आई और मैं रो भी पड़ी।

इतने में वस्त्रों के नमूने लेकर एक आदमी आया। तिलक ही ने उसे भेजा था। यह मैंने तय कर लिया कि कौन-कौन-से वस्त्र खरीदने चाहिएँ, परंतु, उन्हें ख़रीदती कैसे? बिलकुल शाम हो गई, पर तिलक नहीं लौटे। वस्त्र लाने वाला आदमी ज़रूर ऊबकर अपनी दूकान समेटकर वापस चला गया।

तिलक आए, सो वाला साहव को साथ लेकर ही आए। वाला साहब चलने की जल्दी करने लगे। उसके सामने मैं तिलक से रुपयों के बारे में कोई वात नहीं कर सकती थी। कपड़ा नहीं ख़रीदा था, तो न सही। पर, कुछ रुपए तो कम-से-कम पास होने चाहिएँ थे! अंत में इस ढंग से कि सिर्फ़ तिलक ही सुन सकें मैंने धीरे से कहा—

'मुझे कुछ—'

'तुम कोई चिन्ता न करो। मैंने वाला साहब से सब कह रखा है। तुम्हें जिस चीज़ की ज़रूरत हो, उनसे माँग लेना।'

तिलक ने मेरे धीरे-से पूछे गए प्रश्न का वड़े ज़ोर से उत्तर दिया। इस पर वाला साहव वोले—'तुम अव देर करके कहीं गाड़ी न छुड़वा देना। इसकी हम आगे पूछ-ताछ करेंगे कि क्या है और क्या नहीं। तुम पहले जल्दी से तैयार तो हो जाओ!'

मेहमान पन्द्रह दिन पहले ही से एकत्र होने लगे थे। स्टेशन पर चपरासी और नाश्ते का भी इंतज़ाम था। गाड़ी पहुँचते ही चपरासी ने पूछा—'मनूताई आई है क्या?'

नाना साहव की वहन गोदूताई नाश्ते के पास थीं।

गोदूताई ने सोचा कि देखो, मैं आई थी, तव किसी ने पूछ-ताछ नहीं की थी। परंतु, भिकूताई की वहन की पूछ-ताछ की गई। सच पूछा जाय तो चपरासी गोदूताई की ही दूर से आने वाली मनूताई नाम की एक चचेरी वहन के वारे में पूछ-ताछ कर रहा था। इस चचेरी वहन से मिले नाना साहव को वारह वर्ष हो चुके थे, इसलिए एक-दूसरे के मुँह एकदम प्रत्यक्ष न देखकर हनुमान जी के मंदिर में जाकर काँसे के वरतन में तेल भरकर,

बीच में पर्दा डालकर, उस तेल में पहले एक-दूसरे के मुँह देखकर, फिर घर जाना था—ऐसा कोई शास्त्र-विधान था। इसीलिए, उन मनूताईजी की पूछ-ताछ चपरासी कर रहा था।

गोदूताई ने कहा—

'आई हैं।' मनूताई आई हैं—फनूताई आई हैं। सब आई हैं।'

मुझे गोदूताई की बात का बहुत बुरा लगा। मैंने अनुभव किया कि मैं ग़रीब हूँ, इसलिए, चाहे जो मेरा अपमान कर सकता है, यह निश्चित ही है।

करमाल पहुँची, तो देखा कि हर व्यक्ति अपने-अपने काम में व्यस्त और अपने ही विचारों में खोया हुआ है। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही आभास हो रहा था। पहले स्टेशन ही पर गोदूताई के 'मनूताई-फनूताई' शब्द सुने थे, उस पर इतनी दूर से आई हुई मैं ! परंतु, मेरी किसी ने पूछ-ताछ तक न की !

सब लोगों के साथ मैंने खाना खाया। घर की मेहमान-स्त्रियों ही में घारूमाई को हृदय से चिपकाकर मैं सो गई। 'मैं ग़रीब हूँ। इसलिए, मेरा ऐसा अपमान होता है। बहन भी मुझसे बोलने को तैयार नहीं है। क्योंकि, वह अमीर की पत्नी है। वह तहसीलदारिन है। वह भला मुझसे क्यों बोलेगी ? मेरे बदन पर सोने के ज़ेवर होते, तो सब मेरी पूछ-ताछ करते, मुझे घेरे रहते।' एक ओर ऐसे विचार मेरे दिमाग़ में घूमते रहे और दूसरी ओर धीरे-धीरे रोती हुई मैं ग्यारह बजे तक बिस्तर पर पड़ी रही।

आधी रात के लगभग हाथ में दीपक लिये भिकूताई मेहमानों के बीच आई और प्रत्येक स्त्री का मुँह देखती हुई मेरे पास पहुँची। उसने मेरे बदन पर हाथ रखा और थोड़ी देर तक वह उसी स्थिति में बैठी रही। मैं जाग ही रही थी। परंतु, यह सोचकर कि मुझे नींद लगी है वह मुझे धीरे-धीरे पुचकारने और पुकारने लगी।

मैंने एकदम उसका हाथ झटक दिया और कहा—'मैं तेरी बहन नहीं, तू क्यों आई है ? मेरे शरीर पर सोने के ज़ेवर थोड़े ही हैं ?'

भिकूताई को रोमांच हो आया। वह बोली—'मनी, अरी पगली! क्या तू मेरे लिए सोने के ज़ेवरों से अधिक मूल्यवान नहीं है? नाना और माँ की मृत्यु के बाद आज दो-तीन वर्षों में पहली ही बार तू मुझसे मिल रही है। पर मैं तुझसे कैसे बोल सकती थी? काम छोड़कर मेहमानों के सामने मैं तेरे साथ बैठकर रोती, तो क्या मुझे शोभा देता? वे मुझे क्या कहते?'

भिकूताई की यह बात सुनकर मुझे कुछ अच्छा लगा। दूसरे दिन भिकूताई ने अपने सारे गहने उतारकर मुझे पहना दिए। मुझे एक अच्छी साड़ी पहनने को दी। चार दिन विवाह-समारोह बड़ी धूम-धाम से हुआ। मैंने भी बाद में चार दिन बड़े आनंद में बिताए। भिकूताई का विचार था कि अब लड़की के साथ गौनहार की हैसियत से मैं ही भेजी जाऊँ। उसने नाना साहब से इस विषय में बात की। 'मनी को अब कम-से-कम दो महीनों के लिए तो रख लीजिए।' परंतु नाना साहब ने मुझे उसी दिन वापस भेज देने का आग्रह किया। 'धारू के साथ दूसरी कोई लड़की चली जायगी। आज मनी के लिए साथ है, इसलिए उसे उसके घर जाने दो।"

भिकूताई ने कहा—'तीन साल के बाद तो बहन मिली है। उससे अच्छी तरह बातें करने को भी समय नहीं मिला। उसे कैसे जाने दूँ?'

अंत में नाना साहब ने सच बात बता दी, 'इन चार दिनों में तिलक के चार तार आए हैं। ठीक विवाह के दिन दो तार आए। उस समय मैंने जान-बूझकर कुछ नहीं बताया। परंतु, अब तो मनू को एक दिन भी अधिक नहीं रख सकता।'

फलतः भिकूताई का मुँह बंद हो गया और उसी दिन मैं बंबई के लिए रवाना हो गई।

घर आकर देखा, तो तिलक को मामूली जुकाम हुआ था। मैं बहुत बिगड़ी। तिलक ने मुझे समझाया और अंत में मुझे जलालपुर—मेरे मायके—पहुँचा दिया।

इसके कुछ दिनों बाद मेरे पहले पुत्र विद्यानंद का जन्म हुआ।

इस समय के लगभग नासिक, नागपुर, बंबई आदि शहरों में वक्तृत्व-समारोह हुआ करते थे। उत्तम वक्ताओं को नकद रुपए पुरस्कार में मिलते थे। तिलक को भाषण देने का वड़ा शौक़ था और ऐसे समारोहों में भाषण देकर वह लगभग हमेशा ही पुरस्कार प्राप्त करते थे। नागपुर में वक्तृत्व-समारोह था। तिलक ने अपने ससुर से नागपुर जाने की बात कही। इस आशा से कि तिलक कुछ रुपए लायँगे, उन्होंने उन्हें किराए के लायक रुपए देकर नागपुर जाने दिया। मुझे आशंका हुई कि वह वापस भी आयँगे या कि वहीं कहीं फँस जायँगे। परंतु तिलक तुरंत वापस आ गए। पुरस्कार के सब रुपयों को खत्म करके आते समय सिर्फ़ एक बड़ी थाली वह ले आए थे।

तिलक को खाली हाथ घर लौटा देखकर ससुरजी को बड़ा क्रोध आया। वह बोले—

'अब हम तुम्हारी स्त्री और बच्चे को नहीं सँभालेंगे। तुम उसे चाहे वर्डी में रखो और चाहो तो पिंपली में रखो। हमें इससे मतलब नहीं।' तिलक बोले—'ठीक है। मैं सब इंतज़ाम कर लूँगा। आप कोई फ़िक्र न करें।' मामा चल दिए जलालपुर। अब तिलक मेरी व्यवस्था करेंगे! हम अगर कोई घर छोड़ते, तो ऐसा होता कि वहाँ से सिर्फ़ हम मनुष्य ही हटते। सामान वगैरा जहाँ-का-तहाँ पड़ौसियों को अर्पित कर दिया जाता। अब नासिक में हमारा अपना एक फूटा लोटा भी हमारे पास न था। नाना साहब का घर बड़ा था। परंतु, इसी गड़बड़ में पता चला कि उनकी बदली संगमनेर हो गई है और वे लोग वहाँ जाने के लिए अपना सामान बाँधने लगे हैं।

भिकूताई को मेरी बड़ी चिन्ता हुई। अंत में उसने और उसकी सास ने मुझे भी अपने साथ संगमनेर ले जाने का निश्चय किया। नाना साहब ने तिलक को भी बड़े आग्रह से आमंत्रित किया। इसलिए, तिलक ने सपत्नीक और सपरिवार संगमनेर जाने का निश्चय किया।

नाना साहब पहले चले गए। बाकी हम सब लोग बैलगाड़ी से बाद

में गए।

संगमनेर जाने से पहले भिकूताई ने मेरे लिए गोंद, मेथी आदि के लड्डू आदि जच्चा के लिए उपयोगी अन्य बहुत-सी चीज़ें तैयार की थीं। इन चीज़ों से भरे हुए डिब्बे उसने बुआजी को भेजे।

बुआजी हम सभी लोगों से बहुत नाराज़ हो गई थीं। तिलक पर तो वह सदा ही नाराज़ रहतीं। परंतु, भिकूताई पर उनका क्रोध इसलिए था कि वह सोचतीं कि मनू का लालन-पालन, विवाह और जापा आदि सब-कुछ तो किया मैंने, और अब दूसरों से प्राप्त हुई संपत्ति से उसकी मदद करने को उसकी बहन है! अब उसका मनी से इतना अधिक प्रेम कैसे हो गया? पहले ही क्यों नहीं हुआ? वह सोचती कि मनी को हमने छोड़ दिया, सो क्या हमने उसे सचमुच थोड़े ही छोड़ा है। वे दोनों आते, मुझे मनाते, मेरी थोड़ी चापलूसी करते, तो सब काम ठीक हो जाता।' लेकिन, भिकूताई और तिलक का खयाल था कि मामा और बुआजी सचमुच नाराज़ हैं। इसलिए, उन्होंने मुझे संगमनेर ले जाने का निश्चय किया।

लड्डुओं से भरे हुए दो डिब्बे बुआजी के घर चले गए, परंतु उनमें रखी हुई चीज़ों को उन्होंने छुआ तक नहीं। यही नहीं, बल्कि उन्होंने गोविंदराव को कसम दिलाई कि 'यदि तुम भिकू द्वारा भेजी गई चीज़ों में से कुछ खाओगे, तो गोमांस खाओगे।' इस तरह बुआजी ने हमारे प्रति अपना गुस्सा गोंद और मेथी के लड्डुओं पर उतारकर अस्तबल की बला बंदर के सिर डाली। क्रोध और झगड़ों में बेचारे ये लड्डू नष्ट हुए! आख़िर वे घूरे पर फेंक दिए गए!

नाना साहब पहले चले गए थे। बाकी हम सब लोग बाद में पहुँचे।

हम सब मिलाकर सात आदमी थे। हम सुबह पाँच बजे रवाना हुए और दूसरे दिन शाम को संगमनेर पहुँचे। रास्ते में अगर कहीं नीम का दरख्त मिल जाता, तो तिलक उसके पत्ते तोड़कर खाते। उस समय नानी जी अपनी बहू से कहतीं—'भिकूताई, तुम्हारा जीजा योगी है। तुम उसे भले ही बदनाम करो, पर वह सिद्ध-पुरुष है।'

हम जिस मकान में उतरने वाले थे, उसके बारे में हमने नासिक ही में सुन लिया था कि वह भुतहा है। वहाँ पहुँचते ही भिकूताई ने विद्यानंद को गरम जल से नहलाया और मुझे भी नहाने को गरम पानी दिया। हम सबने भोजन किया। मेरा बच्चा डेढ़ महीने का था। अतः, मेरे लिए खाट और अँगीठी का प्रबंध हुआ। मैं अपने बच्चे के साथ खाट पर सोई। वहीं नीचे एक तरफ जाजम पर घारूमाई, नानाजी इत्यादि लोग सोए। नाना साहब, भिकूताई और तिलक ऊपर अटारी पर सोए।

मुझे किसी भी तरह नींद नहीं आ रही थी। भले-बुरे विचार मस्तिष्क में कुहराम मचाने लगे। कहते हैं कि खाली मस्तिष्क शैतान की दूकान होता है, सो असत्य नहीं है। यह मुझे नहीं मालूम था कि कमरे से सटकर ही घोड़ों का अस्तबल है। मेरे सिरहाने एक चिराग टिमटिमा रहा था। सिरहाने की तरफ "धप-धप" आवाज़ हो रही थी। सब लोग गहरी नींद में सोए हुए थे। मैं पड़ी-पड़ी गर्दन को भी बिना हिलाए आँखें चारों ओर घुमाकर, इधर-उधर देखने की कोशिश कर रही थी। आज जो होना हो, सो हो। यह देखने का मैंने निश्चय कर लिया था कि चुड़ैल कैसी होती है। छाती धड़कने लगी। ज़ीने से बिछुओं की आवाज़ कानों में आने लगी। कोई ज़ीने से उतर रहा था। मेरा कलेजा सन्न हो गया। जीभ सूख गई। परंतु, हिम्मत बाँधे, परदे की ओर टकटकी लगाकर मैं देख रही थी। फिर वही "टप् टप् टप् !" ज़ीने से एक आकृति आती हुई दिखाई देने लगी। मेरी आँखें आप-ही-आप बंद होने लगीं। इसी समय सामने एक औरत, लाल साड़ी पहने, बाल खोले और मस्तक पर कुंकुम की बड़ी और आड़ी बिन्दी लगाए ऊपर से नीचे आती हुई दिखाई दी! उसके हाथ में एक झलमला दीपक था। उस मकान की चुड़ैल का जो वर्णन सुना था, वह उससे बिलकुल ठीक मिल गया। मेरे छक्के छूट गए। वह औरत आगे बढ़ती हुई बिलकुल मेरे नज़दीक आकर खड़ी हो गई। अपने बच्चे को पेट के नीचे दबाकर मैं सो गई और मैंने ऊपर से चादर ओढ़ ली। मेरे रोंगटे खड़े हो गए और पसीना निकल आया। वह औरत बिलकुल

बिस्तर के पास आकर खड़ी हो गई ! अब उसने बच्चे के हाथ लगाया ! फिर धीरे-धीरे वह उसे खींचने लगी ! मैं उस चुड़ैल से यह कहना चाहती थी कि मैं जान गई कि तू कौन है। परंतु, मेरे मुँह से शब्द नहीं निकलते थे। मैं सिर्फ़ "कौं कौं कौं" करने लगी। नीचे सोए हुए सब लोगों ने एक स्वर से मेरी "कौं कौं" में अपनी "कौं कौं" मिला दी। हम पाँच-छह लोग ताल-सुर से "कौं कौं कौं" चिल्ला रहे थे। वह औरत "क्या हुआ ? क्या हुआ ?" कहकर हमारे साथ चिल्ला रही थी। ऊपर से नाना साहब दौड़ते हुए आए और वह भी "कौं कौं कौं" करने लगे। तिलक आए। वह अलबत्ता हँसने लगे। उन्हें डर कभी नहीं लगता था यह दृश्य देखकर तो उन्हें बड़ा ही मज़ा आया।

वह औरत भिकूताई थी। मैं उम्र में छोटी थी। इस आशंका से कि मैं अपने बच्चे को कहीं अपने बदन के नीचे न दबा दूँ, वह बीच ही में उठकर नीचे आई थी और यह देखकर कि मैंने विद्यानंद को सचमुच ही अपने पेट के नीचे दबा रखा है, वह धीरे-से उसे बाहर निकालने की कोशिश करने लगी। घोड़े की टापें बिच्छुओं की आवाज़ और बहन की सूरत-शक्ल, इन सबके कारण मेरे मन ने उसीको चुड़ैल बना दिया। ऊपर से उसके हाथ के चिराग़ और उसकी ज्योति के कारण हिलने वाली दीवार की उसकी वह मोटी-ताजी परछाईं ! फिर क्या पूछना था ?

संगमनेर में एक प्रसिद्ध कीर्तनकार आए थे। उनका कीर्तन सुनने बहुत-से लोग आया करते थे। कीर्तन के कार्य-क्रम में हारमोनियम ने हाल ही में प्रवेश किया था। उस कीर्तनकार की आवाज़ अच्छी थी, कीर्तन के गीत सुंदर थे और व्याख्या आदि भी मनोरंजक होती थी। अतः कीर्तन में बड़ी भीड़ होने लगी। एक दिन पूर्व-रंग की समाप्ति पर कथा-भाग आरंभ हो रहा था कि तिलक और नाना साहब वहाँ आकर बैठ गए। उन्हें बैठने के लिए कीर्तनकार के ठीक सामने स्थान दिया गया। कीर्तन-कार को पहनाने के लिए पुष्पमाला लाई गई। कीर्तनकार ने वह माला अपने हाथ में ली और आकर तिलक के गले में पहना दी तथा उनके चरणों

पर अपना मस्तक रख दिया। इसके वाद कीर्तन का कथा-भाग शुरू हुआ। यह दृश्य देखकर पेंडसे विलकुल आश्चर्य-चकित हो गए। लेकिन, उस समय वह वहाँ कुछ वोल नहीं सके। कीर्तन समाप्त होने पर कीर्तनकार ने तिलक से उनका कुशल-समाचार पूछा और उनसे विदा ली।

नाना साहव पेंडसे को यह जानने की प्रवल इच्छा हुई कि यह मामला क्या है। घर आते ही उन्होंने तिलक से पूछा। तो तिलक ने कहा कि 'जव मैं धामक में था, तव मैंने इस मनुष्य को तीन-चार कीर्तन लिखकर दे दिए थे और उसे कीर्तन करना सिखा दिया था। वही कीर्तन वह कर रहा था।'

पेंडसे को वहुत आनंद हुआ। 'तिलक, अव तुम स्वयं यहाँ कीर्तन करो।' कहते हुए वह तिलक के पीछे पड़ गए। तिलक ने दो-तीन दिन तैयारी करके 'सुभद्रा-हरण' पर एक सुंदर कीर्तन लिखा। वह कीर्तन लगातार तीन दिन तक होता रहा।

कीर्तन का मूल गीत यह था—

सेवक तव समरधीर चाललों झुजाया
रथ माझा रम्य काय
ध्वज तुझे सदय पाय
अश्व विवेकाद्युपाय
लागलों लढाया[1]

कीर्तन का निमंत्रण समूचे शहर को दिया गया। किन्तु, पेंडसे का दिल धड़क रहा था। कीर्तन प्रारम्भ होने के समय तक वह कह रहे थे—'तिलक, देखना भाई! अव भी सोच लो! कहीं अंत में फज़ीहत तो न होगी! चाहो तो मैं लोगों से कहे देता हूँ कि तिलक वीमार पड़ गए

---

१. मैं तुम्हारा वीर सेवक हूँ। युद्ध करने जा रहा हूँ। मेरा शरीर रथ है। तुम्हारे सदय चरण मेरे रथ की ध्वजा हैं। विवेक आदि उपाय मेरे रथ के अश्व हैं। ऐसे रथ में वैठकर मैं युद्ध कर रहा हूँ।

हैं।' लेकिन, यह देखने के वाद कि एक ही आख्यान लगातार तीन दिन तक चलता रहा, पेंडसे का संशय तिरोहित हो गया। उनके आनंद का पारावार न रहा। पेंडसे का तिलक के प्रति पहले ही से प्रेम था। वह इस कीर्तन के कारण और अधिक बढ़ गया। भिकूताई और नानीजी भी बहुत खुश हुईं।

मुझे दो-चार बातों का विशेष शौक़ था और थोड़ा-बहुत अब भी है। मेरे शौक़ थे गुड़िया खेलना, गाना गाना, कहानियाँ सुनना और सुनाना और राँगोली काढ़ना (चौक पूरना)। अपने इन शौक़ों के कारण मुझे भिकूताई और बुआजी की बहुत गालियाँ खानी पड़तीं। मैं जब कहानियाँ कहने लगती, तव वे कहतीं कि इन कहानियों के कारण औरतें अपने घर-द्वार छोड़कर जा चुकी हैं। अब तेरी कहानियाँ न जाने किस हद तक पहुँचेंगी! जब मैं गाना गाती, तब वे कहतीं कि गाना गाकर औरतों ने अपनी सारी गृहस्थी पर चौका फेर दिया है। जब गुड़ियों से खेलती, तब कहतीं कि सारी गृहस्थी को खिलवाड़ बना डाला है। परन्तु, उनकी इन बातों का मुझ पर कोई असर नहीं होता था। ज़िंदगी में जो लत पड़ जाती है, वह मरे बिना नहीं जाती।

नाना साहब के दफ़्तर जाते ही विद्यानंद को लेकर भिकूताई और नानीजी अटारी पर अँधेरे कमरे में जाकर सो जातीं। तिलक भी अटारी पर बैठे या तो कुछ लिखते-पढ़ते या फिर घारूमाई के साथ कंजों के बीजों से लड़कियों के खेल खेलते रहते। रह जाती अकेली मैं ही। मुझे कोई काम ही न रहता। पढ़ना-लिखना तो उस समय मुझे बिलकुल ही न आता था। इसलिए कुछ लिखती या पढ़ती, यह तो संभव ही न था। ऐसी स्थिति में यदि मैं ऊपर लिखे हुए काम न करती, तो अपना समय कैसे काटती?

जब ये सास-बहू सो जातीं, तब मेरा सवेरा होता। सारे नौकरों को मैं अपनी मालकिन का दाहिना हाथ ही लगती थी और वे मेरे आगे हाथ

जोड़े खड़े रहते। बारह-एक बजे से लेकर चार बजे शाम तक घर में मेरा राज्य रहता। इस अवधि में मैं अपनी गुड़ियों के काम करा लेती।

घर में चार जानवर थे—दो घोड़े, एक भैंस और विद्यानंद के लिए खरीदी गई एक गाय। इनके लिए घास खरीदने में नौकर पैसे खा जाते। इसलिए, यह काम मेरे सुपुर्द किया गया। दरवाज़े के सामने से जो घास के गट्ठे निकलते, उन्हें मैं रोक लेती। मोल-भाव करके उनमें से कुछ मैं खरीद लेती। इस खरीद में जो पैसे बचते, वे मैं भिकूताई को न लौटाती। घारूमाई जानती थी कि मेरे पास कितने पैसे जमा हो गए हैं। कोई काम कराना होता, तो मैं नाम घारूमाई का लेती और कह देती कि उसकी माँ का ऐसा हुक्म है। घास की खरीद में से बचे हुए पैसे मेरे पास रहते ही थे। उन पर मेरी गुड़ियों की गृहस्थी शान से चलती थी। एक बार सुनार से गुड़ियों के लिए पीतल के जेवर बनवाए। कमचियों का जालीदार अच्छा सजा हुआ 'मखर'[1] बनवाया। घारूमाई ऐसे समय कहा करती,—'मौसी, यह मत बनवाओ। माँ नाराज होंगी।' तो मैं कह देती—'अरी वह क्या नाराज़ होगी ? उसे मेरा नाम बता देना।'

एक दिन भिकूताई और नानी नित्य की भाँति अटारी पर जाकर सो गई। मैंने नौकर से कहा—'भिकूताई ने केले के छह खंभे लाने के लिए कहा है। जाकर जल्दी ले आओ !' तदनुसार नौकर खंभे ले आया। मैंने दो खंभे दरवाजे से और चार बरामदे के खंभों से बाँध दिए। चार दिन तक बाजे वालों को बुलवाया। स्त्रियों को हल्दी-कुंकुम का निमंत्रण भिजवाया। भिकूताई के नाम पर सारा ठाठ जमा दिया। चाँदी के बरतन निकाले। पान-सुपारी और नारियल की गिरी की परसादी इत्यादि चीज़ें तैयार कर रखीं। ऐसे समय यह मेरे ध्यान ही में न रहता था कि मैं गुड़ियों

---

१. बाँसों की कमचियों के महराब आदि समेत जो एक सुसज्जित कमरा-सा बनाते हैं उसे 'मखर' कहते हैं। विवाहिता कन्या के पहले-पहल रजस्वला होने पर उसे बड़े समारोह के साथ इस मखर में बैठाया जाता है।

का खेल खेल रही हूँ।

स्त्रियाँ बुलावे में आने लगीं। हर कोई पूछने लगी कि माई साहब कहाँ हैं? माई साहब सोई थीं ऊपर अटारी पर। घर में मची गड़बड़ सुन-कर वह जाग पड़ीं। भिकूताई जब जागती, तो उसकी आँखें झट-से न खुलतीं। यह देखने के लिए कि यह सब क्या है, वह आँखों में पानी लगाकर उन्हें खोलने का प्रयत्न करने लगी। मैंने परसादी बाँटी। इसी समय द्वार पर शहनाई के सुर के साथ छोटा नगाड़ा बजने लगा! नानीजी हड़बड़ा-कर जाग उठीं। वह द्वार पर दोनों हाथ रखे अचंभे से खड़ी देखती रहीं कि यह क्या मामला है। विद्यानंद तो कमरे में रो ही रहा था। मेरी बहन नीचे आकर आगत स्त्रियों का प्रसन्न वदन से स्वागत कर रही थी। भीतर-ही-भीतर अलबत्ता वह बड़े ज़ोरों से भभक रही थी। बाजे की आवाज़ सुनकर तिलक नीचे आए। वह भी न समझ पाए कि मामला क्या है। वह घारूमाई को एक तरफ़ ले गए और उससे पूछा। उसने बताया कि मेरे बहुत मना करने पर भी मौसी ने यह सब किया है। उन्होंने घारूमाई के ज़रिए मुझे कहला भेजा कि मैं कम-से-कम इस लड़की ही से कुछ सीखूं।

शाम को नाना साहब आए। वह ज़रा भी नाराज़ न हुए। बाहर का बाजा बंद हो जाने पर मेरे हृदय में बाजा बजने लगा। बहन ने पाँच पकवानों से भरा हुआ थाल मेरे सामने रखा। उसमें कौन-से पकवान थे? गाल गुरोळ्या[1] थीं, चापटपोळ्या[2] थीं, घम्मकलाडू[3] थे, मुष्टिमोदक[4] थे, मुरुड-कानोले[5] थे। उसीमें जुड़ गई चाँदी की कटोरी भी। भिकूताई ने परसादी

---

१. गाल में चुटकी लेना

२. चाँटे मारना

३. धप्प

४. घूँसे

५. कान उमेठना

(पकवान और मार दोनों 'खाए' जाते हैं। अतएव, मार की क़िस्मों के साथ एकाध पकवान का नाम जोड़कर मूल मराठी शब्द बने हैं।)

बाँटते-बाँटते वह जाने कहाँ रख दी थी कि उस गड़बड़ में वह गुम हो गई। इस कारण गड़गड़ाहट हुई। पहले दिन का समारोह इस प्रकार सम्पन्न हुआ।

दूसरे दिन हम भोजन करने बैठीं। इसी समय बाहर बाजे की आवाज़ सुनाई पड़ने लगी! उसके ठीक पीछे परोसा आया। उसके बाद दूसरा आया, फिर तीसरा आया! अब तो मेरी बहन क्रोध से लाल हो उठी। बोली—'छोकरी, तेरा यह खेल हमें बदनाम कर देगा। लोग कहेंगे कि अब इनकी बदली होने वाली है, इसलिए, अब ये लोग इस प्रकार कमाई कर रहे हैं।'

चार दिन तक घर-घर से परोसा आ रहा था, बाजे-गाजे के साथ! हर परोसे में तीन तरह की चीज़ें रहतीं—उपवास की चीज़ें, नाश्ते की चीज़ें और भोजन के पदार्थ। उपवास की चीज़ें नानीजी को दे दी जातीं। नाश्ते के लिए आई हुई चीज़ें, जैसे लड्डू आदि घर के बड़े-बूढ़े खाते और भोजन यानी दाल-भात हमारे हिस्से में पड़ता! श्रीमान् जिनसी वाले के घर से तो इतना परोसा आया कि उसे देखकर मैं भी लज्जित हो गई। उन चीज़ों से दस-बीस थालियाँ भर सकती थीं और उनमें पाँचों प्रकार के पकवान थे। जब उन्हें रखा गया, तो उनसे हमारे घर का आधा कमरा भर गया!

इन चीज़ों का आना रुकता न था और इधर बहन का गुस्सा भी न थमता था। मैं कहती—'गुस्सा तो हो ही रही हो, फिर जो परोसा आता है, उसमें से नाश्ते की चीज़ें उठा-उठाकर डिब्बों में भर-भरकर क्यों रख रही हो? हमें वे क्यों नहीं दे देतीं खाने को?' नाश्ते की चीज़ों के अलावा 'खण'[1] और नारियलों का भी ढेर लग गया था। इस तरह-होते-होते चौथे दिन का उदय हुआ। उस गुड़िया के लिए मैं किसी माँ या सास की तरह हो गई थी। घारू मेरी मददगार थी। परदे की ओट में मैं सूत्रधार थी।

---

१. एक चोली के योग्य कपड़े का तीन-चौथाई गज़ टुकड़ा।

विद्यानंद यदि रोता, तो भिकूताई और नानी जी थीं ही उसे सँभालने को। वे दोनों उसके सब काम करतीं।

कल पालकी की ज़रूरत है। उसका इंतज़ाम कौन करेगा ? दुलहिन गुड़िया का जुलूस तो निकालना ही होगा। जिनसी वाले पालकी-पदस्थ[1] थे। उनकी बुआजी नानी जी के पास अक्सर आया-जाया करती थीं। उनसे चुपचाप जाकर मैंने यह बात कही। उन्होंने अपने घर से खेल की पालकी भेज दी। पालकी देखकर मेरे आनंद की सीमा न रही। मुझे लगा कि जैसे मैं ही आज पालकी-पदस्थ हूँ। मैंने पालकी लाकर खाट के नीचे रख दी। सुबह होते ही जुलूस निकलना था। परंतु, गुड़िया पर निछावर करने के लिए दही-भात चाहिए। सुबह भात कहाँ मिलेगा ! नानी जी धाईमाई के लिए रोज़ सुबह भात बनातीं और उसे खिलाती थीं। मैंने धारूमाई से धीरे-से कह दिया कि वह थोड़ा-सा भात चुपचाप छिपाकर अलग रख ले। हम उसे गुड़िया पर निछावर करेंगी। धारू ने तदनुसार दो कौर भात अलग निकालकर रख लिया। सब लोग अपने-अपने कामों में व्यस्त हो गए थे। तिलक रात में लिखी गई अपनी रचना पेंडसे को पढ़कर सुना रहे थे। इसी समय बाजे बजने लगे। अब वह एक नित्य ही की बात हो गई थी। इसलिए उस ओर किसी का ध्यान न गया। भिकूताई विद्यानंद को लेकर अटारी पर चली गई थी। मैं और धारूमाई शान से दुशाले ओढ़कर धीरे-से जुलूस निकालने के लिए रवाना हुईं। मार के भय से जुलूस को थोड़ी ही दूर तक घुमाने का निश्चय किया गया। पिछवाड़े के द्वार पर पहुँचते ही मैं भीतर घुस गई, क्योंकि जुलूस के सामने वाले द्वार के पास पहुँचते ही मुझे भात में दही मिलाकर झट-से गुड़िया पर से उतार देना था। भीतर तिलक खड़े हुए थे। मैं थी काम की गड़बड़ में। मुझे जल्द दही चाहिए था। रसोई घर में चूल्हे के पास रसोइया कुछ कर रहा था। दूध-दही की संदूक खोलकर दही लेने के लिए मैंने गरदन भीतर डाली

---

१. पालकी में बैठकर चलने वाले।

ही थी कि इसी समय तिलक मेरे अनजाने मेरे पीछे आए और जैसे कोई किसी चोर विल्ली की गर्दन पकड़कर उसे ऊपर उठा देता है, उसी तरह उन्होंने मेरी गर्दन पकड़कर वाहर निकाला। मेरे हाथ में दही था। उसे मैं छोड़ती न थी। अगले कमरे में नानी जी बैठी जप कर रही थीं। उनकी दृष्टि हम दोनों पर पड़ी। उन्हें देखते ही तिलक की पकड़ ढीली पड़ गई और मैं उनके हाथ से छूट गई। वह मुझे अधिक न डाँट सके। मैं जैसे-तैसे काँपती हुई गई और मैंने गुड़िया पर से दही-भात उतारा। लड़कियाँ मेरी बाट जोहती हुई खड़ी ही थीं।

बच्चा रो रहा था। खाट के पास भिकूताई उसे लिये बैठी हुई थी। मुझे देखते ही एकदम आग-बबूला होकर वह भभक उठी। वोली—'तेरी गुड़िया को दूसरा सँभाले और तू खेलती रह धज्जियों की गुड़ियों से।' नानी जी भी कमर पर हाथ रखे मेरे सामने आकर खड़ी हो गईं। वह वोलीं—'मनू तुझे समझ कब आयगी ? घारू दस वर्ष की हो जाने पर भी सुबह भात खाती है और तू सोलह वर्ष की हो जाने पर भी गुड़ियों से खेलती है ?'

मेरे खेल के कारण भिकूताई को अलवत्ता खर्च करना पड़ा। वह चोली के कपड़ों के दो थान लाई। उसने एक दावत दी और सब औरतों की 'खूण' और नारियल से गोद भरी।

इसी समय तिलक ने **'मेरी भार्या'**—शीर्षक कविता लिखी। तिलक के उत्तम श्रोता पेंडसे थे ही। उन्होंने अपनी कविता तुरंत उन्हें पढ़कर सुनाई। पेंडसे वोले—'हमारी मनू है ही वैसी। इस पर तिलक ने उत्तर दिया—

'केलें काव्य परंतु ह्यांत मम[1] हो संबंध कहीं नसे'

आगे चलकर विद्यानंद की मृत्यु हो गई। नाती के शोक में मामा भी चल वसे। मेरी अब दूसरी वारी थी। गर्भ के दिन पूरे हो रहे थे। भिकूताई

१. मैंने कविता अवश्य लिखी है। परन्तु, इससे मेरा निजी कोई संबंध नहीं।

ने मुझे मायके पहुँचा दिया। मायके में अब केवल बुआजी ही रह गई थीं। मामा के बाद उनकी सारी जायदाद चौपट हो गई और मकान पर साहूकार ने कब्ज़ा कर लिया। तब हम दोनों अपने भाई के घर रहने चली गईं। पेंडसे की बदली कलवण हो गई थी। मेरे लड़की पैदा हुई। लड़की का नाम 'नर्मदा' रखा गया। हम उसे 'माई' कहा करते। बड़ी प्यारी थी वह। तिलक के पास से जब मैं चली जाती तब अक्सर वह भी अपनी नौकरी दान में देकर और ऊपर से गृहस्थी की दक्षिणा देकर मेरे पीछे-पीछे बाहर निकल पड़ते। यही इस वक्त भी हुआ। प्रायः इस दान-दक्षिणा के फलस्वरूप घर में एक फूटा लोटा भी न बच पाता।

लड़की तीन महीने की हो गई। एक दिन शाम को तिलक आए। हाथ में एक 'बैग' था। उसके भीतर कुछ ऐसा दिखाई दे रहा थः, जैसे तह करके साड़ियाँ रखी हों। लड़के हिसाब लगाने लगे एक भिकूताई के लिए, दो मेरी भाभियों के लिए, एक-दो मेरे, इस तरह ये साड़ियाँ होंगी। तिलक बैग को अपने आगे रखकर बैठ गए। उनके आगे लड़के बैठ गए। बैग खोला। परंतु, साड़ियों के बदले उसमें से बड़ी-बड़ी कोरी कापियाँ निकलीं! एक कोरी कापी में से उन्होंने अपना कल्पना से संपूर्ण 'सावित्री-आख्यान' पढ़कर सुनाया! ऐसा लग रहा था, जैसे लिखा हुआ ही पढ़ रहे हैं! पढ़ने के बाद कापी खोलकर देखी गई, तो सब पन्ने कोरे थे।

भिकूताई अपने घर लौट गई। इसके तुरंत बाद तिलक को पेंडसे का आग्रहपूर्ण पत्र मिला। उन्होंने लिखा था कि सपरिवार हमारे घर रहने के लिए कलवण चले आओ। इस निमंत्रण को स्वीकार करके हम कलवण पहुँचे।

भिकूताई जानती थी कि तिलक बात करते-करते कविता की रचना कर देते हैं। इसलिए, इस भय से कि वह कहीं उसी पर किसी कविता की रचना न कर दें वह शायद ही उनके सामने आती। तिलक के कलवण आने पर उनसे बातचीत करने के लिए सिर्फ धारू को अवकाश रहा करता। नाना साहब अपने दफ़्तर के कामों में व्यस्त रहते। अब रह जाती मैं और

घारूमाई। मैं अपनी नन्ही-मुन्नी की गड़वड़ में रहती। इसलिए, तिलक और घारूमाई में पहले ही से जो घनिष्ठता थी, वह अव और अधिक दृढ़ हो गई।

भिकूताई ने मेरी वच्ची नवी के लिए कंगन, हँसली, बिंदिया आदि ज़ेवर वनवा दिए थे। एक दिन घारूमाई तिलक के पास यह हठ पकड़कर बैठ गई कि जिस तरह दूसरों की मौसियाँ अपनी भानजियों के लिए ज़ेवर वनवा देती हैं, उसी तरह तुम भी मेरे लिए ज़ेवर वनवा दो। तिलक ने कागज़ लिया, पेंसिल उठाई और इसकी एक सूची वना ली कि उसे कौन-कौन-से ज़ेवर चाहिएँ। फिर उससे यह कहकर कि थोड़ी देर के वाद आकर अपने ज़ेवर ले जाना, उन्होंने उसे भीतर भेज दिया। हृदय में यह उत्सुकता लेकर कि इतनी जल्दी तैयार हो जाने वाले ज़ेवर कैसे होंगे, घारूमाई वीच-वीच में आते-जाते तिलक के कमरे में झाँक लेती। परंतु, हर वार तिलक उसे कुछ लिखने में खोए हुए दिखाई देते।

आखिर ज़ेवर वनकर तैयार हो गए और तिलक ने घारूमाई को पुकारा। ज़ेवर उसे दे दिए। उसे भी वड़ी खुशी हुई। जितने ज़ेवर वह चाहती थी, वे सव-के-सव उसे मिल गए थे। एक भी नहीं छूटा था। घर ही का जो कारीगर था! फिर क्या पूछना ?

घारूमाई को ये ज़ेवर वहुत पसंद आए। ज़ेवरों की टोकनी (कागज़) उठाकर वह वीच के कमरे में दौड़ गई।

घारूमाई भीतर आई, उस समय मैं और भिकूताई दोनों नवी के ज़ेवरों की सराहना कर रही थीं। घारूमाई वोली—

'माँ, देखो, तिलक ने मुझे कितने ज़ेवर दिए हैं ? तुम्हें पढ़कर सुनाती हूँ।' यह कहकर उसने गहनों पर वह पूरी कविता पढ़कर सुना दी। यह देखने के लिए अपनी कविता अपनी साली को कहाँ तक पसन्द आई, तिलक पिछले दरवाज़े की आड़ में पहले ही से आकर खड़े हो गए थे। परंतु, भिकूताई ने उन्हें नहीं देखा। लड़की के द्वारा कविता पढ़कर सुनाई जाने के वाद भिकूताई ने एक गहरी साँस भरी और कहा—

'क्या किया जाय ? इतनी वुद्धि है, पर किस काम की ? इतने लिखे-पढ़े हैं, पर पल्ले एक पैसा भी नहीं। दरवेश की तरह औरत को साथ लिये दर-दर घूमते रहते हैं। घर में हमेशा अभाव का राज्य रहता है। क्या किया जाय ? अव तो उन्हें चाहिए कि चूड़ियाँ पहन लें !'

तिलक ने ये सव वातें सुन लीं। वे लौट गए और चादर ओढ़कर वरामदे में सो गए।

उसी दिन पेंडसे के घर एक ज्योतिषी आया। ज्योतिषी महाराज को घर के लोगों की वैसे कोई जानकारी न थी। भिकूताई ने उन्हें घर के सव लोगों के हाथ दिखाए। घर का रसोईया "अय्या" था। वह वड़े ठाठ से रहा करता, ऊँचे कपड़े पहनता। उसका हाथ दिखाया। ज्योतिषी जी ने वड़ी गंभीर मुद्रा वनाकर उससे कहा कि तुम्हारे पास विद्या का खजाना है। तुम्हारी वड़ी कीर्ति फैलेगी इत्यादि-इत्यादि।

नजदीक ही चादर में सिर छिपाए तिलक पड़े हुए थे। उनकी ओर अँगुली दिखाकर भिकूताई ने कहा—'इनका भी हाथ देखो। देखें, इनकी किस्मत में क्या है ?'

तिलक आगे वढ़े। 'हाथ दिखाओ।' तिलक ने उसके सामने औंधा हाथ वढ़ा दिया। ज्योतिषी वरस पड़े—'क्यों जी, क्या हाथ ऐसे दिखाया जाता है ? क्या 'वौंव'[1] मारना है ? तुम "वौंव" ही मारोगे।' तिलक ने चुपचाप सीधा हाथ दिखाया।

ज्योतिषीजी ने भविष्य-कथन किया—'विद्या के नाम से शून्य ! धन विलकुल नहीं ! विवाह नहीं होगा।' माई ने धीरे से पूछा—

'कुछ वाल-वच्चे भी हैं इनके भाग्य में ?'

'अजी, जव औरत ही नहीं तो वाल-वच्चों का क्या पूछ रही हो ?'

---

१. होली के त्योहार में लोग मुंह से आवाज निकालते हैं और मुंह पर औंधा हाथ मारते जाते हैं। मराठी में इसे 'वोंव मारना' कहते हैं। इस तरह जो आवा निकलती है उसे 'वोंव' कहते हैं।

इसके बाद ज्योतिषी जी शहर में चक्कर लगाने चल दिए।

शाम को पेंडसे कचहरी से घर आए। उनके आते ही तिलक ने उनसे कहा—

'नाना साहब, आप हमेशा मुझसे कीर्तन करने का आग्रह करते हैं। आज मुझे कीर्तन करने की सनक आई है। इसलिए, आज रात को भोजन के उपरान्त मेरा कीर्तन निश्चित कीजिए।'

पेंडसे को बड़ी प्रसन्नता हुई। तहसीलदार होने के कारण घंटे-डेढ़ घंटे के भीतर ही कीर्तन का प्रबंध कर देना उनके लिए कोई कठिन काम न था।

भोजन के बाद लोग इकट्ठे होने लगे। कीर्तन आरंभ हो ही रहा था कि ज्योतिषी महाराज भी आ पहुँचे और ठीक तिलक के सामने बैठ गए। नजदीक ही महिलाओं के बीच भिकूताई बैठ गईं। कीर्तन आरंभ हुआ। कीर्तन के प्रारंभ ही में पहला गाना था—

माझे ग्रह फिरले ग्रह फिरले
भवबंधन मम तुटलें ॥ध्रु०॥
मानामाना सुखदु:खाला मन्मन हें अन्तरलें—
माया-राशिस विवेक रवि ये भलतें सलतें रुचलें—
स्वर्गमुक्ति संसार सारखा हरिभजनीं मन रमलें—
मीपण शनिनें मीपण तूंषण अनुभूतिस्तव हरिलें—
श्रीनारायण सुरकुळ टिळका नाम तुझे बा जपलें—[1]

---

1. मेरी ग्रहदशा पलट गई है। संसार से मेरा नाता टूट गया है। मेरा मन मान-अपमान, सुख-दु:ख आदि से अलग हो गया है। माया-रूपी राशि पर विवेक-रूपी रवि की दृष्टि पड़ जाने से मुझे अजीव बातें पसंद आ गई हैं। मेरे लिए स्वर्ग, मुक्ति और संसार सब एक-सा है और मेरा मन हरि-भजन में लग गया है। साक्षात्कार होने के लिए अहंभाव रूपी शनि ने 'मैं' और 'तू' का भाव नष्ट कर दिया है। सुरकुल में श्रेष्ठ हे श्री नारायण, मैंने तेरे नाम की रट लगाई है।

यह देखकर कि चादर ओढ़े पड़ा हुआ 'पानी पाँडे' यही है और वह ठीक मेरी राशि पर टूट पड़ा है, ज्योतिषीजी के छक्के छूट गए। ज्योतिषीजी की यह फ़जीहत देखकर भिकूताई को बड़ी खुशी हुई। वह ज्योतिषीजी की ओर घूरकर देखने लगीं। अपने जीजा को धन्यवाद देने लगीं। इसी समय दूसरा गीत आरंभ हुआ—

'वेडा झालों खरा, गड्यांनों वेडा झालों खरा
कोण म्हणती हा दरवेशी हाकलून द्या घरा
गड्यांनों वेडा झालों खरा
शिकला पढला रुका न पदरीं ह्यास बांगड्या भरा
गड्यांनों वेडा झालों खरा
घरांत वाजे अकार घंटा दाद न त्याची जरा
गड्यांनों वेडा झालो खरा'[1]

अब तो माई साहबा की सारी हँसी ग़ायब हो गई। उसे अपनी दोपहर की बात की याद आ गई। उसे जो यह डर था कि मेरा जीजा किसी दिन मुझ पर कविता लिखेगा, वह सच निकला। उसके मन की स्थिति बड़ी विचित्र हो गई। गुस्से में वह उठकर जाने लगी।

पेंडसे को इन दोनों व्यक्तियों के मनों की स्थिति की कोई कल्पना न थी।

अंत में क्रोध कम होने पर वह बोली—'मेरी एक बहन है, इसलिए, बहनोई मुझ पर कीर्तन करता है। बहन के मर जाने पर बहनोई फिर हमारा मुँह भी नहीं देखेगा। इसे बरदाश्त करना चाहिए।'

---

१. भाइयो, मैं पागल हो गया हूँ। यह सच है कि मैं पागल हो गया हूँ, मेरे लिए कोई कहता है कि यह दरवेश है। इसे घर से बाहर निकाल दो। यह अपढ़ गँवार है। इसके पल्ले एक धेला भी नहीं है। इसे चूड़ियाँ पहना दो। इसके घर में हमेशा 'नकार' का घंटा बजता रहता है। पर इसकी उसे ज़रा भी परवाह नहीं है।

उपर्युक्त उद्‌गार सुनकर मेरी जान-में-जान आई। वरना, मेरी 'इधर कुआ और उधर खाई' जैसी हालत हो गई थी।

इसके बाद दूसरे ही दिन ज्योतिषी महाराज रफूचक्कर हो गए।

तिलक को भी पेंडसे के घर आश्रित की तरह पड़े रहना उचित नहीं लगता था।

संगमनेर में मुझसे प्राणों से भी अधिक प्रेम करने वाली मेरी बहन और भानजी थी। पेंडसे भी तिलक के प्रति अत्यन्त प्रेम-भाव रखते थे। पेंडसे उनकी सराहना भी बहुत किया करते। वह नौकरी नहीं करना चाहते थे। वह हमेशा सोचते कि नौकरी छोड़कर और कुछ करना चाहिए।

सप्तशृङ्ग

मुझे जलालपुर छोड़कर, तिलक ने सप्तशृंग जाने का निश्चय किया। नासिक के उत्तर में बीस-बाईस मील दूरी पर यह एक देवी का स्थान है। गाँव का नाम है वणी।

अब प्रश्न उपस्थित हुआ रुपयों-पैसों का। मामा की मृत्यु के बाद सासजी से माँगना असंभव ही था; और साले से रुपए-पैसे कैसे माँगें? मेरे पास नवी के ज़ेवर थे, परन्तु वे भिकूताई ने बनवाए थे! उन्हें हाथ कैसे लगाते? अब बची थी सिर्फ़ मेरी एक कोरी साड़ी। तिलक ही ने ख़रीदी थी वह। अभी तक मैंने उसकी तह भी नहीं खोली थी। वह मैंने उन्हें दे दी और कहा कि इसे दूकानदार को लौटा दो और इसकी क़ीमत वापस लेकर वणी चले जाओ। तिलक उसे लेने को राज़ी नहीं होते थे। बड़ी मुश्किल से उन्हें मनाकर मैंने वह साड़ी उनके सुपुर्द की। तिलक चल दिए।

नाना संत नाम के एक अत्यंत सुप्रसिद्ध राजवैद्य थे। वह वणी में रहते थे। संत तिलक पर मन और प्राण से प्रेम करते थे। तिलक ने उनसे उनकी विद्या थोड़ी-बहुत सीख ली। परंतु, तिलक अपने वैद्यकीय ज्ञान से धन नहीं कमाते थे। गुरु-शिष्य की सहमति से तिलक अब वणी में निवास करने लगे। वहाँ तिलक ने एक पाठशाला खोली। वह शाला उनकी सब पाठशालाओं से अधिक अच्छी चली। उसमें चालीस विद्यार्थी भरती हुए। फीस एक रुपया प्रति छात्र रखी गई थी, जो विद्यार्थी बड़ी खुशी से देते थे। उस ज़माने में शिष्य लोग अपने गुरुजी को जो सम्मान दिया करते थे, उसका

शतांश भी अब देखने को न मिलेगा।

तिलक के पढ़ाने की शैली भी कुछ निराली रहा करती थी। उनकी पढ़ाई ही अलग थी। वणी के कितने ही बाल-गोपाल उस समय कविता-रचना करने लगे थे। इस पाठशाला में अँग्रेज़ी भी पढ़ाई जाती थी।

वणी पहुँचते ही तिलक अपने पुरोहित के घर उतरे। आगे भी हम उन्हींके घर में रहने लगे। पाठशाला भी उन्हींके घर की अटारी पर चला करती। तिलक के जाने के एक महीने बाद मैं और नवी वणी गईं। वहाँ हमें बिलकुल अपने घर-जैसा लगने लगा। वह यद्यपि हमारे पुरोहित थे, फिर भी, उस घर में हमें कभी परायापन महसूस न हुआ।

वणी में रहते समय तिलक ने 'देवीचा प्रसाद'[1] नामक एक कविता की पुस्तक लिखी। वणी के ज़मींदार ने उसे प्रकाशित किया।

संत हमारे घर आकर बैठते। वह कहते, 'भोजन के बाद जिस प्रकार मुझे पान-सुपारी अच्छी लगती हैं, उसी तरह तुम्हारा एकाध झगड़ा सुनना अच्छा लगता है। तुम्हारे झगड़े बड़े मज़ेदार होते हैं।' और, हम लोग (तिलक और मैं) सचमुच हमेशा झगड़ते रहते। हमारे झगड़े के विषय भी विभिन्न रहा करते।

वणी में एक बार चोरों की भरमार हो गई। तिलक ने चोर पकड़ने की एक तरकीब निकाली। वह मुझे पसंद न आई। और बस, हो गया हम दोनों में कड़ाके का झगड़ा। उनकी तरकीब यह थी कि घर के दरवाज़े के पास एक बड़ा गड्ढा खोदा जाय। उसमें बहुत-सी जूठन डाल दी जाय। फिर उस गड्ढे के ऊपर एक बड़ी-सी पत्तल जो इस काम के लिए ख़ास तौर पर बनाई जाय, रख दी जाय, जिससे गड्ढा पूरा ढँक जाय। जब चोर आयगा, तब उस गड्ढे में गिर पड़ेगा।

मैंने कहा 'चोर ही गिरेगा, यह कैसे कह सकते हो? तुम या मैं ही क्यों न गिरेंगे? और दूसरी बात यह है कि यह कैसे कह सकते हो कि जब

---

१. देवी की कृपा।

गड्ढा खोदेंगे, तब गाँव के दूसरे लोग तुम्हें गड्ढा खोदते हुए नहीं देख लेंगे ?'

'मैं कहता हूँ कि ऐसा कभी नहीं होगा।' इसके बाद हम झगड़ने लगे और नाना संत बैठे हुए तमाशा देखने लगे। इस तरह हमेशा हुआ करता।

तिलक को लड़की की बड़ी चाह थी। भगवान् ने उन्हें लड़की दी बड़ी बुद्धिमती, सुंदर, प्यारी और अत्यन्त प्रिय स्वभाव वाली। उसकी आवाज मंजुल-मधुर थी। उसकी तोतली बातें सबको पागल कर देतीं। तिलक की इच्छा तृप्त हुई। तिलक कहते कि यह आनंदीबाई जोशी[1] की तरह सुशिक्षिता होगी। नबी सुंदर थी। मेरे पास आती, तो कोई न कहता कि वह मेरी लड़की है। परंतु, हमारी नबूताई को एक दिन ज्वर आ गया। निमित्त यह हुआ कि उसने नए चावलों के मोदक खाए थे। हमने कभी यह सोचा भी न था कि वह इतनी जल्दी हमें छोड़कर चल देगी। तिलक तो पिछले दिन किसी काम के लिए नासिक के लिए रवाना हो गए थे। थोड़ी दूर भी नहीं गए थे कि रास्ते में उन्हें एक फकीर मिला और उसने उन्हें रास्ते से लौटा दिया! घर आने पर 'माई' ने उनसे 'देवी चा प्रसाद' के गीत कहलवाए। वे गीत बहुत पसंद थे। अंत में हमारी लड़की हमें छोड़कर सदा के लिए चल दी। हम दोनों शोक से बिलकुल जैसे पागल हो गए। तिलक के दुःख की तो सीमा ही न रही। नबी के संबंध में उन्होंने अपने हृदय में जो आशाएँ और आकांक्षाएँ सँजोई थीं, वे सब रसातल में पहुँच गईं।

एक दिन तिलक खिन्न मन से अटारी पर बैठे हुए नाना संत से बातें

---

१. आनंदीबाई जोशी—(१८६५-१८८७) एक महाराष्ट्रीय विदुषी। जिस समय महाराष्ट्र में स्त्रियों को शिक्षा देना महापाप माना जाता था, उस समय इनके पति श्री गोपालराव जोशी ने, जो पोस्टमास्टर थे, इन्हें अकेली अमेरिका भेजा। वहाँ जाकर इस महिला ने सन १८८६ में डॉक्टरी की उच्च डिग्री (एम० डी०) प्राप्त की।

कर रहे थे। मैं ज़ीने से ऊपर अटारी पर जा रही थी। तिलक बोले—'नाना साहब, मेरी पत्नी सचमुच राक्षसनी है! वह मेरे लड़के, लड़की, पिता, भाई, बहन—ऐसे कितने ही आत्मीयों को खो गई!'

'सच बताइए, राक्षसनी का विवाह किससे होता है?' मैंने ऊपर पहुँचते ही संत से प्रश्न किया, 'अजी, इन्होंने मेरा लड़का, लड़की, माँ, बाप, दत्तक बाप, ससुर, देवर, ननद, ऐसे कितने ही आत्मीय खा डाले। मैंने जितने इनके खाए, उनसे कितने ही अधिक इन्होंने मेरे आत्मीय खाए हैं!' तिलक चुप हो गए। आगे इन्होंने जीवन में न कभी ऐसे अभद्र शब्दों का उच्चारण किया, और न कभी वह ऐसी अशुभ बात अपने मन में लाए।

वणी एक छोटा-सा गाँव था। वहाँ की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। इसलिए, जो रुपया-पैसा मिल रहा था, उसमें से बहुत-सा बच रहता। परंतु, उस बचत को समाप्त करने की कला में तिलक अत्यन्त सिद्धहस्त थे। वह वहाँ के देवी के मंदिर में जाते, वहाँ के सब भिखारियों को बटोर-कर घर लाते या कभी-कभी वहीं ले जाकर उन्हें खैरात बाँटते।

तिलक-जैसे ही उनके सबसे छोटे भाई महादेव लालाजी थे। बल्कि, यदि यह कहूँ कि वह तिलक से कुछ अधिक ही थे, तो कोई हर्ज नहीं। एक दिन महादेव देवरजी जलालपुर गए। एक धोती को छोड़कर उनके शरीर पर वस्त्र की दूसरी चिंदी भी न थी। सिर पर टोपी न थी। पैरों में जूते न थे। उन्होंने ये सब चीज़ें किसी को दे डाली थीं! उन दिनों देवरजी नागपुर में, कॉलेज में, पढ़ते थे। कॉलेज की छुट्टी हो गई, तो वह वणी के लिए रवाना हुए। यह सोचकर कि रास्ते में बुआजी से मिल लें, वह जलालपुर गए।

बुआजी ने उनसे पूछा—'अरे महादेव, तू सिर्फ़ धोती ही पहने कैसे आया? बाकी कपड़े वगैरा क्या हुए?"

लालाजी बोले—'बुआजी, रेल में मुझे नींद आ गई और चोरी हो गई। सब चीज़ें चोर ले गए।' परंतु, इस बात पर विश्वास कैसे होता? बुआजी ने कहा—'महादेव, तू भी सो गया था, तो भी तेरे शरीर से कपड़े

कैसे उतार लेता कोई ?'

लाला का यह स्वभाव ही था ! किसी को कठिनाई में देखते, तो जो चीज़ उस वक्त अपने पास होती, वह उसे दे डालते; और जब उनसे कोई उस चीज़ के बारे में पूछता, तो इसी प्रकार की मनगढ़ंत बातें बता देते ।

नागपुर में वह एक बार मेरे पीछे पड़ गए—'भाभी, मुझे रेशमी किनारी वाली धोती पहनने का बड़ा शौक़ है । मुझे एक ऐसी धोती ले दीजिए ।' धोती लेने के दो-चार दिन बाद वह दिखाई न दी ! मैंने सारा घर छान डाला । वह भी मेरे साथ खोजने लगे । दूसरे दिन एक 'गोंधळी'[1] आया । उसके बदन पर वह धोती दिखाई दी ! मैंने लालाजी से पूछा कि क्या यह उन्हींका दान है । तब उन्होंने स्वीकार किया कि वह धोती उस गोंधळी को उन्हींने दी थी ।

अस्तु ! बुआजी ने मामा के कुछ कपड़े लालाजी को देकर उन्हें वणी के लिए रवाना किया । अब क्या पूछना था ! हमारे घर में हालत 'एक से दो भले' वाली हो गई । दोनों ने घर की चीज़ें और कपड़े उठा-उठाकर, जिन्हें उनकी ज़रूरत होती उन्हें, धड़ल्ले से देना शुरू कर दिया ।

एक दिन घर का एक लोटा ग़ायब हो गया । "लोटा कहाँ गया ? लोटा कहाँ गया ?" कहकर मैं चिल्लाई और तिलक के पीछे पड़ी । मैंने उन पर यह दोष मढ़ना शुरू किया कि वह लोटा उन्होंने किसी को दे डाला है।

एक दिन मैं चक्की पीस रही थी । वहाँ लालाजी आए और उन्होंने चक्की का खूंटा पकड़ लिया । 'भाभी, क्या आप नाराज़ होंगी ? आप नाना से न कहिएगा । लोटा मैंने एक ग़रीब को दे डाला है ।'

सच बात मालूम होने पर मुझे हँसी आई । मैंने कहा—'लालाजी तुमने मुझसे पहले ही क्यों नहीं कह दिया ?'

'आप नाराज़ हो जायँगी, इसलिए नहीं कहा, भाभी ! मैं आपसे बहुत

---

१. एक जाति-विशेष का व्यक्ति, जो देवी-देवता के सामने धार्मिक नाच-गाना आदि करता है ।

डरता हूँ।'

एक दिन लाला ने रात को किले पर जाने का निश्चय किया। उनके साथ उनके एक दोस्त भी जा रहे थे।

लाला मेरे पास आकर गिड़गिड़ाने लगे—'भाभी, ज़रा आप अपना कंबल दे दीजिए।' मैंने कहा—'मैं नहीं देती। तुम किसी को दे डालोगे।' इस पर वह और अधिक गिड़गिड़ाए। स्वीकार किया कि कंबल किसी को न देंगे। बोले—'सीधा आकर आपही के हाथ में दूँगा।' अंत में वह मेरा कंबल ले गए और वह किसी को दे डाला। उनकी इस आदत के कारण उन पर मुझे बड़ा क्रोध आता और मैं नाराज़ हो उठती, इसलिए वह मुझ से बहुत डरते।

क्रोध, प्रेम-भाव, दयालुता और थोड़ी-सी विक्षिप्तता ये सब इन दोनों भाइयों में थीं। नागपुर रहते समय एक बार तिलक कहीं चले गए थे। घर में कोई सामान न था। घर में केवल हम दोनों ही थे— मैं और महादेव लाला। मेरे पास दो रुपए थे। उन्हें लाला के हवाले करके मैंने कहा—'लाला, अमुक-अमुक चीज़ें ले आओ।' लाला बाजार गए और दो रुपए का घी और शक्कर ले आए! साथ ही हजामत बनाने के लिए एक हज्जाम भी लेते आए। मुझे उन पर इतना क्रोध आया कि मैंने उनसे कहा—'भगाओ इस नाई को यहाँ से। अब मैं ही तुम्हारी अच्छी तरह हजामत बनाती हूँ। अब क्या सिर्फ़ घी और शक्कर चाटकर ही दिन काटें? लो, अब मैं जाकर अपनी जान ही दिए देती हूँ।'

यह कहकर मैं ऊपर अटारी पर जा बैठी। अवश्य ही जान देने का मेरा बिलकुल उद्देश्य न था। यों स्वभाव ही से जीवित रहने की मेरी इच्छा बड़ी प्रबल है और मैं चीमड़ शरीर वाली और बड़ी सहनशील हूँ। लाला नीचे मुँह फुलाकर बैठे और मैं अटारी पर जा बैठी। मेरी कोई हलचल या गड़बड़ सुनाई नहीं पड़ती थी, इसलिए, लाला घबरा उठे और बाग के कुए में जाकर देखने लगे। मैं अटारी से सारा तमाशा देख रही थी। जब मेरा कोई पता न लगा, तब वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे।

"अजी भाभीजी, आपने क्यों जान दे दी ? अब मैं नाना से क्या कहूँगा ? कहाँ जान दी है आपने ?'

आखिर मुझसे रहा नहीं गया और मैं नीचे आई। मुझे देखते ही लाला जोर से रो उठे और एकदम मेरे चरणों में गिर पड़े। मेरे चरण पकड़कर बोले—'भाभी, अब कभी मैं ऐसा नहीं करूँगा।'

मुझे उनके वास्तविक स्वभाव का परिचय उस समय नहीं हुआ था। इसलिए ऐसे साधु पुरुष पर मैं नाराज़ होती थी। अब उनके सच्चे मूल्य का पता चलता है।

अस्तु ! लाला ने वचन दिया। वह रोए। फिर भी, उनका जो रवैया था, वह नहीं बदला। नागपुर ही की एक बात बताती हूँ। ससुरजी की मृत्यु का समाचार आया। तब लाला को बाज़ार भेजा। बारहवें और तेरहवें के लिए ब्राह्मण निमंत्रित किये थे। लाला बाजार गए। चीज़ें ख़रीदकर लाए। तिलक और लाला दोनों से मैं हिसाब माँगा करती, क्योंकि, वे क्या और किस तरह ख़र्च कर देंगे, इसका कोई ठिकाना न था। लाला ने सब हिसाब ठीक-ठीक दे दिया, परन्तु, चार आने का हिसाब वह न दे सके ! अंत में उन्होंने स्वीकार किया कि उन्होंने दो आने एक भिखारी को दिए और दो आने की जलेबियाँ खाईं।

'लाला, तुमने आज जलेबियाँ खाईं ! तुम्हें शरम नहीं आती यह कहते !'

'भाभी, फिर मैं भला क्या करता ? मुझे भूख जो लगी थी !'

'लेकिन लाला, अभी सब विधियाँ होनी बाकी हैं। ब्राह्मणों ने भोजन नहीं किया है। और तुम्हारे पिता का हाल ही में देहान्त हो गया है। ऐसी हालत में तुमने मिठाई क्यों खाई ?'

'उनका देहांत तो बहुत पहले हुआ था, भाभी !'

मैं सचमुच उनके ऐसे कुछ कृत्यों का अर्थ ही न समझ पाती थी।

मेरा पहला पुत्र मर गया था, इसलिए लाला ही हमें अपने पुत्र की तरह लगते। उसी समय की एक और बात याद आती है। अपने बच्चे की

मुझे बहुत याद आती थी और हमेशा मेरी आँखों से आँसू निकल पड़ते थे। तब तिलक ने मेरे लिए तोते का एक बच्चा ला दिया था। वह बच्चा बढ़कर बड़ा तोता हो गया। उसे तिलक ने संस्कृत बोलना सिखाया था। परंतु, यह केवल 'भो भो महादेव' ही कहा करता। इसका "महा-देए-व" वह बड़े आलाप के साथ कहता।

तोते को मैंने किस तरह सँभाला, इसका वर्णन तिलक ने अपनी एक कविता में इस प्रकार लिख रखा है—

"पर न रे फुटले तनुला पुरे
दिसतसे तनुचें मृदु मांस रे
मृदुल चोंच तुझी शुकबालका
स्मरण त्या स्थितिचें तुज होय का ?
चंचू तेव्हां रचुनि अपुल्या दोन हस्तांगुलांची
चारा बाळा तुज भरविला ! व्यर्थ माया मनाची
माझ्या जिव्हेवरुनि कितिदां भक्षिलें सांग भक्ष्य
क्रूरा तेव्हां डससि परि मीं त्यास केलें अलक्ष
रात्रीं तूतें हृदयिं अपुल्या घेउनी मीं निजावें
वेळोवेळी दचकुनि तुझ्या चिंतनीं भी उठावें
पोरालाही इतुकि जपलें पोटच्या मी न ऐशी
हा ! हा ! कीरा ! तुजशि जपलें-निर्दया साच तैशी
उत्साहानें पाहटेला उठ वें
बोलायाला मीं तुला शीकवावें
मध्ये-मध्ये कामकाजा त्यजावें
घेवोनीया तूजलागी रमावें
किति ममत्व तरी तव लागलें
घडिभरी तुजला न विसंबलें
उपवनीं फिरतां असतां परीं
तुजशि बाळगलेंच करीं उरीं

देवास नैवेद्य न दाखवीला
प्रियास वा अर्पित नाहिं केला
पदार्थ गेहांत नवील झाला
आधीं तरी तो तुज चारियेला
उपजतांच किरात धरी तुला
जननिला मुकसी अबला मुला
समजुनी द्रवलें मन हें अती
तुज शुका बधुनी रडलें किती
प्रथम पृष्टिवरी पर पातले
हळुहळू सगळें वपु झांकलें
चिमुकले फुटले तुज पांख रे
जननिचें सुख हो मजला पुरें
हळुहळू उडया बळ ये तुला
मम सुखा मग साच नुरे तुला
रुचिर पूर्णदशागत रूप रे
तव मुला भुलवी मजला पुरे[1]

---

१. हे शुक-बालक, क्या तुझे अपनी उस स्थिति का स्मरण है, जब तेरे पूरे पंख नहीं फूटे थे, तेरे शरीर का मृदुल माँस दिखाई देता था और तेरी चोंच अत्यन्त कोमल थी। उस समय अपनी अँगुलियों को चोंच बनाकर मैंने तुझे चुगाया था। तू ही बता कि मेरे द्वारा अपनी जिह्वा पर रखे हुए दानों को तूने कितनी बार चुगा है? रे दुष्ट, उस समय तूने मुझे काटा भी है, परन्तु मैंने उस ओर कभी ध्यान नहीं दिया। रात को मैं तुझे हृदय से लगाकर सोती थी और तेरी चिन्ता से समय-समय पर चौंककर जाग जाती थी। मैंने इतनी चिन्ता तो अपने पेट के बच्चे की भी नहीं की। रे निर्दयी, इस प्रकार मैंने तेरा लालन-पालन किया।

बड़े उत्साह से सुबह उठती और तुझे बोलना सिखाती। बीच-बीच में अपना काम छोड़ देती और तुझे लेकर तेरा दिल बहलाती। तुझसे मेरा इतना प्रेम हो गया था कि तुझे घड़ी-भर के लिए भी मैं अपने से दूर नहीं करना चाहती थी।

हमारा यह प्यारा तोता आगे चलकर एक दिन देखते-देखते उड़ गया। हम तीनों शोक-सागर में डूब गए।

बीच-बीच में वह लौटकर आता और ऊँचे पेड़ पर बैठकर बोलता—

'भो भो महा-देए-व'

तब हम लोगों को खुशी होती, परंतु, एक-दो बार लाला को पुकारकर वह उड़ जाता।

नागपुर में रहते समय लाला से विवाह करने के लिए बहुत-सी लड़कियों के अभिभावकों की तरफ से प्रस्ताव आए थे। परंतु, लाला विवाह करने के लिए राज़ी न होते। वह कहते—'भाभी, आप क्यों अपने पीछे एक चिन्ता लगाए लेती हैं?' उनके इस कथन से मैं सन्नाटे में आ जाती। परंतु जो होना था, सो होकर ही रहा। उन्होंने जैसे सपना ही देख लिया था।

एक दिन लाला के नागपुर लौट जाने पर वासुदेवराव पटवर्धन का पत्र आया कि लाला विषम-ज्वर से बीमार हैं और वे मेरी, बुआजी की और तिलक की खूब याद कर रहे हैं—हम सबकी उन्होंने रट लगा रखी है। हम सब लोगों ने नागपुर जाने की तैयारी की। परंतु, दूसरे ही दिन तार आया कि लाला हम सबको छोड़कर भगवान् के घर चल दिए! यह हमने कभी सोचा भी न था कि हमारा यह तोता भी हमें इस तरह

यदि बाग में घूमती, तो तुझे हृदय से लगाकर और हाथ में लिये हुए ही। घर में जो भी नई खाने की चीज़ बनती, वह मैं पहले तुझे देती और तत्पश्चात् भगवान् को उसका भोग लगाती और अपने प्रिय पति को देती। यह सोचकर कि तेरे जन्म के समय ही कोई किरात तुझे उठा लाया, तू अपनी माँ से वंचित हो गया और तू अनाथ हो गया, मुझे तुझ पर दया आ गई और मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। पहले तेरे बदन पर रोएँ आए और फिर धीरे-धीरे केशों ने तेरा सारा शरीर ढाँक दिया। फिर तेरे पंख निकले और मुझे तेरी माँ बनने का सुख प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे तुझमें उड़ने की शक्ति आने लगी। उस समय मुझे जो सुख हुआ, वह सचमुच अतुलनीय है। पूर्ण दशा को प्राप्त तेरा सुन्दर शरीर देखकर मैं अपने-आपको भूल जाती थी।

छोड़कर उड़ जायगा। परंतु, श्री पटवर्धन का तार आने से वह बात सच सिद्ध हुई। यह हमने अब महसूस किया कि यदि हम लाला का विवाह कर देते, तो कितना अनर्थ हो जाता। कहते हैं कि ऐसे लोगों को भगवान् अपने घर जल्द ले जाता है, सो झूठ नहीं है।

कुछ समय के लिए हमारा आनंद बिलकुल अस्त हो गया और अब नाना संत को हमारे झगड़े सुनने को न मिलते थे। कुछ दिन बीते। लाला का दुःख कम हुआ। मेरे मायके जाने का समय आ गया। मैं कहती थी कि मैं नहीं जाती। मामा की मृत्यु हो गई, बुआजी दूसरे के घर पर हैं। परंतु तिलक का आग्रह था कि जाओ मैं रुपए भेजूंगा। और अब रुपए भी काफी मिल रहे थे। हमारा यह वाद-विवाद जारी था कि मेरे भाई का पत्र आया कि 'मेरी पत्नी के पुत्र हुआ है। अतः, आप दोनों उसके समारोह पर आइए।'

अब तिलक बहुत अधिक आग्रह करने लगे। देखो, अगर तुम अपने भतीजे के जन्मोत्सव पर न गई तो बहुत बुरा लगेगा। और यह तुम्हारे भाई की पहली ही सन्तान है। अगर तुम कहो कि कुछ दिनों के बाद जाऊंगी, तो बैलगाड़ी की कष्टमय यात्रा तुमसे फिर सहन न होगी।' 'हाँ-ना' करते-करते मैंने जाने की तैयारी की। घर में जो सामान तैयार रखा था, वह सब मैंने साथ रख लिया। हमने एक गाड़ी भरी और रवाना हुए।

जलालपुर पहुँचे उस दिन शनिवार था। अमावस्या थी! ऊपर से घर में "पाँचवीं"[1] थी! बुआजी बोलीं—'घर में प्रवेश न करो!'

मैंने कहा—'मैं जाऊँगी। मुझे अपनी भाभी की "पाँचवीं" क्या हानि पहुँचा सकती है? और मेरे वक्त वह "पाँचवीं" को कहाँ जायगी?'

मैंने बुआजी की एक न सुनी। सीधे भाई के घर में जाकर रह गई। तिलक लौट गए। महीने-डेढ़ महीने के बाद वह फिर जलालपुर आए। मैं सन्नाटे में आ गई। मुझे लगा कि हमेशा के रिवाज की तरह सर्वस्व

---

१. प्रसव के बाद पाँचवें दिन की पूजा।

छोड़कर, यह वणी से चले आए होंगे। परंतु वैसी कोई बात न थी। इस वक्त उनकी जेब काफ़ी गरम थी। शाम का वक्त था। घर में आम का पाल लगा था, इसलिए चारों ओर मीठी सुगंध फैली हुई थी। शाम को पशु घर लौटे। उनके पीछे-पीछे मेरे छोटे भाई विष्णु काका घर आए। जानवरों को घास आदि देकर, वे तिलक के सामने आ बैठे।

'तिलक, आज मेरे पेट में बड़ा दर्द है। मैंने सुना है कि तुमने एक सुप्रसिद्ध राजवैद्य से उनकी विद्या सीखी है। जरा हमारी भी नाड़ी देखो।'

तिलक ने नाड़ी देखकर कहा—'आज तुम अमरस और प्याज की पकौड़ियाँ अधिक खा गए हो।'

'वाह! वाह! तुम वैद्य लोग बड़े धूर्त होते हो। घर में आम की सुगंध आ रही है। इसके साथ ही आज "काँदे-नवमी"[1] है। इसलिए, तुम्हारी बात ठीक बैठ गई है। इधर-उधर देखकर निश्चित कर लिया। यदि नज़दीक लोढ़ा पड़ा हो, तो तुम एकदम कह दोगे कि रोगी ने लोढ़ा खा लिया है। यह मैं नहीं मानता। मनी की नाड़ी देखकर, ठीक बताओ कि उसके बच्चा कब होगा? तब जानूँगा कि तुम्हारी विद्या सच्ची है। आ तो मनी बाहर, अब इनकी परीक्षा ही लें।'

'मैं बता दूँगा। पर, यदि मेरी बात सच निकले, तो तुम्हें पेड़े खिलाने पड़ेंगे, नहीं तो मैं खिलाऊँगा।' इस शर्त पर मेरी नाड़ी देखना तय हुआ। मैं बाहर आकर बैठी। उस दिन मेरा जी अच्छा न था, परंतु यह बात मैंने किसी से कही न थी। तिलक ने मेरी नाड़ी देखकर कहा—'कल दोपहर को दो बजे इसके बच्चा होगा और वह लड़का होगा!'

---

१. आषाढ़ की एकादशी के बाद काँदे यानी प्याज खाना वर्जित होता है। इसलिए इस नवमी को प्याज के बने हुए नाना प्रकार के पदार्थ खाने की प्रथा है। इस दिन के बाद फिर प्याज चार महीने तक नहीं खाते। इसीलिए इस नवमी को 'काँदे नवमी' कहते हैं।

दूसरे दिन दोपहर को दो बजे मेरे बच्चा हुआ और लड़का ही हुआ ! पहले दो जापों के समय तिलक मेरे पास न थे। लेकिन इस बार उपस्थित थे। मैं बहुत बीमार हो गई। वह आषाढ़ की पहली दशमी थी। मूसलाधार पानी बरस रहा था, परंतु उस वर्षा ही में तिलक नासिक गए और वहाँ से एक मोटी फ़ीस लेने वाला डॉक्टर ले आए। उस डॉक्टर का ताँगे का किराया भी तिलक ही को देना पड़ा।

मेरे पहले दो बच्चे बचे न थे। इसलिए इस तीसरे बच्चे को मैंने अपनी भाभी की गोद में दे दिया। बच्चे को देखते ही भाभी के दूध भर आया। उसका बच्चा छह महीने का था। वह बुआजी से बोली—'सासजी, इसे मैं अब अपना दूध नहीं पिलाऊँगी।' उन्होंने कहा—'ऐसा नहीं करना चाहिए। उसकी माँ सुखी रहे।'

यह बिलकुल कृष्ण की तरह हो गया। देवकी का पुत्र था, परंतु उसे सँभाला यशोदा ने। भाभी ने मेरे बच्चे को तीन महीने अपने पास रखा और वणी में और दो स्त्रियों ने तीन-चार महीने उसे सँभाला।

तिलक ने दस दिन बाजे बजवाए। दस रुपए के पेड़े बाँटे। भाई ने दावत दी। तेरहवें दिन बच्चे का नामकरण हुआ। तिलक वणी चले गए। लड़के का नाम 'दत्तात्रेय' रखा गया।

रमा भाभी के पास वह रहता। मेरे या बुआजी के पास आता, तो रोने लगता। उसका ऐसा करना बुआजी को बड़ा अजीब-सा लगता। एक दिन बुआजी ने स्वप्न में देखा कि गोविंदराव मामा उनसे कह रहे हैं कि तिलक का मन गृहस्थी में नहीं लगता है, इसलिए मनू के घर में आया हूँ। बुआजी के मन में दृढ़ विश्वास हो गया कि गोविंदराव मामा ही बच्चे के रूप में मनू के पेट से पैदा हुए हैं। उन्होंने फिर बाजे बजवाए। पेड़े बाँटे। नामकरण किया और दत्तात्रेय का नाम 'गोविंद' रखा ! इस लड़के को आगे चलकर और भी तीन नाम मिले !

वणी में काकाजी की माँ ने अपनी मन्नत उतारते समय उसका नाम 'अंबादास' रखा। आगे बच्चा दो-ढाई साल का हो जाने पर हम राजनाद-

गाँव गए। वहाँ तिलक के एक बंगाली डॉक्टर-मित्र के आग्रह करने पर हम दत्तू को 'शरच्चन्द्र' कहने लगे। और आगे ये सभी नाम छूट गए। बपतिस्मे के समय उसका पाँचवीं बार नाम बदला गया। देव ने हमें वह दिया, इसलिए इस बार उसका नाम 'देवदत्त' रखा गया। परंतु हमेशा हम उसे दत्तू ही कहते रहे।

तीन महीने पूरे हो जाने पर मुझे ले आने के लिए तिलक ने वणी से गाड़ी भेजी। साथ में मेरी भाभी के लड़के तथा दत्तू के लिए कुरता, टोपी, खण का कपड़ा और बुआजी के लिए साड़ी आदि चीज़ें भेजीं। परन्तु गाड़ी देखते ही बुआजी बिगड़ीं—'आज शरद्-पूर्णिमा है। आज मैं मनी को नहीं भेजूँगी। उनसे कह देना कि जब लड़का पाँच महीने का हो जायगा, तब आकर ले जाना।' यह संदेश देकर उन्होंने गाड़ी लौटा दी। गाड़ी चली गई। तुरंत तिलक का क्रोध-भरा पत्र आया कि पत्र देखते ही चली आओ। अगर नहीं आओगी तो मैं अपना मुँह तुम्हें कभी न दिखाऊँगा। मैं घबरा गई। भाई ने एक गाड़ी किराए पर कर दी और मैं अकेली ही दत्तू को लेकर चल दी। परंतु वणी पहुँचने पर पता चला कि तिलक सखाराम लालाजी के घर चले गए हैं! पन्द्रह दिन के बाद वह लौटकर आए!

जब मेरी लड़की मरी थी, उस समय काकाजी की माँ ने मन्नत मानी थी कि अब यदि मनूताई के लड़का होगा तो उसका नामकरण क़िले पर जाकर करूँगी और उसका नाम 'अंबादास' रखूँगी। उसके वजन के बराबर गुड़ बाँटूँगी और पाँचवें वर्ष उसका मुंडन भी किले पर करूँगी। उसका नामकरण करने के लिए बुआजी जलालपुर से आईं। हम दस-बीस लोग किले पर गए। उनमें नाना संत भी थे। जिस दिन हम किले पर गए, उसी रात को मुझे वहाँ बुखार आ गया। दूसरे दिन वहाँ दावत करने की बात निश्चित हुई थी। नाना संत ने मेरी नाड़ी देखकर कहा कि दावत के झंझट में न पड़ो। तुरंत इसे लेकर नीचे चलो। ज्वर दोषयुक्त है। मुझे ज्वर आया था किले की चढ़ाई के परिश्रम से। जाते समय मैं पूरा किला चढ़कर ऊपर गई थी। जैसे-तैसे नामकरण-विधि सम्पन्न हुई और डोली

करके मुझे नीचे लाया गया। डोली के साथ-साथ तिलक दौड़ रहे थे। सारे लोग पीछे रह गए। दत्तू बुआजी के साथ पीछे ही था। वह लगातार रो रहा था। घर आने पर रात को भी बीच-बीच में चिल्लाकर उठ पड़ता। तिलक मेरे पास बैठे थे। लड़के ने उधर रो-रोकर कुहराम मचा दिया। बुआजी उस पर जादू-टोना करने लगीं। परन्तु उसका रोना बन्द न होता था। दूसरे दिन काकाजी की लड़की उसे अपने पैरों पर लेकर हिलाने लगी। उसका हाथ उसकी टोपी के लगता, तो वह अधिक चिल्लाता। अंत में उसने टोपी टटोलकर देखी, तो वहाँ उसके हाथ में एक सुई लगी। मैं कसीदा काढ़ रही थी और सुई चौतनी में चुभाकर रख दी थी। वह बच्चे के सिर में काफी चुभ गई थी।

बुआजी का जादू-टोना बंद हो गया। दत्तू अच्छी तरह हँसने-खेलने लगा। मेरा ज्वर मेरा पीछा न छोड़ता था। दत्तू के खाने-पीने की अव्यवस्था होने लगी। परन्तु श्रीमती भागीरथीबाई मुले और श्रीमती पार्वतीबाई देशपांडे, दोनों महिलाओं ने इस संकट के समय कुछ अपना और कुछ गाय का दूध पिलाकर उसे बचाया। वह बहुधा दिन-भर बापू साहब जागीरदार के घर रहा करता। रात को वह बुआजी के हवाले कर दिया जाता। तिलक बुआजी से कहते कि उसे जागीरदार के घर ही रहने दो। परन्तु तिलक की यह बात सुनकर बुढ़िया भभक उठती। वह कहती कि दिन में मुझे काम रहता है, इसलिए उसे अपने से दूर रखती हूँ। परन्तु रात को मैं उसे कभी अपने से दूर न रहने दूँगी। उसकी माँ बच गई, तो अच्छी बात है; और यदि न बची, तो बच्चे को पीठ से बाँधकर, मैं मज़दूरी करूँगी और उसे सँभालूँगी। तुम उसकी परवरिश के लिए यदि रुपए-पैसे न भी दो, तो भी कोई हर्ज नहीं।

आगे चलकर मैं बिलकुल बेहोश हो गई। तिलक लगातार मेरे बिस्तर के पास बैठे रहते। नाना संत भी आते-जाते रहते। एक दिन उन्होंने तिलक से कहा—'अब कल तक यह नहीं बचेगी। आज की रात जैसे-तैसे काट देगी।' गाँव छोटा था, इसलिए लोग जल्दी-जल्दी से इकट्ठे हो गए।

बहुत-से विद्यार्थी रात को सोने के लिए आए थे। तिलक ने नाना संत से पूछा—'आज रात को यह निश्चित मर जायगी न?' संत के 'हाँ' कहने पर तिलक ने पूछा—'क्या इसे "इच्छाभेदी" दे दूँ?' संत बोले—'नहीं, तुम उसकी मृत्यु दो घंटे पहले बुला लोगे।'

'जब उसकी मृत्यु निश्चित ही है, तब यदि वह दो घंटे पहले भी मर जाय, तो कोई हर्ज नहीं।' इस तरह कुछ उनसे और कुछ अपने-आपसे कहकर, तिलक ने मुझे इच्छाभेदी की गोली दी। नाना संत वहाँ से खिसक गए।

वह बोले—'तुम चाहे जो करो, मैं चला। मैं नहीं चाहता कि मुझे यह दोष लगे कि वह मेरे कारण मरी।'

तिलक मेरी नाड़ी पकड़े हुए बैठे थे। सुबह मेरी तबियत कुछ अच्छी मालूम दी। संत आए और उन्होंने प्रमाणपत्र दिया कि मैं ज़िन्दा हूँ! तिलक के धीरज की उन्होंने सराहना की। आगे चलकर धीरे-धीरे मेरा स्वास्थ्य सुधरने लगा। मेरी बीमारी में बुआजी ने बहुत-सी मन्नतें मानी थीं। आगे चलकर वे सब उतारीं। कुछ दिनों के बाद, मुझे और दत्तू को देशपांडे के घर छोड़कर, तिलक पूना चल दिए।

तिलक गए तो वहीं के हो गए। महीना-डेढ़ महीना बीत गया, उनका पता नहीं लगा!

मेरे भाई को जब यह मालूम हुआ कि तिलक का पत्र भी नहीं आता है, तब वह आया और मुझे और दत्तू को अपने साथ जलालपुर ले गया।

दत्तू आठ-नौ महीने का हो गया था। मैं मायके ही में थी। एक दिन मेरी भाभी ने कहा—

'क्यों ननद जी, क्या भूत सचमुच होते हैं?"

मैंने कहा—'नहीं जी, यह तो यूँ ही एक कल्पना बनाकर रखी गई है।'

'फिर अपने घर के देवताओं में "दादाजी" क्यों रखे गए हैं?'

मेरे मायके में दादाजी के नाम का चाँदी का ठप्पा बनाकर रखा गया

है। सब लोगों की उस पर बड़ी श्रद्धा है। बाहर जाते समय, घर में प्रवेश करते समय, विवाह आदि मंगल-कार्यों में, विपत्ति आदि में जो भी करना होता है, वह दादाजी का नाम लेकर किया जाता है। आगे उस ठप्पे को लेकर हममें बहुत-सी बातें हुईं और बातें करते-करते ही हम सो गईं।

हम हमेशा एक क़तार में सोया करतीं थीं। गरमी शुरू हो गई थी, इसलिए उस दिन पहली बार ही हम बीच के कमरे में न सोकर, बरामदे में आकर सोई थीं। सुबह के वक्त मैंने सपने में देखा कि दादाजी आए हैं। मैं जाग उठी। बाहर दूध-सी चाँदनी छिटक रही थी। इसलिए बरामदे में अधिक अँधेरा लग रहा था। सहन में चार भील सोए हुए थे। विष्णु काका बरामदे के कमरे में भीतर से साँकल लगाकर सोए थे। यह कमरा तख्तों का बना था। नौकरानी पड़ोस में पीसने गई थी। उसने बाड़े के द्वार की बाहर से साँकल लगा ली थी।

भैंस हाल ही में ब्याई थी। उसकी चार दिन की पड़िया को बरामदे में भाभी के पैरों के पास ही बाँध दिया गया था। उसने भाभी का पैर चाटा और भाभी ने ज़ोर की आवाज़ लगाई। उसके उठते ही बुआजी उठ पड़ीं और उन्होंने उसके बच्चे को अपनी गोद में ले लिया। वह उसे जगाने लगीं। परन्तु उसके मुँह से शब्द न निकलता था। वह भी 'आँ! आँ! आँ! आँ!' ही कर रही थी। दोनों की आवाज़ों में कोई अन्तर न था। मैं पूरी तरह से जाग चुकी थी। परन्तु मुझसे भी दूसरी प्रकार की आवाज़ निकलते नहीं बनती थी। मैंने भी उन दोनों की आवाजों ही में अपनी आवाज मिला दी। गनीमत थी कि नज़दीक कुम्हार का घर न था। भाई नज़दीक वाले कमरे में तख्तों पर लातें और घूँसे जमाने लगा। वह चिल्ला रहा था—'अरे, ज़रा दरवाजा तो खोलो। फिर मैं एक-एक की खबर लेता हूँ।' नौकरानी के कानों में यह आवाज पड़ते ही वह घबराकर, तुरंत दौड़ती हुई आई और बाड़े के दरवाजे में बाहर से धक्के मारने लगी! वह यह भूल ही गई थी कि उस दरवाजे की साँकल बाहर से उसीने लगाई है! सहन में सोए हुए नौकर हाथों में कुल्हाड़ियाँ और लाठियाँ लेकर

नाचने लगे ! 'वाम्हननी जान से मर गई, वाम्हननी जान से मर गई !' यह उनकी टेक थी। पर, वे यह भी अनुभव कर रहे थे कि हम लोग भीतर हैं। इस तरह सारी गड़बड़ मच रही थी। इसी समय मैंने भाभी के गले में बाँहें डालीं, नज़दीक बुआजी थीं, उन्हें मेरी बाँहें जा लगीं। तुरन्त ही वह चिल्ला उठीं —'अरे देखते क्या हो ? यही है !' यह सुनते ही बाहर के चारों नौकर मुझ पर टूट पड़े। खड़े-खड़े ही दत्तू को गद्दी पर रखकर मैं सहन में दौड़ पड़ी और चिल्लाकर कहने लगी—'अरे, मैं मनी हूँ, मनी !' सारा भेद खुल जाने पर सुबह तक लगातार कहकहे लगते रहे। आगे कितने ही महीनों तक यह दिल्लगी याद आती रही और हम खूब हँसती रहीं।

बुटी के बगीचे में

वणी में हमारा सब प्रबन्ध बहुत अच्छा हो गया था। तिलक को समाज-सेवा करने, पाठशाला चलाने और धर्म का अध्ययन करने के लिए यहाँ भरपूर अवसर और समय मिलता। परंतु वणी छोड़कर जाने का समय अब आ गया था।

नागपुर के श्रीमान् अप्पा साहब बुटी ने तिलक को एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था—'कुछ जन-सेवा करने के उद्देश्य से मैंने वेदों का अनुवाद करने की योजना बनाई है, अतः इस कार्य में तुम्हारी सहायता चाहता हूँ।'

हमने नागपुर जाने का निश्चय किया। वहाँ तिलक ने 'ऋषि' नामक वेदों के अध्ययनविषयक एक मासिक-पत्र निकालना शुरू किया और अप्पा साहब के छोटे पुत्र गोपालराव उर्फ़ बापू साहब को पढ़ाने की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर ली।

एक दिन अप्पा साहब तिलक से बोले—'तिलक मैं सोचता हूँ कि बापू साहब को तुम्हारे ही घर रख दिया जाय।'

तिलक ने अप्पा साहब की बात तुरंत स्वीकार कर ली, परंतु अपने पुत्र के खाने-पीने और रहने के लिए जो रुपए वह दे रहे थे, वे उन्होंने स्वीकार न किए। उनका कहना यह था कि गुरु-गृह में रहना किसी होटल में रहना नहीं है।

गोपालराव स्वभाव से अत्यन्त सीधे, विनम्र और विनोदी थे। उन्हें

केवल उनके जेब-ख़र्च के लिए ही सौ रुपए मिला करते थे। उनका काम करने के लिए दो नौकर थे। परंतु जब बापू साहब हमारे घर रहने को आए, तब बिलकुल ग़रीब विद्यार्थी की तरह। उन्होंने एक बार भी यह आभास न होने दिया कि वह बड़े आदमी हैं और उन्हें इस बात का घमंड है।

घर में मैं उसे 'तू' कहा करती और वह भी हमारे घर के काम चुपचाप हँसते-खेलते किया करता। उसके घर में सिर्फ़ खर्च लिखने के लिए कितने ही कर्मचारी थे। परंतु उसके घर की परिस्थिति का हम कभी कोई ख़याल न करते और वह उसके भी ध्यान में कभी न आती।

हमारे घर खर्च काफ़ी था। आमदनी मामूली ही होती थी। अपने घर के मालिक भी हम और नौकर भी हमीं थे! हमीं सेठ और हमीं मुनीम! गोपाल तिलक को 'गुरुजी' कहता और मुझे 'बाई' कहकर संबोधित करता। इसलिए दत्तू मुझे ईसाई होने तक 'बाई' कहा करता था। महादेव लाला हमारे ही घर रहते थे। उनकी गोपाल से घनिष्ठ मित्रता हो गई।

बाग के सूखे पत्ते समेटकर वे दोनों आग जलाते और उस पर अपने नहाने का पानी गरम कर लेते। तिलक के लिए भी पानी गरम करके रख देते। रात का बासी भात गरम करके उसे छाछ के साथ खाकर बाहर चले जाते। कभी कोई उससे पूछता—'बापू साहब, आज क्या-क्या खाया?' तो वह बड़े-बड़े पकवानों के नाम बताता। घर में उससे प्रेम करने के लिए पिता और भाई को छोड़कर और कोई न था। पत्नी की उम्र सात वर्ष की थी और भौजाई थी नौ साल की।

हमारा घर उसे अपने निजी घर-सरीखा लगता। वह कहता—'मुझे "साहब" कहकर संबोधित करने के लिए बहुत लोग हैं। परंतु "तू" कहने वाला कोई नहीं।' मैं जब रसोई बना देती, तो वह थालियाँ लगाता। बाद में सारा सामान समेटता और घर की व्यवस्था भी वही करता। हम दोनों उसे हृदय से प्रेम करते।

एक दिन तिलक बाहर गए थे। लाला और गोपाल का एक मित्र उनसे मिलने आया था। तीनों लड़कों ने भोजन किया। हर दिन की तरह उन्होंने घर के सब काम पूरे कर लिए, अपने-अपने बिस्तर बिछा लिए और मुझसे कहा—'बाई अपना काम निबटाकर बाहर आइए। हम आँगन में बैठकर बातें करेंगे।'

भोजन से निबटकर मैं बाहर आई। तीनों वहीं सो गए थे। मैंने उन्हें हिलाकर जगाया। दो तो जाग गए, पर गोपाल ने ज़रा भी हलचल न की। मेरे छक्के छूट गए। वे दो लड़के भी घबरा गए। गोपाल का शरीर ठंडा—एकदम ठंडा लगने लगा। यह सब गड़बड़ हो रही थी कि लगभग आधी रात हो गई। मैं रोने लगी। वे टुकुर-टुकुर देखने लगे।

मैंने कहा—'भैया, तुम लोग बाड़े में जाओ और यह सब हाल महाराज से जाकर कहो।'

वे बोले—'हमें डर लगता है।'

मेरे मन में एक-एक करके कई विचार आने लगे। नज़दीक ही श्मशान था। कहीं यह भूत-बाधा तो नहीं है? मैं बार-बार बापू साहब को टटोलकर देखती, पर वह ठंडा ही लगता!

'अजी, मैं खुद जाती हूँ। तुममें से एक यहाँ बैठो और एक मेरे साथ चलो।'

पर, इसके लिए भी वे राज़ी न हुए।

'फाटक में ताला लगा है। आप जायँगी कैसे?'

'मैं जाऊँगी। क्या इसे इसी तरह मर जाने दूँ?'

'यदि आप चली जायँगी, तो हम दोनों यहाँ किस तरह दम ले सकेंगे?'

'तुम दम लो या छोड़ दो। मैं तो अब चली।'

इस तरह उनसे स्पष्ट कहकर, मैं चल पड़ी। बँगले से बाग़ का फाटक काफ़ी दूर था। चाँदनी खूब खिली हुई थी। मैं आँचल बाँधकर फाटक पर चढ़ने लगी। मन में नाना प्रकार के विकल्प आ रहे थे। मैं बाड़े में कैसे प्रवेश करूँ? कहीं मुझे चोर समझकर कोई पकड़ न ले और ले जाकर

महाराज के सामने खड़ी कर दे ? वहाँ तो संगीनों का ज़बरदस्त पहरा लगा है। यदि मुझे किसी ने पहचाना नहीं तो मेरी क्या दशा होगी ? ऐसे विचारों ने मेरे मन में कुहराम मचा दिया था। फाटक पर चढ़कर मैं उस पार जाने ही वाली थी कि किसी ने वाग में खड़े होकर मेरा पैर खींचा। नीचे देखा तो कुछ-कुछ वापू साहव सरीखा लड़का दिखाई दिया ! क्या वापू साहव का भूत ही था वह ? मेरे शरीर से खूब पसीना छूटा। घिग्घी वँध गई मेरी ! मैं ज़ोर से चिल्ला पड़ी—'कौन है रे तू ?'

दोनों ने मुझे एक पेड़ के सहारे टिकाकर बैठा दिया और फिर उनमें से एक दौड़कर पानी ले आया। मैं होश में ही थी, परंतु मेरी घिग्घी बँध गई थी।

वापू साहव ने कसकर मेरे चरण पकड़ लिए—'वाई, आप यह सव गुरुजी से न कहिएगा। मुझसे भूल हो गई। आपसे हम लोगों ने यह सिर्फ़ मज़ाक किया था। आगे फिर कभी ऐसा न करेंगे।'

मैं वहुत नाराज़ हो गई थी। 'हँसिए, ज़रा हँस दीजिए, बाई। आपके हँसे विना मैं आपके चरण नहीं छोड़ूँगा।'

मुझे रोना आया और हँसी भी आई। महादेव लाला वड़ी गंभीरता से वोले—'मेरी भी राय है कि आप नाना से इस सबंध में कुछ भी न कहें।'

'क्या तुम मुझे फिर इसी तरह तकलीफ़ दोगे ?'

'नहीं, नहीं। आज से हम आपको कभी कोई कष्ट न देंगे।'

इस तरह वह दिल्लगी हुई। उन तीनों ने पहले ही से ऐसी एक योजना तय कर ली थी। महादेव लाला उस योजना के विरुद्ध थे, पर उन दो के सामने उनकी कुछ न चली। लेकिन इस योजना का परिणाम ऐसा होगा, इसकी पहले किसी को कोई कल्पना भी न थी।

एक दिन महादेव लाला कहने लगे—'नाना को आज एक अच्छा पारितोषिक मिला और वह उन्होंने किसी को दे डाला। आप उनसे यह न कहिए कि यह वात आपसे मैंने कही है।'

रात को तिलक घर लौटे। मैं विस्तर पर पड़ी थी। लाला पढ़ रहे थे। मैंने जान-बूझकर नींद का वहाना किया। मैं वनावटी नींद में वर्राने लगी।

'रुपए अगर किसी को दे दिए तो क्या हो गया? इस हाथ आए थे, उस हाथ चल दिए। वह तो पूर्वी वारिश है! उसका पानी थोड़े ही ठहरा करता है?'

तिलक मुझे हिलाने लगे।

'अजी, उठो! यह क्या वड़वड़ा रही हो? क्या कोई सपना देख रही हो तुम?'

लाला और गोपाल दोनों नज़दीक ही वैठे थे। नीची निगाह करके वे हँस रहे थे। फिर मैं झूठ-मूठ जाग उठी।

'क्या तुम सपना देख रही थीं?'

'हाँ। जैसे आपको कुछ रुपए मिले और आपने वे किसी को दे डाले।'

'वड़े अचंभे की वात है, भई! सचमुच मैंने एक व्यक्ति को रुपए दिये हैं आज।'

एक दिन वापू साहव ने कहा—'वाई, आज हमें खाने के लिए कोई चीज़ दीजिए। तिलक समीप ही वैठे थे। मैंने वापू को चार आने दिए और वह वाजार जाकर दो ख़रवूजे ले आया।

ख़रवूजे देखकर मैंने कहा—'अरे हाँ, हमें चैत्र का हल्दी-कुंकुम करना चाहिए।'

तिलक वोले—'कैसी मूर्ख हो तुम? हल्दी-कुंकुम करने का मतलव है केवल प्रदर्शन करना। अपनी कला दिखाने के लिए तुम्हारे पास क्या धरा है? है कुछ?'

'नहीं है, तो क्या हुआ? क्या गोरी होने पर ही काजल लगाना चाहिए?'

वीच ही में गोपाल वोल उठा— 'वाई, आज भोजन करने मुझे वाड़े में जाना है।'

हमारी हल्दी-कुंकुम की बातें वहीं तक रहीं। गोपाल उस दिन जो वाड़े में गया, सो दिन-भर वहीं रहा। रात को सोने के लिए हमारे घर आया।

दूसरे दिन नित्य की भाँति प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने काम में व्यस्त हो गया। तिलक एक तरफ जाकर बैठ गए और लिखने लगे। मुझे अपनी 'चूल्हा-सास' का डर था। मैं उसका सिर पकड़कर बैठ गई। इसी समय दरवाजे के सामने दो-तीन गाड़ियाँ आकर रुकीं। मुझे लगा कि बँगले में और कोई महाशय रहने आए हैं। गाड़ी में रखे हुए बड़े-बड़े बरतन रसोईघर में ले जाकर रखे जाने लगे। दूसरी चीज़ों और लकड़ियों का बरामदे में ढेर लग गया। मैं तो आश्चर्य-चकित हो गई। रसोइयों, पानी भरने वालों, परसने वालों आदि की दौड़-धूप होने लगी। बंगले में "खट्-खट्, ठक्-ठक्" की आवाजें आने लगीं। इधर तिलक, महादेव लाला और गोपाल आदि अपने-अपने काम में मग्न थे।

मैं रसोईघर से बँगले में और बँगले से रसोईघर में आ-जा रही थी। मैंने कहा—'हम व्यर्थ ही यहाँ रहने आए। घर का हम कोई किराया तो देते नहीं हैं। महाराज ही मालिक हैं इस बँगले के। जो जी में आवे, वह कर सकते हैं। हमें क्या तकलीफ़ होगी, इसकी उन्हें थोड़े ही परवाह होगी? यह क्या वन-भोज का प्रबंध हो रहा है? इस गड़बड़ी में मैं अपनी रसोई कैसे बनाऊँ? अब लोग खाना खाने आयँगे, तो उन्हें परसूँगी क्या?' मैं इधर रसोई बनाने की चिन्ता में पड़ी हुई ही थी कि उधर दस-पन्द्रह आदमियों का खाना बनकर तैयार भी हो गया। परसने वालों ने थालियाँ लगाईं। भोजन की तैयारी हो गई। मैं बिलकुल चकित थी। खाने के लिए लोग इकट्ठे हुए। मुझे भी खाने के लिए बुलाया गया। मैंने कहा—'मैं नहीं जाती। मेरे घर के लोगों ने अभी तक खाना नहीं खाया। फिर मैं कैसे खाने आऊँ?' अन्न से इन्कार कर देने में मुझे बड़ा पाप लगता। परंतु, मेरी बड़ी विचित्र स्थिति हो गई थी। मैंने उन लोगों से कहा—'मेरी रसोई में तुमने यह सारी गड़बड़ मचा रखी है। क्या बापू साहब आज

खाने के लिए अपने घर चले गए ?'

इस पर वे बोले—'बाई साहब, बापू साहब ही आपको भोजन करने बुला रहे हैं।' अब मैं सचमुच भभक उठी। मुझे तिलक पर बड़ा क्रोध आया। मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया—'उनसे कह दो कि मैं भोजन करने नहीं आती।'

परंतु गोपाल स्वयं आ पहुँचा। उसने मेरा हाथ पकड़ा। मैंने उसे झटककर छुड़ा लिया।

'बाई, मेरी बात तो सुन लीजिए। फिर चाहो तो भले ही मुझ पर नाराज़ हो लेना!'

यह कहकर वह मुझे बँगले में ले गया। भीतर जाकर देखा तो आधी से अधिक गौरी की झाँकी सजी हुई थी! झाँकी की वह सजावट देखकर आश्चर्य से मैं बिलकुल चकित ही हो गई! मेरी आँखें आनंद के आँसुओं से डबडबा आईं। मुझसे कुछ भी नहीं बोला जाता था। बापू साहब के आगे मैं चुप थी। मेरा सारा क्रोध हवा हो गया।

तिलक भोजन करने आए। उन्हें लगा कि आज बाड़े के कोई मेहमान बन-भोज के लिए बँगले पर आ रहे होंगे। मतलब यह कि किसी को किसी का कोई पता न था। भोजन समाप्त करके तिलक जब बँगले के बैठकखाने में पहुँचे तो देखा कि वहाँ गौरी की बढ़िया झाँकी लगी हुई है।

बस, तिकल मुझ पर बिगड़ पड़े।

'तुम्हारा ही अनर्थ है यह। तुम बड़ी मूर्खा हो। इस क़ीमती माल की हमें क्या ज़रूरत? यह सोना, चाँदी, हीरे, माणिक आदि अगर खो जायँ तो इसके लिए कौन ज़िम्मेवार होगा?'

'कौन से मतलब? जो लाया है, वह।'

'देखो भई, कम-से-कम मुझे तो यह बिलकुल पसंद नहीं।'

गौरी की झाँकी इतनी सुन्दर बनाई गई थी कि मैंने इतनी सुन्दर सजावट जीवन में पहले कभी न देखी थी और न ऐसा लगता है कि आगे भी कभी देखूंगी। दोपहर को दो बजे के लगभग बापू साहब की भाभी,

पत्नी और एक दासी गाड़ी से उतरीं। कमरे के चारों ओर खस की टट्टी की आड़ लगाकर उस पर पानी छिड़कने का प्रबंध किया गया था। गौरी के आगे चाँदी के दीये, सामने चाँदी के बड़े-बड़े थाल, थालों में नाश्ते के पदार्थ भरे हुए थे। एक ओर हल्दी-कुंकुम की सारी चीज़ें तैयार थीं! इत्र, गुलाबजल, पान-सुपारी, परसादी इत्यादि सारी व्यवस्था बिना कहे कर दी गई थी। ये लड़कियाँ इसी तैयारी से आई थीं। उन्होंने हल्दी-कुंकुम दिया। मैंने परसादी बाँटी। वे दोनों बहुओं की तरह काम कर रही थीं।

हल्दी-कुंकुम का समारोह समाप्त हुआ। मैं जब घर में गई तो देखा कि फिर से थालियाँ लगी हैं। धीरे-धीरे तिलक की मित्र-मंडली आने लगी। महाराज आए। भोजन का ठाठ बिलकुल अमीराना था। नाना प्रकार की चटनियाँ, रायते, चार सब्ज़ियों, श्रीखंड, पूरियों इत्यादि पदार्थों से थालियाँ सजी हुई थीं। भोजन में किसी चीज़ की कमी न थी। महाराज ने कहा—'तिलक, आज तुम्हारे घर तुम्हारी पंक्ति में भोजन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अतएव मुझे बहुत आनंद अनुभव हो रहा है।'

तिलक केवल हँस दिए।

गोपाल बुटी को हमारा घर अपने निजी घर से भी अधिक प्रिय लगता। घर में जब महादेव लाला और बापू साहब भोजन करने के लिए बैठते और उसी समय यदि बाहर कोई पहचान का व्यक्ति आ जाता, तो गोपाल बड़े-बड़े पकवानों के नाम लेकर मुझसे उन्हें परोसने को कहता। बेसन के लिए 'श्रीखंड', खट्टी दाल के लिए 'रबड़ी', रोटियों के लिए 'पूरी', बघार दिये गए भात के लिए 'मीठा केशरिया भात'—इस तरह हमारी सांकेतिक भाषा निश्चित हुई थी। कोई आता तो बापू साहब कहते—'बाई, एक ही सब्ज़ी चार जगह परस दें। मेरे मित्रों से आप भोजन करने का आग्रह करें और मैं कहूँगा—'बाड़े में महाराज मेरी प्रतीक्षा करते होंगे। यदि मैं जल्दी न गया, तो वह नाराज़ हो जायँगे।' इस तरह वह अपने मित्रों को हमारे घर से विदा कर देता और हमारे घर के रहन-सहन के संबंध में अच्छे विचार लेकर उसके मित्र चले जाते।

हल्दी-कुंकुम के दिन महाराज को इस वात का पता चला। वैसे तिलक की दान देने की प्रवृत्ति के वारे में उन्होंने काफ़ी सुना था और उससे वह परिचित भी थे। महाराज चाहते थे कि तिलक रोज़ उनके घर आया करें और वेतन उन्हें अपने ही घर दिया जाय। उनके हाथ में हमेशा रुपए रहें और रोज़ उनसे अपनी भेंट होती रहे। इस उद्देश्य से महाराज ने एक उपाय निकाला। वह तिलक से वोले—

'तिलकजी, आप मेरे घर आकर रोज़ दो रुपए ले जाया करें। लेकिन वे मैं और किसी को न दूंगा। आपको स्वयं आना होगा।'

तिलक ने यह वात अस्वीकार कर दी और वह हमेशा की तरह ही रहने लगे।

वैसे नागपुर और राजनादगाँव हम दो वार जा चुके थे। एक वार तो उस समय, जव संगमनेर छोड़ते ही तिलक ने व्यापार करने का निश्चय करके नागपुर में पटाखों की दूकान खोली थी और अपने सारे पटाखे अपने वाल-मित्रों के साथ चला दिए थे। और वाद में दूसरी वार, जव वणी की गृहस्थी समेटकर, श्रीमंत अप्पा साहव वुटी का निमंत्रण स्वीकार करके वेद-सेवा करने आए थे।

इस पहली वार की यात्रा के कुछ प्रसंग यहाँ दिए हैं। कुछ दिन नागपुर में काटकर हम राजनादगाँव गए थे।

राजनादगाँव में तिलक पर यह धुन सवार हुई कि अपनी पत्नी को लिखना-पढ़ना सिखाना चाहिए। तिलक छोटे लड़कों को पढ़ाने में भले ही वड़े कुशल रहे हों, परंतु मुझे पढ़ाने में उनकी कुशलता ने जवाव दे दिया। एक तो मैं छोटी नहीं थी, दूसरे मैं स्त्री थी! और तीसरे मुझे हँसी वहुत आती थी। उस हँसी ने मुझे शिक्षा के मामले में भी धोखा दिया।

मुझे पढ़ाने का निश्चय करने पर अपने पास के सव रुपए खर्च करके मेरे लिए एक दिन वह पहली से लेकर छठी कक्षा तक की पुस्तकें खरीद लाए! एक तरफ तिलक वैठे। दूसरी ओर मैं वैठी। वीच में पुस्तकों का ढेर लगा दिया गया और हमारी पढ़ाई शुरू हुई।

आरंभ व्याकरण से हुआ।

तिलक बोले—'शब्द यानी क्या ?'

मुझे ज़ोर की हँसी आ गई। यह कैसा अजीब सवाल है ? शब्द यानी शब्द !

'शब्द यानी शब्द।' मैंने उत्तर दिया।

'परंतु, शब्द का अर्थ बतलाओ !'

'शब्द का अर्थ शब्द !'

'परंतु, शब्द यानी क्या ?'

फिर मैंने अपना वही उत्तर दिया कि 'शब्द यानी शब्द।' बस, हो चुका ! तिलक आग-बबूला हो गए। वह जैसे-जैसे बिगड़ते, मैं हँसने लगती। मैं हँसने लगती, तो वह और भी अधिक आपे से बाहर हो जाते।

अंत में क्रोधाग्नि और मेरी हँसी की हवा से एक बड़ा विस्फोट हो गया। वह विस्फोट होते ही पुस्तकें भड़क उठीं ! तिलक ने सारी पुस्तकें फाड़ डालीं और उन टुकड़ों के ढेर में दियासलाई लगा दी।

यह थी हमारे पहले दिन की पढ़ाई ! तिलक चाहते थे कि एक सप्ताह के भीतर ही उनकी पत्नी उनकी तरह विद्वान् हो जाय और मैं ठहरी अव्वल दर्जे की बुद्धिहीन। तब यह होता कैसे ?

परन्तु धीरे-धीरे उन्हें अपनी ग़लती महसूस हो गई और उन्होंने मुझे 'अ' से 'ज्ञ' तक के अक्षर लिखने को दिए। यह हो जाने पर 'क' की बारहखड़ी करा दी। परन्तु मुझे यह पढ़ाई कराने में उन्हें कोई मज़ा न आया और मेरी पढ़ाई यहीं समाप्त हो गई। पर इसके आगे मेरा पठन-पाठन बढ़ा और पठन-पाठन ही में शेष बारहखड़ी और संयुक्त अक्षर आदि मुझे अपने-आप आ गए। परन्तु क्ष, ज्ञ, क, ख आदि महाशय आज भी कभी-कभी मेरी फ़ज़ीहत कर देते हैं।

उसी समय की और भी एक-दो बातें याद आती हैं।

एक दिन जलालपुर से पत्र आया कि गोविंदराव मामा का स्वर्गवास

हो गया !

पत्र पढ़कर हम दोनों को बहुत बुरा लगा। हमने तुरन्त राजनादगाँव छोड़ा। मुझे जलालपुर पहुँचाकर तिलक फिर राजनादगाँव लौट गए।

परन्तु राजनादगाँव में उन्होंने दो-तीन महीने जैसे-तैसे काटे और बाद में राजनादगाँव छोड़कर वह नागपुर आए।

तीन-चार महीने के बाद जलालपुर में तिलक का तार आया—'मैं सख्त बीमार हूँ। तुरन्त चली आओ !'

बुआजी बहुत घबरा गईं। वह पहले ही दुःख से दग्ध थीं। घर में पैसा-धेला कुछ था नहीं। कोई पुरुष नहीं था। नागपुर बड़ी दूर था। उन्होंने लगान देने के लिए पचास रुपए दीवार में गाड़कर रखे थे। नागपुर जाने के लिए उन्हींको साथ में ले जाने के सिवा और कोई चारा न था। लगान वसूल करने के लिए पटवारी जी सुबह ही से आकर डटे हुए थे और तार भी वही पढ़वाकर ले आए थे। घर में रुपए तो सिर्फ़ उतने ही थे। अंत में बुआजी पटवारी से बातें करने लगीं और उन्होंने दीवार में गड़ी हुई रुपयों की डिबिया धीरे-से निकालकर अलग रख देने के लिए मुझसे कहा। मैं घबराई हुई थी। जिन रुपयों को चुपचाप निकालना था, मेरी घबराहट के कारण आखिर उनका शोर-गुल हो ही गया। डिब्बी का ढक्कन खुल पड़ा और सारे रुपए खनाखन नीचे गिर पड़े। पटवारी जी को यह सब दिखाई दे रहा था और सुनाई भी पड़ रहा था। परंतु वह इस तरह बैठे रहे, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। 'गंगा' में बाढ़ आ रही थी। फिर भी, उन्हीं पटवारी जी ने हमें और हमारे रुपयों को सकुशल गंगापुर ले जाकर पहुँचा दिया और वहाँ से एक बैलगाड़ी किराए से लेकर हम स्टेशन पहुँचे।

मेरे बचपन में जलालपुर में पटेल और पटवारी किसी को भी रुपए ऐंठने वाले सरकारी पठान प्रतीत नहीं होते थे। सब एक-दूसरे की ज़रूरत पर काम आते थे। किसी की कोई ऐसी बात न होती, जो दूसरों से छिपाकर रखी जाती। सबकी कठिनाइयाँ सबके सामने रहतीं और सब दूसरों की मदद के लिए दौड़ पड़ते।

कहा जाता है कि शहर में लोगों की दृष्टि अधिक व्यापक वन जाती है। परंतु मेरी राय कुछ अलग है। देहात का रहन-सहन वड़ा मज़ेदार होता है। सारा गाँव एक वड़ा परिवार ही वन जाता है। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में गाँव के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति कौतूहल, चिन्ता और आस्था होती है। एक-दूसरे के प्रति आत्यंतिक सहानुभूति होने के कारण जाति-भेद का वहाँ आभास नहीं होता। ऊँची जाति की छुआछूत की भावना के कारण नीची जाति का अपमान नहीं होता और नीची जाति के प्रति उच्च जाति को तुच्छता की भावना प्रतीत नहीं होती। इस ग्राम-परिवार में जाति-भेद के कारण कभी कोई उठा-पटक होती दिखाई नहीं देती। आड़े वक्तों, वीमारियों और संकटों में तथा एक-दूसरे के सुख-दुःखों में वे एक-दूसरे के भागीदार वनते हैं। कम-से-कम मेरा तो यही अनुभव है। आज ऐसी स्थिति शायद न हो! मैं तीस-पैंतीस वर्ष पहले की वात लिख रही हूँ। रेलगाड़ियों और मोटरों ने आज के गाँवों को शहरों के आँगन और वरामदे वना दिया है।

नागपुर पहुँचने पर तिलक के घर का पता कैसे चलेगा, हमें वहाँ तक कौन पहुँचायगा इत्यादि वातों की चिंता नासिक छोड़ने के वाद से मुझे लगी हुई थी। परंतु नागपुर पहुँचते ही वहाँ तिलक के मित्र हमें गाड़ी से उतारने लिए स्टेशन पर हाज़िर थे। किसी ने उन्हें हमारे नागपुर पहुँचने का चुपचाप तार दे दिया था।

उन्होंने हमें घर पहुँचा दिया, परंतु वहाँ तिलक का पता न था। यह सुनकर कि वह स्वस्थ हैं, व्याख्यान देते फिर रहे हैं और आन्दोलन में भाग ले रहे हैं, हमें आनन्द हुआ। विशेषतः यह जानकर कि उन्हें ज्वर वगैरह नहीं आया था, हमें वड़ा संतोष हुआ। क्रोध भी आया, पर केवल उस समय।

उस दिन श्रावणी सोमवार था। तिलक के मित्र उनसे मिले। वोले—'आज एक वुढ़िया एक ब्राह्मण को भोजन कराना चाहती है। तुम जा सकते हो क्या?' तिलक राज़ी हो गए। उनके मित्र दिया-वत्ती के वक्त

उन्हें अपने साथ लेकर, उन्हींके घर आए। तिलक ने बुढ़िया को देखा और वह चौंक पड़े। 'यह तो मेरी सास है!'

'आप आ गई? यह किसका घर है?'

बुआजी ने तिलक के मित्रों की ओर अँगुली का इशारा किया। मित्र-गण कहकहा मारकर हँसने लगे!

तिलक ने कहा—'थैंक यू!'

तिलक के मित्रों ने उन्हें इस तरह छकाया। घर लेकर, सारा सामान खरीदकर, तरीके से उसे सजाकर और उसमें अनाज आदि भरकर हमें बुलाया और फिर उन्होंने तिलक को इस तरह लाकर चकित किया था।

दो-चार दिन के बाद ससुरजी वहाँ आए। अब हमारी गृहस्थी में अवश्य बहुत-कुछ जान आ गई। ससुर जी थे एक प्रकार के स्वभाव के और बुआजी का स्वभाव दूसरी ही तरह का था।

बुआ जी घर-गृहस्थी के काम में बड़ी चतुर स्त्री थीं और दूसरी बात यह थी कि यदि कोई उनकी रसोई में कोई दोष निकालता या उसे बुरा कहता, तो वह उनसे कभी बरदाश्त न होता। ससुर जी को भी अपनी रसोई पर बड़ा गर्व था। विशेषतः "देश" की रसोई और "कोकण" की रसोई, दोनों की वह हमेशा तुलना किया करते। मेरा काम परसने का था। बाहर आकर परसने के बाद ससुरजी रसोई की इस अंदाज़ से आलोचना करते कि वह मेरे तथा बुआजी के कानों में पड़ जाती। जब मैं रसोईघर में जाती तो बुआजी मुझ पर बिगड़ उठतीं। कहतीं—'तेरा ससुर मेरी रसोई को इस तरह क्यों बदनाम करता है?' मेरी दशा मृदंग-जैसी हो गई थी। एक चपत ससुरजी की पड़ती, तो दूसरी ओर से दूसरी बुआजी की पड़ती।

अस्तु। कुछ दिनों के बाद ये दोनों अपने-अपने गाँव चल दिए।

तिलक की दानवीरता कमाल की थी। साथ ही उन्होंने रुपए-पैसे को कभी मूल्यवान् वस्तु न समझा। रुपए-पैसे होने पर उन्हें जितना आनंद

होना चाहिए, उतना ही यदि रुपए-पैसे उनके पास न हों, तब भी होता। मैं तो उलटे उनसे यह कहती कि, 'तुम्हारे पास जब पैसा रहता है, तब तुम इसी फ़िक्र में रहते हो कि वह किस तरह चला जाय!' वह बना रहे, इस चिन्ता में मैं रहती। रुपयों-पैसों को खर्च करना आसान होने के कारण इस लड़ाई में जीत हमेशा उन्हींकी होती। साथ ही उन्हें कर्ज़ देने के लिए भी लोग हमेशा तैयार रहते। इसलिए मेरे पास रुपए-पैसे बचे रहें, यह संभव ही न था। क्योंकि कर्ज़ लेते थे वे और चुकाती मैं; यह क्रम भी चल ही रहा था।

अस्तु। नागपुर ही की एक बात बता दूँ। एक दिन घर में भुनी भाँग भी न थी। मेरे पास केवल एक रुपया बचा था।

'क्या बाज़ार जा सकते हैं आप?'

'हाँ, चला जाऊँगा। पैसे तुम्हारे हैं। हमारा क्या? हम तो नौकर हैं तुम्हारे!'

इस पर थोड़ा-सा प्रेम का वाद-विवाद हुआ और अंत में मैंने उन्हें चावल लाने के लिए बाज़ार भेजा। उनके जाने पर मैं उनके लौटने की प्रतीक्षा करने लगी। परंतु नित्य की भाँति विलंब न लगाकर वह तुरंत लौट आए। हँसते-हँसते आए। लेकिन उनके हाथ में चावल की गठरी नज़र न आती थी।

मुझे बड़ा क्रोध आया। लेकिन, ऐसा हमेशा ही हुआ करता था। मैं जब क्रोध करती, तब वह मुझे जिजाई[1] कहते और अपने-आपको तुकाराम[2] कहते। उन्होंने जेब से एक सुंदर-सी काँच की दावात निकालकर मेरे सामने रख दी।

'देखा, कितनी सुंदर दावात है?'

'तो क्या अब इस दावात को पकाऊँ? क्या करूँ अब?'

---

१. संत तुकाराम की पत्नी।

२. महाराष्ट्र के एक प्रसद्धि संत।

तिलक ने दावात उठा ली। सीधा अटारी का रास्ता पकड़ा और ऊपर की खिड़की से वह दावात सीधी नीचे सड़क पर फेंक दीं तथा ऊपर से जोर से चिल्लाकर मुझसे कहा —'तुम मनोविज्ञान नहीं समझतीं।'

सचमुच मनोविज्ञान मेरी समझ में नहीं आता था और न आज भी आता है। मेरा खयाल है कि जिजाबाई की समझ में भी वह न आया होगा, और न सुकरात की बीवी ही उसे समझ सकी होगी। लेकिन यदि वे अपने जीवन के संस्मरण लिखकर छोड़ जातीं, तो उन महिलाओं की गृहस्थियों की कठिनाइयाँ लोगों के ध्यान में आ जातीं। उन्होंने दूसरों के मनों के बारे में भले ही कुछ न जाना हो, किन्तु स्वयं उनके मन में जो हलचलें होती थीं, उनका उन्हें जरूर अच्छी तरह पता होना चाहिए।

तिलक सोचते कि मेरी पत्नी गृहस्थी में इतना मन क्यों लगाती है? मैं सोचती कि—चूंकि मेरा पति गृहस्थी में मन नहीं लगाता, इसलिए, मेरा लगाना आवश्यक है। यदि हम दोनों ही विरक्त बन जायँ, दोनों पर उपवास करने की नौबत आ जायगी! साग-भाजी की हमेशा मुश्किल पड़ती थी। उस ज़माने में ब्राह्मणों की स्त्रियाँ सौदा खरीदने बाज़ार न जाती थीं। इसलिए मैं बड़ी, पापड़, अचार आदि हमेशा बनाकर रखती। एक बार बेरकुट्टी बनाकर रखने के लिए बेर मँगवाए और उन्हें सूखने के लिए ऊपर अटारी पर फैला दिया।

'यह क्या किया?'

'बेरकुट्टी बनाने के लिए बेर सुखा रही हूँ।'

मुझे गृहस्थी में इतनी उलझते देखकर तिलक मुझ पर नाराज़ हो गए और अटारी से बेर नीचे फेंकने लगे। नीचे लड़के मज़े में बेर बीन-बीनकर खा रहे थे। मुझे रोना भी आ रहा था और हँसी भी। इसी समय के लग-भग बीमार पड़ी। उस समय तिलक ने मेरी माँ की तरह सेवा-शुश्रूषा की। महीना-भर मुझे सिर्फ़ नारंगियों पर रखा गया था। एक दिन वह बोले—'मैं तुम्हारे लिए हलुआ बनाए देता हूँ।' मैंने कहा—'आप हलुआ न बना सकेंगे। मुझे उसकी ज़रूरत नहीं है।' तिलक नाराज़ हो गए—

'मैं क्यों हलुआ न बना सकूँगा ? क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ ? क्या मुझमें अक्ल नहीं है ?' मैंने कहा—'अक्ल तो बहुत है जी, परंतु आप हलुआ न बना सकेंगे।'

परंतु वह हठ पर अड़ गए और हलुआ बनाने लगे। चूल्हा जला। हलुआ बनाना शुरू हुआ। परंतु वह किसी भी तरह पक न रहा था। चीनी छोड़ी, आग धीमी की, पर कोई उपयोग न होता था। अंत में वह धीरे से मेरे पास आए और बोले—'क्या करें भई! हलुआ तो बन नहीं रहा है।' हम दोनों हँस पड़े और मैंने कहा—'जिसका बंदर वही नचावै।'

नागपुर में हम फिर बुटी के बगीचे में रहने लगे। वहाँ तिलक ने एक बहुत बड़ा उपन्यास लिखना शुरू किया। वह कभी पूरा न हुआ। जैसे-जैसे वह उसे लिखते, वैसे-वैसे छपाकर भी ले आते। उसका नाम याद नहीं आता। परंतु, बहुत-से छपे हुए कागज़ों ने हमारा एक कमरा कई सालों तक घेर रखा था, इसलिए वह उपन्यास मुझे अच्छी तरह याद है।

इसी समय के लगभग उन्होंने 'वीर कन्या' नामक एक लघु उपन्यास, 'तीन विधवाएँ' नामक एक और उपन्यास, 'एक फूल का इतिहास' (वनवासी फूल) तथा 'काव्यकुसुमांजलि' प्रकाशित कीं।

अप्पा साहब बुटी के घर एक साधु आए थे। तिलक का बहुत-सा समय इन साधु महाराज की संगति में बीतने लगा और उन्होंने उन साधु जी पर कुछ कविताएँ भी लिखी थीं।

'दूबरी और दो असाढ़' वाली स्थिति हो गई। गृहस्थी की ओर उनका ध्यान पहले ही से बहुत कम था। उसमें अब अध्ययन, पठन-पाठन् वाद-विवाद आदि की जैसे बाढ़ आ गई थी और आस-पास लोगों का जमाव भी काफ़ी हो गया था। इसलिए उन्हें यदि घर की याद न आती थी, तो कोई आश्चर्य की बात न थी।

अप्पा साहब की कोठी में धार्मिक चर्चा हुआ करती और वहाँ बहुत पुस्तकें भी थीं। यदि किसी नई पुस्तक की ज़रूरत होती, तो अप्पा साहब

उसे तुरंत मँगवा देते। इस तरह तिलक के जीवन के चौवीसों घंटे पठन-पाठन और मनन में वीतने लगे।

तिलक को कभी किसी का डर नहीं लगता था। यदि उनके हृदय में किसी के प्रति भय था, तो वह था ईश्वर के प्रति और उसके बाद मेरे प्रति !

एक वार उन पर रसोई वनाने की नौवत आ गई। उस समय दत्तू ने हाल ही में भात खाना आरंभ किया था। तिलक ने स्नान आदि से निवट-कर पकने के लिए चूल्हे पर दाल चढ़ा दी और कपड़े पहने।

'दाल पकने तक मैं ज़रा वाहर हो आता हूँ।' कहकर वह वाहर जाने लगे। मैंने कहा, 'खाना खाने के वाद ही वाहर जाइए।' पर, उन्होंने न माना। इधर दाल पक गई, जल गई और अन्त में उसका कोयले में रूपान्तर हो गया ! लेकिन तिलक को पता नहीं। दत्तू भूख से विलकुल व्याकुल हो गया। शहर वहुत दूर था। पास एक पैसा नहीं। वारह वज चुके थे। दत्तू को सँभालने के लिए एक तेली का लड़का रखा गया था। मैंने उससे तीन पत्थर मँगवाकर चूल्हा वनवाया, थोड़ा भात पकवाया और उसीके हाथ से दत्तू को खिलवाया।

मैं भूखी ही थी। नेत्रों से आँसू वहाना ही मेरा संतोष था और वही मेरे हाथ की वात थी। चार वज गए। फिर भी तिलक नहीं आए। वाग में प्रेमा नाम की ढेढ़नी थी। उसे जव पता चला कि मैं भूखी हूँ, तव वाग़ से कुछ फल लाकर उसने आग्रहपूर्वक मुझे खिलाए। 'क्या करूँ ? आप हमारे हाथ का पका नहीं खा सकतीं। वरना, वच्चे को मैं खिला देती !' कितना प्रेम था वह ! परंतु सचमुच उसके हाथ का भोजन हमारे लिए वर्जित था !

रात हुई। उस लड़के ने फिर भात वनाकर दत्तू को खिलाया और सुला दिया।

रात को लगभग नौ वजे भिकाजी पंत वड़ी शिष्टता दिखाने आए। वह अपने साथ वेसन के लड्डू और चिवड़ा ले आए थे। घर में दिया टिम-

टिमा रहा था। एक कोने में मैं सोई थी और दूसरे कोने में दत्तू सोया था। जब भिकाजी पंत ने दरवाजा खोला, तब मैं बड़े ज़ोर से बिगड़ी।

'इतनी रात को क्यों आए हो ?'

'सच कहूँ, भाभी ! नाना हंसापुरी आए हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि दत्तू और आप भूखे होंगे। इसलिए उन्होंने मुझे इन चीज़ों के साथ आपके पास भेजा है। वह वहाँ से भोजन करके बाद में आयँगे। वह आपसे डरते हैं।'

इसके बहुत देर बाद तिलक घर लौटे। कुछ दिनों के बाद शायद धार्मिक मतों को लेकर अथवा किसी अन्य कारण से तिलक और अप्पा साहब के दिल फट गए। कम-से-कम धार्मिक मतों के बारे में तो उनका मन यहीं से अस्वस्थ होने लगा प्रतीत होता था। इसी समय बापू साहब वायु-परिवर्तन के लिए रामटेक गए। उनकी इच्छा थी कि तिलक भी उनके साथ जायँ। परंतु तिलक यह नहीं चाहते थे। वह उनके साथ नहीं गए। इसके बाद, लगभग एक महीने तक तिलक न जाने कहाँ ग़ायब रहे ? मेरे पास एक पैसा भी न था। घर में थी मैं, मेरे साथ दत्तू, एक नौकर और एक बंदर। इतनी गृहस्थी मुझे चलानी थी। खाने के लिए घर में दाना नहीं, नजदीक कोई बाज़ार नहीं। बाग़ की सूखी लड़कियों को बटोरकर उनका ईंधन के लिए उपयोग करती। घर के काम के लिए जो नौकर रखा गया था, वह शहर में जाकर मज़दूरी करता और जो कुछ मज़दूरी मिलती उससे अपना और बंदर का खर्च चलाता।

ऐसी स्थिति में दिन बिताते हुए एक दिन घर में मुझे आड़ में पड़ी हुई दो सेर ज्वार मिल गई। उसे देखकर मुझे इतना आनंद हुआ कि मैं सोचती हूँ कि वैसा आनंद बहुत थोड़े लोगों को हुआ होगा। उन ज्वार के दानों को पीसकर मैं उन्हें छाछ के साथ खाने लगी। बाग़ की मिर्च की चटपटी सब्जी स्वाद के लिए हो जाती थी। दो सेर दूध मिलता था। एक पैसे की धान की लाई लाकर रख लेती और थोड़ी-थोड़ी दूध में भिगोकर दत्तू को खिलाती। इस तरह हमारी गृहस्थी शुरू हुई।

मेरी यह टेक थी कि कुछ भी हो, कितने ही कष्ट झेलने पड़ें, पर मायके नहीं जाऊँगी। इसलिए मैंने नागपुर न छोड़ा और न मायके ख़बर भेजी।

एक दिन दत्तू ने भात के लिए हठ पकड़ लिया, पर भात देती कहाँ से? घर में तो चावल का एक दाना भी न था। उसी दिन दूसरी ओर बगीचे में वाड़े के लोग वन-भोजन के लिए आए थे। मेरे मन में आया कि वहाँ जाकर दत्तू के लिए थोड़ा-सा भात ले आऊँ और वह उसे खिला दूँ। मैं तुरंत वहाँ गई। उस वक्त वहाँ कोई सौ आदमियों के लिए रसोई बन रही थी। एक बूढ़ी महिला के हाथ में वहाँ का सारा इंतज़ाम था। उसके पास जाकर मैंने कहा—'नानी जी, एक छोटी कटोरी-भर भात मेरे दत्तू के लिए दे दीजिए। मुझे चूल्हा जलाने में आलस आ रहा है।'

वह सायंकाल का समय था। वह महिला मुझ पर एकदम बिगड़ उठी। बोली—'यह क्या बेवक्त माँग रही हो? अभी हम लोगों ने भोजन नहीं किया है।'

यह सुनकर मैं तुरंत लौट पड़ी। मेरा हौसला पस्त हो गया। 'यह गँवार औरत मुझसे इस तरह की बात कहे?' मुझे अपने मायके की याद आ गई। कितने ही मनुष्य वहाँ भोजन करके तृप्त होकर जाते हैं। मायके में चावल पैदा होता है। बहन के घर रोज़ दो-तीन सेर चावल का भात पकता है और मुझे आज एक छोटी कटोरी-भर भात भी दुर्लभ हो रहा है!

उस दिन जितना बुरा मुझे लगा, उतना पहले कभी नहीं लगा था। दत्तू को जैसे-तैसे समझा-बुझाकर मैंने सुला दिया। नज़दीक ही मैं भी पड़ रही। मुझे नींद आ रही थी। मस्तिष्क में नाना प्रकार के विचार निरंतर कुहराम मचा रहे थे। मैं सोचती—अभी नहीं, तो न सही। मेरा बेटा बड़ा होने पर चार मनुष्यों को भात खिलायगा। इसी समय दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी। मेरे दरवाज़े खोलते ही वह बूढ़ी महिला भीतर आई। उसके पीछे-पीछे हाथ में परोसी हुई थाली लिये एक ब्राह्मण भीतर आया।

'बाई मुझे अत्यन्त खेद है। मैंने तुमसे भला-बुरा कहा, तुम नाराज़ न होना। मैं दत्तू के लिए थाली परोसकर लाई हूँ।'

'परंतु वह तो अब सो गया है। और क्या वह इतना खायगा?'

परंतु अन्न को पीठ न दिखाने का मेरा निश्चय होने के कारण मैंने वह अन्न लौटाया नहीं। 'व्यंकटेश-स्तोत्र' के एक चरण का मुझे स्मरण हो आया—**'अन्नासाठीं दाही दिशा, अम्हां फिरविशी जगदीशा।'**[1] बुढ़िया साथ में चावल ले आई थी। मैंने पूछा—'ये किसलिए? मेरे पास चावल हैं। परंतु मुझे उन्हें पकाने का आलस्य आ गया था। बस, इतनी ही बात थी।'

'तुम आलसी हो, इसलिए ये ले आई हूँ। अब मुझ पर क्रोध न करो। जैसा दत्तू है, उसी तरह मुझे भी समझो!'

'यह तुम क्या कह रही हो। मैं तो तुमको नानी या दादी कह सकती हूँ।'

'कुछ भी कहो। परंतु तुम्हें मेरी बात माननी पड़ेगी।'

यह कहकर वह महिला चल दी। उस अन्न को मैंने और नौकर ने दो दिन तक खाया और लड्डू तो और भी कुछ दिन तक चलते रहे।

उस महिला के पास थोड़ा-सा मानवीय हृदय था। वरना कुछ लोग ऐसे मिलते हैं, जो दूसरों को कष्ट देकर ऊपर से स्वयं बड़े भले बने अकड़ते फिरते हैं!

अस्तु। दूसरे दिन सुबह दूध वाली आई। दूध देने के बाद वह पैसे माँगने लगी। उस समय मेरी जैसे नानी मर गई। बहुत देर तक मेरे मुँह से शब्द ही नहीं निकला। मैं सोचती रह गई कि अगर कहीं इस औरत ने अब दूध देना बंद कर दिया, तो कल मैं बच्चे को क्या दूँगी। मुझे एक ज़ोर सिसकी आई। दूध वाली ने पूछा—'बाई, क्या हुआ?' परंतु मेरी सिस-कियाँ रोके नहीं रुकती थीं। सिसकियों के बीच मैंने उससे सारा हाल कह

---

१. अन्न के लिए ईश्वर हमें दशों दिशाओं में घुमाता है।

सुनाया और कहा—

'मैं उनकी खोज कर रही हूँ। नहीं तो, मायके जाकर तुम्हारे दाम भेज दूंगी। परंतु मैं जब तक यहाँ हूँ, तब तक तुम बच्चे का दूध बंद न करना।'

दूध वाली बोली— 'दत्तू को मेरे साथ धंतोली भेज दो। मैं उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करूँगी।'

'तुम तो प्यार करोगी, पर मेरे प्राण कहाँ रहेंगे ?'

'खैर, न भेजो मेरे साथ। परंतु जब तक तुम यहाँ हो, तब तक तुम्हारे इस बच्चे का दूध नहीं छोड़ूँगी। मुझे उसकी क़ीमत मिले या न मिले। मैं दूध दूंगी। रुपए-पैसे मिल जायँगे, पर मनुष्य नहीं मिलेंगे।' यों कहकर उसने मेरे आगे किसी बख्शी से मिले अपने दो रुपए रख दिए।

'ये अपने पास खर्च के लिए रख लो ! आज ही ये मुझे मिले हैं।'

मुझे इस पर संतोष हुआ। ईश्वर की लीला अगाध है। एक बिलकुल देहाती औरत का हृदय कितना उदार है !

वह औरत गई ही थी कि भिकाजी पंत आए।

'क्यों भाभी, आजकल नाना हमारे घर नहीं आते ? क्या वह कहीं नागपुर से बाहर गए हैं ?'

'हाँ।'

'कहाँ ?'

'मालूम नहीं।'

'कितने दिन हुए ?'

'एक महीना।'

'फिर, घर में अनाज-वनाज है या नहीं ?'

'सब है। अब आप आ ही गए हैं, तो उन्हें एक तार दे दीजिए।'

'पर, कहाँ दूं और उसमें लिखूं क्या ?'

'वह राजनादगाँव में गणपतराव खरे के यहाँ होंगे। तार दे दो कि मैं सख्त बीमार हूँ और दत्तू को सँभालने के लिए कोई नहीं है।' उनके बहुत

इन्कार करने पर भी दूध वाली द्वारा दिये गए रुपयों में से एक रुपया मैंने उन्हें थमा दिया और भिकाजी पंत ने तार दे दिया।

तार देने के दूसरे ही दिन तिलक आए। जब आए तब मैं दरवाज़े के सामने गोबर-पानी का छिड़काव कर रही थी। तिलक बोले—'बड़ी मूर्ख हो तुम! ऐसा करोगी तो कौन तुम्हारा विश्वास करेगा? गडरिए[1] की कहानी-जैसा हो जायगा। तुम्हें ऐसी क्या बीमारी हो गई थी?'

'मेरे पैर में मोच आ गई थी।'

तिलक ने स्नान किया। बाद में खाने के लिए बैठे। उनके आगे मैंने छाछ, कनी, नमक और बाग़ की मिरचें रख दीं।

'यह क्या है?'

'आपके जाने के बाद से मैं जो खा रही हूँ, वही है।'

तिलक को बहुत बुरा लगा। परंतु उतने ही समय के लिए। वह बोले—

'हमें राजनादगाँव चलना है।'

'क्यों, यहाँ क्या बुरा है?'

'मुझे तुम्हारी एक नहीं सुननी है। मैं जो कहता हूँ, वह करो! वरना, जलालपुर चली जाओ!'

मेरे मायके जाने का समय हो ही गया था।

---

१. गडरिए और भेड़िए की प्रसिद्ध कहानी

राजनादगाँव

हम राजनादगाँव आए। वहाँ हम लगभग दो साल तक रहे। दो वर्ष का यह समय तिलक के जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समय था। राजनादगाँव छोड़ने पर तुरन्त वम्बई जाकर उन्होंने बपतिस्मा ले लिया। राजनादगाँव जाने पर उन्होंने पाँच-छह महीने में जो कुछ लिखा, उसका मैंने अपने 'स्मृति के चित्र' के इस भाग में उपयोग किया है। इसलिए उस समय तिलक के मेरे सम्बन्ध में क्या विचार थे, यह भी इन दो-तीन प्रकरणों में, उन्हींके शब्दों में दिखाई देगा।

सन् १८९४ में यानी राजनादगाँव पहुँचने पर, तिलक को डायरी लिखने का शौक़ लगा। पहले भी वे डायरी लिखा करते थे, परन्तु रोज़ नहीं लिखते थे। वरस-छह महीने में कभी कुछ लिख देते थे। सन् १८९४ में राजनादगाँव में जो डायरी उन्होंने लिखी है, वह देखने योग्य है। उसमें 'इस साल के उद्देश्य' शीर्षक एक पृष्ठ है। ऊपर 'सफलता ईश्वर के हाथ है' वाक्य लिखा है। आगे का मज़मून इस प्रकार है —

नीचे लिखी पुस्तकें लिखनी हैं :—

१. (१) छूटी वेचारी कसाई के हाथ से (२) यशवंतराव की जीवनी (३) ईसा मसीह का जीवन-चरित (४) मेघदूत नाटक तथा (५) वालकों के लिए १०० कहानियाँ।

२. एन्ट्रेन्स परीक्षा में वैठना।

३. यहाँ का छापाखाना अपने हाथ में लेना।

४. फागुन में वणी और कोंकण की सैर कर आना।

५. कम-से-कम पाँच सौ रुपए वचाना।

६. प्रथमत: औषधि की अच्छी योजना करना।

फरवरी, रविवार

७. यहाँ वेगारियों पर जुल्म हो रहा है, उसकी सरकार से शिकायत करना।

१ जनवरी के पृष्ठ पर उस दिन की टिप्पणी नीचे लिखे अनुसार है :

मित्राचा उदय सती सुशीघ्र होतो। सृष्टीला अरुण कधीं सहर्ष होतो!
निद्रेनें तंव अपुला हळूच पाश। काढीळा मग उठलों विनावकाश।
झालों शुचिर्भूत वधून लक्ष्मी। सुश्रान्त निद्रावश, चुल्लिला मीं।
संमार्जुनी अग्निहि दीप्त केला। स्नानार्थ होतों बहु मी भुकेला।
नवकथा लिहिण्यास्तव घेतली। चपल दूर जरी मति धावली।
तरि तिला धरुनी परतावली। अपुरती तिज ह्यांतचि लाविली।
परि धरीं वधुनी जल तापलें। गृहिणिनें मज लौकर वाहिलें।
करूनि दूर घड़ी भरि लेखिनी। सहज मी रमलों अवगाहनीं।[1]

उपहास—

यहाँ तक का मज़मून ही पृष्ठ के ठीक अंत तक है। दूसरे दिन से डायरी अत्यन्त बारीक अक्षरों में लिखी गई है। 'सुवह पाँच वजे उठा'

---

१. सूर्य का उदय जल्द होता है। वह अरुणोदय सारी सृष्टि को सदा मंगलमय हो। अरुणोदय होते ही निद्रा ने अपना पाश धीरे से हटा लिया और मैं जागा। ज़रा भी देर न लगाकर मैं उठ वैठा। प्रात:क्रियाओं से निवृत्त होकर मैंने अपनी पत्नी लक्ष्मी को देखा, जो शान्ति से सो रही थी। मैंने चूल्हा साफ़ किया और उसमें आग भी जला दी, क्योंकि नहाने के लिए मैं वेचैन हो रहा था। फिर मैंने एक नयकथा लिखनी शुरू की। यद्यपि मेरी मति दूर-दूर भटक रही थी, फिर भी मैंने उसे पकड़कर लौटाया और जितनी लौटी, उतनी ही उस काम में लगा दी। लेकिन घर में पानी गरम हो गया था। मेरी पत्नी ने मुझे वुलाया। मैंने लेखनी एक ओर रख दी और सहज ही स्नान में मग्न हो गया।

इत्यादि से आरंभ करके रोज़ की घटित घटनाएँ प्रारम्भ से अन्त तक लिखी हैं। कहीं-कहीं तो अक्षर इतने बारीक हैं कि उन्हें पढ़ने के लिए 'मैगनीफाइंग ग्लास' की सहायता लेनी पड़ती है। डायरी सिर्फ़ तीन-साढ़े तीन महीने ही की लिखी गई है—यानी जनवरी और फरवरी की और आगे चलकर जुलाई और अगस्त की। परन्तु उसे सुन लेने के वाद, पहले जिन कई वातों का मैं मेल नहीं मिला सकती थी, उनका अव मिला सकी हूँ।

राजनादगाँव जाने का हमारा यह दूसरा मौक़ा था। पहली वार तिलक को वलराम प्रेस में नौकरी मिली थी और अव मास्टरी की नौकरी थी। तारीख १ मई १८९४ की डायरी में नीचे लिखा मज़मून मिलता है: 'क्लर्क ऑफ कोर्ट और हैडक्लर्क, यही नहीं, वल्कि सव दफ्तरों का अंग्रेजी क्लर्क मैं अकेला ही हूँ।' आगे चलकर सन् १८९८ ईस्वी में प्रकाशित हुई 'एक विद्यार्थी की गवाही' नामक अपनी पुस्तक में (पृष्ठ १९) तिलक कहते हैं—'राजनादगाँव में मैंने मास्टरी और सरकारी क्लर्क के काम किए। अंतिम ओहदे में नाज़िर के काम का भी समावेश हो गया था।'

यद्यपि उनके ये काम थे, फिर भी उनकी डायरी से यह प्रकट होता है कि अंत तक पाकशाला से उनका कुछ-न-कुछ संवंध रहा था। एक वार तो किसी इंसपैक्टर ने पाठशाला का निरीक्षण किया और 'विज़िटर्स वुक' में अंग्रेजी में अपनी जो सम्मति लिखी, उसमें उसने भाषा की वहुत गलतियाँ कर दी थीं। तिलक ने इन्सपैक्टर साहव को वे गलतियाँ दिखाईं और उनसे झगड़ा किया।[1] तारीख ५ फरवरी के पृष्ठ पर लिखा है—'३॥।-५ पाठशाला, अयोध्यानाथ हैडमास्टर से वात कर रहा था। लगभग ५ वजे पाठशाला का चपरासी नौहर आया। हैडमास्टर ने कहा कि उसकी औरत कल रात से अभी तक प्रसव-वेदना से व्याकुल पड़ी है। प्रसव नहीं हो रहा है आदि। नौहर को

---

१. "...............आया। उससे साफ़ कह दिया कि इन्सपैक्टर की हैसियत से आपके द्वारा लिखी गई सम्मति में भाषा की सैंकड़ों भूलें हैं। अभी और पढ़ो।"
डायरी—७-१-९४

सिर्फ़ पाँच रुपए माहवार वेतन मिलता था! किसे उस पर दया न आती? मैं दफ्तर को भूल गया। मिल्टन के घर पहुँचा, तो वह घर पर न थे। बाहर एक पुलिस वाला खड़ा था। उससे कहा कि भीतर जाकर मिल्टन की मेम साहब से कहो कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। यह औरत मिडवाइफ़ (दाई) है। उसे फ़ीस देने के लिए मैं तैयार हो गया। वह मुफ्त में आने के लिए तैयार हो गई। शारंगपाणी जी ने ताँगा दिया। सारांश यह कि मेम साहब की परोपकारिता और दयालुता से तथा ईश्वर की कृपा से नौहर की पत्नी के सकुशल बच्चा हुआ और मैं साढ़े सात बजे घर लौटा।'

उपर्युक्त वर्णन से और उसी डायरी में स्थान-स्थान पर पाठशाला का उल्लेख आने से ऐसा लगता है कि तिलक राजा साहब के यहाँ भले ही काम करते रहे हों, फिर भी पाठशाला का काम भी उनकी तरफ रहा होगा।

नागपुर छोड़ते समय तिलक ने यह प्रस्ताव किया था कि मैं मायके चली जाऊँ, पर, उस प्रस्ताव को बहुमत प्राप्त न होने से वह अस्वीकृत हो गया और मैं राजनादगाँव उनके साथ गई। मेरे पहले तीन जापे जलालपुर में हुए। दो बुआजी के घर हुए और दत्तू के समय भाई के घर हुआ। अब ऐसा संयोग आया कि इस बार का जापा ससुराल में होगा। मैंने अपनी सास जी को नहीं देखा था और यदि वह जीवित होतीं तो मुझे ससुराल की साँसत न होती। परंतु राजनादगाँव में मेरे लिए एक सास खड़ी हो गई और उसने साँसत भी खूब दी।

राजनादगाँव में हम जिस घर में रहते थे, उसी घर में एक और किराएदार रहता था। उस किराएदार की बूढ़ी माँ थी। तिलक उसे माँ कहते और उतना ही आदर भी देते। घर में घर-मालिक के भाई गोविंदराव और उनकी पत्नी आनंदीबाई भी रहती थीं। घर-मालिक राजनादगाँव में नहीं रहते थे।

गोविंदराव और तिलक के द्वारा मानी गई माँ ने एक औरत काम-काज के लिए रखी थी। वह औरत दोनों के घर का काम करती। कम-से-

कम ऐसा आभासित तो वह जरूर करती, क्योंकि सारे दिन वह वुढ़िया की चाकरी में रहती। उसे तनख्वाह अवश्य दोनों को मिलकर देनी पड़ती। तिलक के पीछे पड़कर उस वुढ़िया ने उसी औरत को चार रुपए वेतन पर दत्तू को सँभालने के लिए भी रखवा दिया ! गरज यह कि हम तीनों के द्वारा दिये जाने वाले वेतन पर वुढ़िया को उस औरत से कसकर अपना काम लेने की सुविधा हो गई। वुढ़िया और गोविंदराव से मिलने वाले तीन रुपए और हमसे मिलने वाले चार रुपए इस तरह उसे सात रुपए वेतन पड़ने लगा और वह भी वुढ़िया की कृपा से; इसलिए वह भी वुढ़िया के उपकारों के नीचे दवी हुई थी !

यह वुढ़िया चाची गोविंदराव की पत्नी आनंदीवाई से इस तरह पेश आती, जैसे वह (आनंदीवाई) उसकी वहू हो ! उसी तरह वह मुझसे भी पेश आने लगी। परंतु मैं आनंदीवाई की तरह सीधी न थी, इसलिए चाची की एक न चलने देती। तव चाची ने तिलक के कान भरकर हम दोनों में मनमुटाव पैदा करना शुरू किया।

जव हम यहाँ आए थे उस समय अटारी पर एक कमरा और आँगन में झोंपड़ी-नुमा एक कमरा, इतनी ही जगह हमें दी गई थी। परंतु उसी वक्त तिलक ने वचन ले लिया था कि वुढ़िया के कब्ज़े में जो जगह है, वह आगे चलकर हमें आवश्यकता होने पर दे दी जायगी और इसके लिए वह उस वक्त राज़ी भी हो गई थी। आँगन में विना रहट का एक कुआ था। उसका पानी हम सव पीते थे। यह कुआ ज़मीन के साथ लगा हुआ था।

यह पहले तय हो चुका था कि वुढ़िया कुछ दिन के लिए हमारी झोंपड़ी ले ले और अपना घर हमें दे दे। मेरे जापे के दिन विलकुल नज़दीक आ गए। वुढ़िया झोंपड़ी में रहने न जाती थी। वह कहती कि जापे में अभी देर है।

भाद्रपद का महीना था। झोंपड़ी में सील वहुत रहने लगी थी। अन्त में ऐसे वक्त, जव सव एकत्र वैठे हुए थे, मैंने गोविंदराव से कहा—

'काका, मुझे जगह चाहिए।'

मेरा मतलव समझकर तिलक वोले—

'तुम मायके चली जाओ!'

'मैं मायके नहीं जाना चाहती।'

'तुम वड़ी हठीली हो। तो फिर मरो यहीं।'

'हाँ, मैं यहीं मर जाऊँगी, परंतु मायके नहीं जाऊँगी। मुझे वह जगह दे दो।'

इस पर तिलक ने अपनी 'माँ' की ओर मुड़कर कहा—

'चाची, दे दीजिए इसे वह जगह!'

'पर, वह घर अभी साफ़ नहीं है। मुझे उसका फ़र्श और दीवारें लीप-पोतकर देनी होंगी।'

मैंने कहा—'एक मज़दूरनी लगा लो और फ़र्श और दीवारें लिपवा-पुतवा लो!'

'मुझे मज़दूरनी का काम पसंद नहीं आता।'

इस पर आनंदीवाई ने कहा—

'मैं लीप-पोत दूंगी फ़र्श और दीवारें।'

'परंतु इतनी जल्दी क्या है! मैं सव-कुछ समझती हूँ। मैं तुम सवसे वड़ी जो हूँ।'

'आप वड़ी हों या छोटी। मुझे तो जगह आज ही मिलनी चाहिए।'

'ज़रा वड़े-वूढ़ों की भी तो कुछ सुनोगी या नहीं?' तिलक ने मुझ पर ताना कसा।

मैंने कहा—'मैं किसी की न सुनूंगी। आनंदीवाई, तुम जाओ मेरी झोंपड़ी में और अपना घर दे दो मुझे रहने को। तुम्हारे पति ही ने हमें जगह देना स्वीकार किया है।'

तव गोविन्दराव ने हुक्मी आवाज़ में वुढ़िया से कहा कि वह आज ही अपना घर खाली करके हमारी झोंपड़ी में चली जाय।

आनंदीवाई ने झोंपड़ी की सारी जगह अच्छी तरह से लीप-पोत दी। उन्होंने मज़दूरनी की मदद से दोनों घरों का सामान ढोया। मैंने भी,

जितनी मुझसे वन सकी, उतनी दौड़-धूप की। बुढ़िया अलवत्ता टल्लेनवीसी ही करती रही। वुढ़िया के घर में चूहों और छछूंदरों ने वहुत-से बिल वना रखे थे। उन सवको हमें वंद कर देना पड़ा।

तिलक काम पर चल दिए। उनके जाने पर वुढ़िया नौकरानी को हमारा काम करने से रोकने लगी। वह उसे हमारा कोई काम ही न करने देती थी। आनंदीवाई मेरे काम में हाथ वँटा रही थी, सो यह भी वुढ़िया को वरदाश्त न हुआ। वह लगातार वड़वड़ा रही थी कि इसके कारण आनंदी विगड़ गई! शाम को तिलक और गोविंदराव के घर आने पर वुढ़िया ने उनसे हमारी वहुत शिकायत की।

तिलक ने एक नाटक लिखा था। उसके अभिनय की तैयारी के सिलसिले में वह पाठशाला में या वाड़े में गए थे। दत्तू तेज़ बुखार में पड़ा था। वह उस रात आनंदीवाई ही के पास सोया। सवेरे लगभग तीन-चार वजे उसे वुख़ार ही में गोद में लिये आनंदीवाई मेरे पास ले आई और उसे उसका भाई दिखाया। दत्तू 'वाई-वाई' कहकर रोने लगा।

गोविंदराव ने दत्तू को ले लिया। वहाँ दाई के काम के लिए भंगिनें मिला करती थीं। मैंने कहा—'मुझे ऐसी दाई नहीं चाहिए।' तव जापा वुढ़िया ही ने किया। वाद में आनंदीवाई आई।

मैं पहले ही से कह रही थी कि 'यह ले आओ', 'वह ले आओ,' परंतु चाची कहती थी, 'अभी वहुत समय है', और उसकी वात सुनकर तिलक भी मेरे कहने पर कोई ध्यान न देते थे। इस कारण, उस रात घर में दिये के लिए तेल भी न था और मेरी चिन्ता करने के लिए घर में सिर्फ़ एक वह चाची ही थी।

दूसरे दिन सुवह तिलक नाटक से आए। दूसरा पुत्र देखकर उन्हें वहुत आनंद हुआ। उन्होंने तार देकर पुत्र-जन्म का समाचार बुआजी के पास जलालपुर भेजा। वहाँ जच्चा को तीन दिन तक कुछ भी खाने को नहीं देते थे और वालक के पेट पर सौ वार 'थपकियाँ' मारते थे, लेकिन, मैंने इस प्रथा का विरोध किया। मैंने आनंदीवाई से दो रोटियाँ लीं और

चुपचाप खा लीं ! बस, फिर क्या था ? रोटियों का 'छाछ-भात' हो गया। तिलक के कानों में यह समाचार पहुँच गया कि मैंने छाछ-भात खा लिया। तिलक मुझ पर बहुत नाराज़ हुए। मैं भी कुछ कम न थी। खाट पर बैठे-बैठे मैंने भी उन्हें खूब आड़े हाथों लिया। तुरंत मुझ पर एक कविता लिखी गई। वह मुझे पसंद न आई, परंतु काव्य की दृष्टि से वह बहुत सुंदर बनी थी। तिलक ने शायद उसे फाड़ डाला होगा। तीसरे दिन लक्ष्मीबाई खरे आईं। उनसे मुझे काफी मदद मिली।

दत्तू का बुख़ार अब उतर गया था। वह घूमने-फिरने लगा। एक दिन तिलक अटारी पर बैठे हुए लिख रहे थे। हमारी मुँह-बोली सासजी यानी तिलक की मानी हुई माँ कुएं के पास खड़ी थीं। इसी समय दत्तू खेलता-खेलता कुए की तरफ जाने लगा। पर यह चाचीजी कुछ न बोलीं और न उन्होंने लड़के को उठाकर कुए की ओर जाने से रोका। यह देखकर गोविंदराव दौड़े और उन्होंने दत्तू को उठा लिया। उस दिन से तिलक का अपनी मानी हुई माँ के प्रति जो विश्वास था, वह उड़ गया। पहली बार उनके यह ध्यान में आया कि हमारी यह माँ हमसे दत्तू को सँभालने के लिए नौकरानी को जो चार रुपए माहवार दिलाती है, उसका हमारे लिए कोई उपयोग नहीं होता।

शीघ्र ही बुआजी आईं। बुआजी और तिलक का हमेशा आग-पानी का-सा वैर था। उनके आ जाने पर अब तिलक के पैर घर में नहीं ठहरते थे। मेरी सरोते में फँसी हुई सुपारी-जैसी स्थिति हो गई। बुआजी घर में निरंतर भुनभुनाती रहतीं। अगर वह तिलक से कुछ लाने के लिए कहतीं, तो वह बाहर चल देते और वहीं कहीं से भोजन करके लौटते ! घर आने पर बुआजी अवश्य ही उनसे कुछ-न-कुछ कहतीं ! वह जब बिगड़तीं, तब तिलक अटारी पर चल देते और उन पर एक सुंदर कविता लिखकर ज़ोर-ज़ोर से उसे पढ़ने लगते।

दोनों एक-दूसरे से ऊब उठे। यहाँ तक कि एक दिन तिलक संन्यास लेने के लिए घर से बाहर चले गए। हम लोगों से उन्होंने इस संबंध में

कोई ज़िक्र न किया। परंतु, भिकूताई को उन्होंने एक पत्र भेजकर यह ख़बर दे दी कि वह संन्यासी हो रहे हैं।

यह ख़बर पाते ही मेरे मायके के प्रत्येक व्यक्ति के छक्के छूट गए। हर कोई मन्नतें मनाने लगा। किसी ने सत्यनारायण की कथा की मन्नत मानी। किसी ने 'सोलह सोमवार' के व्रत की मानी। कोई कहता कि ज्ञानदेव, सोपानदेव इत्यादि के पिता की तरह वह लौट आयँगे, लेकिन, फिर, उनके जो लड़के हुए हैं, उनकी क्या व्यवस्था की जायगी ?

मायके में मची इस गड़बड़ की हमें कोई ख़बर न थी। वहाँ से जब पत्र आने लगे, तब इस झमेले का हमें पता चला। आठ दिन गुज़रे और तिलक लौट आए। उनकी गैरहाज़िरी में आए हुए पत्रों को मैंने उनके सामने रखा। पूछा—

'क्या यह सच है ?'

'हाँ, सच है। परतु, तुम्हारी अनुमति के बिना मुझे संन्यास नहीं दिया जा सकता, इसलिए लौट आया।'

तिलक के आने के दो दिन बाद छोटा बच्चा बहुत बीमार हो गया। हमारा कमरा तंग था। उसमें हवा ठीक नहीं आती थी। सील भी बहुत थी। इसलिए डॉक्टर ने हमसे मकान बदलने के लिए कहा। हमने मकान बदला। परंतु दूसरे मकान में आने के दूसरे ही दिन बच्चा जाता रहा।

मेरी गोद ही में उसे मौत आई। मैं झट एक ओर हट गई और मैंने बुआजी को पुकारकर कहा—'देखिए, बच्चा कैसे कर रहा है ? बुआजी ने बड़ी दौड़-धूप की, पर वह सब बेकार रही। बच्चे की मृत्यु के बाद ही मैंने उनसे दौड़-धूप कराई। अगर यह नहीं करती तो वह छुआछूत के तमाम झमेले उपस्थित कर देतीं और उस विषय को लेकर तिलक से उनकी ज़ोरों से ठन जाती। यह सब टालने के लिए मैंने मृत बच्चे से थोड़ी दूर हटकर यह बहाना किया कि वह जीवित है। बच्चे का नाम महादेव रखा गया था। इस ख़याल से कि महादेव लाला ही ने हमारे घर में जन्म लिया है, यह नाम रखा गया था। कम-से-कम दिखने में तो वह लाला के समान

था। महादेव की मृत्यु के वाद तो तिलक और वुआजी में वहुत अधिक अनवन शुरू हो गई। वह तिलक से कहतीं—'तुम्हारे इधर-उधर भटकते रहने के कारण स्वर्ण-जैसा वालक जाता रहा।' इस पर वह कहते—'तुम्हारी मूर्खतापूर्ण और गँवार धारणाओं के कारण वालक के प्राण गए।'

इसी तरह के एक झगड़े के पश्चात् क्रोध के आवेश में वुआजी ने जलालपुर चले जाने का निश्चय किया। हम दोनों उन्हें पहुँचाने स्टेशन गए। सुवह से वुआजी ने कुछ खाया न था। गाड़ी में वैठने पर तिलक ने खाने के लिए पिंड खजूर और पेड़े लाकर उनके हाथ में दिए, परंतु गाड़ी चलते ही वुआजी ने वे खाने की सारी चीज़ें हमारी तरफ फेंक दीं। वह क्रुद्ध हो गई थीं और दत्तू को छोड़कर जाने का उन्हें दुःख भी हुआ था।

वुआजी के जाने पर घर में अवश्य शान्ति हो गई। तिलक अपनी डायरी में लिखते हैं—

'चाची (चालवाज़ों की रानी) का पड़ोस छूटा, सासजी चल दीं। तव से घर में अच्छी शान्ति रहती है।' 'चाची' यानी मेरी मौसेरी सास—(२ जनवरी १८९४) "सासजी" यानी वुआजी। उनके जाने पर वाह्यतः यद्यपि शान्ति दिखाई देती थी, फिर भी तिलक के मन में शान्ति न रही होगी। अप्पा साहव के घर संस्कृत के पठन-पाठन, मनन-चिंतन और वाद-विवाद के लिए उन्हें काफी अवसर प्राप्त था। परंतु यहाँ आने पर वह न रहा। यहाँ उनके आस-पास के लोग अधिकतर स्थानीय राजनीति और उथल-पुथल में उलझे रहते थे और तिलक को तो यह लगन लगी हुई थी कि वह कुछ देश-सेवा करें। तारीख ३ जनवरी की डायरी में वह लिखते है—'यहाँ का सव काम पाँच-सात साल में पूरा करके देश-सेवा के लिए फुरसत पा जाना है!' राजनादगाँव में मज़दूरों पर होने वाले अत्याचारों को समाप्त कराने के लिए तिलक ने जी-जान से कोशिश की। उस समय वड़े-वड़े अफसरों का उन पर नाराज़ हो जाना भी संभव था। परंतु उन्होंने इसकी परवाह नहीं की। उच्च वातावरण में विचरण न करने वाले व्यवहार-कुशल लोग तिलक को पागलों में गिनने लगे। उन लोगों के वारे में

तिलक अपनी ६ जनवरी की डायरी में लिखते हैं—'डॉक्टर कहते थे—तुम्हें यहाँ के लोग पागल कहते हैं। ठीक है ! जिस जगह कमीनों, पाजियों और वदमाशों का जमघट हो, वहाँ कुछ लोग मुझे पागल कहेंगे ही। आज तक का मेरा अनुभव यह है कि चापलूसी, ठकुरसुहाती और रिश्वतखोरी को जो सम्मान प्राप्त है, वह अन्य किसी गुण को नहीं। अन्न की सुगंध पर लुब्ध होकर जूतियाँ खाने वाले कुत्ते और हम दोनों वरावर हैं। कुछ मिले या न मिले, पर ऐसे हज़ारों लोग हैं, जो केवल द्रव्य की सुगंध ही पर जीभ निकाले लातें खाते रहते हैं।'

ऊपर वताए गए विचारों से यह दिखाई देगा कि तिलक की मनः-स्थिति उस समय कैसी थी। उनका पठन-पाठन भी जोरों से चल रहा था और वह वहुत-सी पुस्तकों को धड़ल्ले से कंठाग्र भी कर रहे थे। "लेटर राइटर मुखाग्र याद कर रहा हूँ, सिसरो कंठाग्र कर रहा हूँ" आदि वाक्य उनकी डायरी में वीच-वीच में मिलते हैं। इस समय तिलक ने वाइविल और वावा पदमनजी नामक एक ईसाई पंडित द्वारा लिखी गई वहुत-सी पुस्तकें पढ़ीं। साथ ही, पहले ही से उनकी यह टेक थी कि जो वात उनके मन को जँचती, वही वह करते। इसलिए वह ऐसी वहुत-सी वातें करते, जो उस जमाने में वड़ी अजीव-सी समझी जाती थीं।

एक दिन सासजी का श्राद्ध था। मैं लगातार पीछे पड़ी हुई थी कि श्राद्ध है। एक ब्राह्मण और "एक सुहागिन स्त्री" को भोजन के लिए निमंत्रित करना चाहिए।

'मैं श्राद्ध नहीं करना चाहता।'

'क्यों नहीं ?'

'मैं जिन्हें खाना खिलाने के लिए कहूँ, उन्हें यदि तुम परोसो, तो मैं श्राद्ध करता हूँ। अन्यथा, मैं श्राद्ध नहीं करता।'

'क्या मतलव ? आप किसे खिलाना चाहते हैं ?'

'अंधों, लूलों और अपाहिजों को, किसी भी जाति और धर्म के लोगों को।'

'श्राद्ध का अर्थ यह है कि उस दिन माँजी आयँगीं और आप यह क्या वाहियात बात कह रहे हैं ?'

'मेरी माँ वड़ी दयावती थी। वह घोर कर्मकाण्डी नहीं थी।'

"तो इससे क्या हो गया ? पहले ब्राह्मण भोजन कर लेंगे। इसके वाद आप चाहे सारे अंधों, लूलों और अपाहिजों को वुला लीजिए। मैं इन्कार नहीं करूँगी।'

'मैं अंधों, लूलों और अपाहिजों ही को ब्राह्मणों की जगह खिलाना चाहता हूँ। ब्राह्मणों को वुलाना ही नहीं है।'

अंत में हाँ-ना करते-करते मैंने तिलक की वात स्वीकार कर ली और चुपचाप स्वयं जाकर एक द्राविडी ब्राह्मण और एक सुहागिन को भोजन का न्यौता दे आई।

तिलक के अंधे,, लूले और अपाहिज आए। मेरे निमंत्रित ब्राह्मण और सुहागिन भी आए। अंधों और अपाहिजों की पंगत वाहर वैठाई गई। मेरी पंगत भीतर वैठी। तिलक ने अंधों, लूलों और अपाहिजों को धोती-जोड़े वाँटे। मेरे ब्राह्मणजी शिकायत करने लगे—'आपने अन्य ब्राह्मणों को क्यों नहीं वुलाया और वाहर ये कौन लोग वैठे हैं।' मैंने उनसे सव-कुछ समझाकर कह दिया और वाद में कहा—'आपसे यदि कोई दूसरे ब्राह्मण पूछें तो आप कह देना कि मुझे वुलाया था, इसलिए मैं गया। मैं क्या जानूँ कि और कौन-कौन ब्राह्मण आने वाले हैं ? और जव भोजन के लिए वैठ ही गया, तव पत्तल पर से उठ थोड़े ही सकता था ?

इस संवंध में तिलक ने अपनी ८ जनवरी तथा १५ और २५ फरवरी की डायरी में लिखा है। यह वर्णन उन झगड़ों का है, जो 'धनुर्मास',[१]

---

१. पूस का महीना। इस महीने में संक्रान्ति के लगभग किसी एक दिन वड़े सवेरे खिचड़ी और गुड़ की रोटियाँ वनाते हैं। और ब्राह्मणों को खिलाते हैं। यह भोज सुवह सात-आठ वजे से पहले हो जाता है।

'कुलधर्म'[१] और 'श्राद्ध' के प्रसंगों पर हम दोनों में हुए थे।

'लक्ष्मी से १० 'अभंग'[२] पढ़वाए। उसका ध्यान पढ़ने की ओर नहीं है। उसकी बुआ ने उसके मस्तिष्क में एक बड़ा सिद्धान्त यह भर दिया है कि हमारी जो स्थिति और जो धारणाएँ परंपरा से चली आ रही हैं, उन्हें ठीक उसी तरह से चलाना ही नरदेह की सफलता है। उसी तत्त्व के अनुसार यदि कोई रीति की बात सिर्फ़ कहने ही लगूँ, तो उसके सिर पर एकदम भूत सवार हो जाता है। धनुर्मास यानी खिचड़ी का समारोह नहीं किया। इस संबंध में मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा था कि मन के अत्यन्त नीच, कृपण, वृथाभिमानी, मूर्ख और हट्टे-कट्टे भट्ट ब्राह्मणों को निमंत्रित करने की अपेक्षा ऐसे चार गरीबों को निमंत्रित करना चाहिए, जिन्हें इस प्रकार का अन्न कभी नसीब नहीं होता। तो बस, इसी पर वह भड़क उठी!'

इसके बाद चौबीस पंक्तियों की एक वर्णनात्मक कविता है। 'हमारे घर' 'कुलदेव'[३] भोजन के लिए आ रहे हैं, इसलिए मेरी पत्नी की जान को कैसी आफ़त हो गई है! कल से बिनाई, पिसाई, कुटाई आदि ही में उसका सारा वक्त लग रहा है। दत्तू से बात करने की भी उसे फ़ुरसत नहीं मिलती। गरीब बेचारा! ऐसा प्रतीत होता है कि उसे इसकी कोई कल्पना ही नहीं है कि अब उसे मीठे 'अपूप'[४] और बड़े खाने को मिलेंगे। उसे केवल इतना ही दिखाई देता है कि उसकी स्नेहमयी माँ उसे भूल गई है और वह रो रहा है।

'कहाँ हमारा कोंकण और कहाँ हम! दोनों के बीच कितने पहाड़

---

१. कुलदेवता को प्रसन्न करने के लिए की जाने वाली धार्मिक विधियाँ।

२. एक मात्रिक छंद। संत तुकाराम ने अपनी कविताएँ प्रायः इसी छंद में अधिक लिखी हैं।

३. कुल के देवता।

४. एक पकवान-विशेष, जो चावल के आटे से बनाया जाता है और मीठा होता है।

और जंगल हैं ! लेकिन हमारे वड़े और "घारगे"[1] खाने के लिए वहाँ से हमारे कुलदेव यहाँ आयँगे ! सच्चे दयालु हैं हमारे ये कुलदेव। एक ब्राह्मण लाकर उसीको हमारे कुलदेव का प्रतिनिधि वह मानती है। मन में वह कह रही है—'देव, अव वड़े और अपूप खाओ और हम पर आए संकटों को टालो। हमें सुख के दिन दिखाओ।'

'इधर ये ब्राह्मण वड़ों और अपूपों के लिए झगड़ा करके हमें दुःख दे रहे हैं। इस तरह सताने वाले ये क्या देव हैं।'

यह तो हुआ कुलदेव के संबंध में। आगे चलकर उतनी ही वड़ी कविता माँ के श्राद्ध के विषय में है।

'हे प्रिय माता, तुझे विदा हुए आज अठारह वर्ष हो गए। लोग कहते हैं कि तू स्वर्ग चली गई और वहीं निवास कर रही है। कुछ लोग कहते हैं कि तेरे पाँचों तत्त्व पंच-तत्त्वों में विलीन हो गए हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि तुझे दूसरी योनि प्राप्त हो गई है। परंतु यह सव झूठ है। इतने वरसों से तू मेरे हृदय में निवास कर रही है।'

'कहाँ अत्यन्त विमल मेरी माँ और कहाँ दक्षिणा की आशा से एकत्रित हुए ये ब्राह्मण ! इन्हें तेरे प्रतिनिधि मानकर इनका पूजन कैसे करूँ ! यह कैसी रूढ़ि है, जिसमें दीप देखने के लिए प्रतिदीप की ज़रूरत हो और श्रद्धा के लिए श्राद्ध-विधि आवश्यक हो ! हे रूढ़ि, तू धन्य है ! मैं तुझे हाथ जोड़ता हूँ।'

इसके वाद वाईस पंक्तियों की एक और सुंदर कविता है, जिसमें उन्होंने श्राद्ध के भोजन के लिए आमंत्रित एक भिखारी की मनःस्थिति का वर्णन किया है।

पूना, वंवई और नासिक से नागपुर तक वक्तृत्व-समारोह हुआ करते थे और हर जगह जाकर तिलक पुरस्कार प्राप्त करते थे। उनके मन में आया कि ऐसे समारोह राजनादगाँव में भी हों। पर यहाँ मराठी में

---

१. एक पकवान।

भाषण कौन देगा ? इसलिए तय हुआ कि हिन्दी में भाषण हों। मेरा ख़याल है कि बहुधा रायपुर से श्री वामनदाजी ओक ने तिलक को इस विषय में प्रोत्साहन दिया होगा, क्योंकि राजनादगाँव से रायपुर और रायपुर से राजनादगाँव उनके अनेक चक्कर लगा करते थे और श्री ओक का उल्लेख उनकी डायरी में स्थान-स्थान पर मिलता है। उस समय श्री ओक शायद कोई मासिक पत्र निकालते होंगे। तिलक कहते हैं—'ओक का विचार बदल गया और कविता 'ज्ञान संग्रह' को भेजने के बदले 'विविध-ज्ञान-विस्तार' को भेजना तय हुआ। कविता के नीचे मेरा नाम था। उसे छापना भी अनुचित समझकर उन्होंने रबर से वह मिटा डाला। मैं क्षुद्र हूँ, इसलिए मेरे नाम के कारण कविता भी क्षुद्र सिद्ध होगी, यह था ओक का आशय।'

जनवरी में वह कितनी बार रायपुर गए इसकी तिलक ने एक जंत्री ही लिख रखी है। उससे यह प्रतीत होता है कि हर चार-छह दिनों के बाद वह रायपुर का एक चक्कर लगा आते थे। हिसाब के अंत में जमा और ख़र्च लिखा है। उसमें राजनादगाँव में मुक़ाम २० दिन और १४ घंटे और रायपुर में मुकाम १० दिन और १० घंटे इस प्रकार कुल मिलाकर ३१ दिन हैं।

मेरी 'स्मृति के चित्र' पुस्तक के पाठकों से यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तिलक के निकट रुपए-पैसे का क्या मूल्य था ! वक्तृत्व-समारोह के लिए चारों तरफ़ निमंत्रण-पत्रिकाएँ भेजी गईं। राजनादगाँव के लिए वह एक अपूर्व बात थी। जहाँ-तहाँ चहल-पहल मची थी। हमारा घर तो जैसे विवाह-गृह ही हो गया था। तिलक ने चंदे में अपनी आधी तनख़्वाह दे डाली ! मेहमानों के लिए सामान वग़ैरा की काफ़ी तैयारी की गई। मैंने नमक-मसाला सब तैयार करके रखा। उस समय लालाजी और रखमाई भाभी, दोनों हमारे घर आए हुए थे।

यह तय हुआ था कि मेहमानों के लिए रसोई बनाने का अलग प्रबंध रहेगा। परंतु रसोइया बहुत अधिक पैसे माँगने लगा। चंदे का रुपया सिर्फ़

पुरस्कारों और दीगर खर्च के लायक़ ही था।

तिलक मुझसे पूछने लगे—

'तुम कितना चंदा दोगी, बोलो ?'

'मैं क्या दूँ ? आपने जो दिया, वही मैंने दिया।'

'वाह, यह कैसे हो सकता है ? मैं भोजन करता हूँ तो क्या तुम्हें भोजन नहीं करना पड़ता ?'

'यह कैसे होगा ?'

'फिर उसी तरह मेरा चंदा तुम्हारा चंदा नहीं है।'

'पर, मेरे पास रुपए कहाँ हैं ?'

'एक उपाय है। हमें रसोइया नहीं मिल रहा है। बहुत रुपए माँगता है।'

'मैं बनाए देती हूँ रसोई। तब तो रुपए नहीं देने पड़ेंगे न ?'

और इस तरह मैंने अपना चंदा दे दिया। दो-तीन दिन मैंने अतिथियों के लिए रसोई बनाई। तिलक खुश हो गए और समारोह सम्पन्न हुआ।

समारोह के बारे में तिलक की डायरी में नीचे लिखा मज़मून मिलता है—

(२० मई १८९४)

'सभा का प्रबन्ध। आज दीवान साहब को बुलवाया, परन्तु यह पेट-भरू आए नहीं। कहला भेजा कि आगे देखूँगा। मिल्टन को काम था, इस-लिए वह नहीं आया। श्री ··· गाँव में नहीं हैं। वक्तृत्व-समारोह के लिए हैडमास्टर ने अपना एक मास का वेतन चंदे के रूप में देने को कहा है और वह आज देना होगा, इसलिए वह नहीं आए, सुने जाते हैं। अस्तु। सभापति बी० शारंगपाणी चुने गए और सभा का कार्य आरंभ हुआ। वक्तृत्व-समारोह के बारे में थोड़ी-सी प्रस्तावना के बाद उस विषय का विचार शुरू हुआ। तेरह लोगों की कार्यकारिणी-समिति निर्मित हुई। यह निश्चय हुआ कि इस सभा के सभापति शारंगपाणी हों और मैं मंत्री बनूँ। साधारण तौर पर खर्च का अन्दाजा लगाया गया, तो ऐसा जान पड़ा

कि दो सौ रुपए लगेंगे। इस समय सभा के लोग धीरे से खिसक गए और पच्चीस लोगों में से बारह रह गए। अस्तु। मैंने कहा कि खर्च बहुत होगा, उतना चंदा इकट्ठा न हो सकेगा और मुझमें सौ या पचास रुपए नकद देने की ताक़त नहीं है, इसलिए समारोह में आने वाले सब मेहमानों का इंतजाम मैं करूँगा। पहले मेरी गरीबी को देखकर लोगों ने विरोध किया। परन्तु मेरा आग्रह देखकर वे राजी हो गए। फिर भी···आदि लोग मुझ पर टूट पड़े। मैंने उनकी गप्पें बहुत सुनी हैं, परन्तु स्वदेश के लिए रंच-मात्र भी मेहनत करते मैंने उन्हें नहीं देखा और विशेषतः यह देखकर कि नीच द्वेप-वृद्धि से प्रेरित होकर मेरे दिल को दुखाना उनका उद्देश्य है, मेरा क्रोध भड़क उठा और उनसे बहुत झगड़ा हो गया। लोग कहते हैं कि यह मेरी ही भूल है! ठीक है। क्योंकि, वे मुझसे शान्ति की आशा करते हैं। आज एक सौ पैंतीस रुपए चंदा इकट्ठा हुआ।'

(२१ मई)

'कल के झगड़े के बारे में भगवानदत्त का भाषण और मेरा निश्चय—आज से आगे क्रोध के अधीन होने से जन-कार्य में यदि रुकावट हुई, तो उसी क्षण जान दे दूँगा।'

(१२ जुलाई)

'आज यहाँ प्रथम हिन्दी वक्तृत्व-समारोह आरंभ हुआ। समारोह के लिए नागपुर से बारह सज्जन आए हैं; रायपुर से आठ, कामठी से तीन और अन्य चार स्थानों से दस मास्टर, डे० इ० वगैरा आए हैं। सभा दोपहर के दो बजे शुरू हुई और छह बजे समाप्त हो गई।'

'···के कहने पर राजा और दीवान दोनों विगड़ गए हैं। ऐसे महामूर्ख-शिरोमणि को यह चांडाल किस तरह लूट रहा है, यह इसकी भीरुता से सहज में मालूम हो जाता है। आज सखाराम अपनी पत्नी के साथ आया है।'

(१३) जुलाई)

'वालींद के हैडमास्टर और अन्य मास्टर लोग विलकुल तल्लीन हो

गए हैं। पहले विषय पर नौ वक्ताओं के भाषण हुए। दूसरे पर नौ, और तीसरे पर भी नौ ही वोलने वाले हैं। राजा ने सौ रुपए देना स्वीकार किया है, परन्तु यह रकम मिलेगी या नहीं इसमें शक़ है।"

(१४ जुलाई)

"आज का पूरा दिन राजा से रुपए वसूल करने में वीता। एक सौ छियासी के वदले वड़ी मुश्किल से सौ रुपए मिले !

१५ जुलाई की डायरी में यह लिखकर कि किसे क्या पुरस्कार मिला, अंत में तिलक लिखते हैं —

'सेक्रेटरी के नाते दो मैथिली ब्राह्मणों से हमें गालियाँ मिलीं।'

वक्तृत्व-समारोह की गड़वड़ में सखाराम लालाजी अपनी पत्नी रखमाई के साथ आए थे। रखमाई को नवाँ महीना था। लाला उसे हमारे यहाँ छोड़ गए। वाद में उसे वापिस भेज देने के लिए पत्रों का ताँता लगा दिया। अंत में लाला उसे ले जाने के लिए फिर आए। आने के चार-पाँच दिन वाद वह रखमाई को ले गए। रखमाई के जापे का वक्तनज़दीक आ गया था। इसलिए उसके साथ मुझे भी जाना पड़ा। लाला के वारे में तिलक अपनी डायरी में लिखते हैं—

'अस्तु। यह महाशय ६०० मील से कोई कारण न होते हुए भी आए हैं। यह अपनी पत्नी को वापिस ले जाने की सोच रहे हैं। उसके नौ महीने पूरे हो रहे हैं। साथ ही लड़की बीमार है। पानी अंधाधुंध वरस रहा है ! धन्य है भई !'

रखमाई के जापे के लिए लाला के साथ मैं पंढरपुर गई। परंतु जिस दिन रखमाई के वच्चा होने वाला था, उसी दिन राजनादगाँव से तिलक का तार आया कि—'मैं वीमार हूँ, इसलिए मेरी पत्नी को तुरंत भेज दो !' पत्र भेजने की अपेक्षा तिलक को तार भेजना ही अधिक पसंद था। तार जल्द पहुँचता है। पर हाँ, जेव में पैसे चाहिएँ। पैसे रहते, तो वह चाहे जव तार ही भेजा करते।

तार देखते ही कोमल मन के लाला घवरा गए। उन्होंने तुरंत मेरी

तैयारी की। उस समय लाला के घर में बड़ी अड़चन थी। परंतु उन्होंने अपनी अड़चन को बिलकुल न देखा। मैं कैसे जाऊँ, यह उन्होंने मुझे ठीक से समझाकर लिखा दिया। मैं भी फिर दत्तू को लेकर अकेली जाने के लिए तैयार हो गई।

पंढरपुर में एक ओवरसियर रहते थे। उनकी पत्नी भिकूताई की सखी थी। रवाना होते समय मैं उससे विदा लेने गई। उससे मैंने कहा—'आज मैं जा रही हूँ।'

'तुम्हारे साथ कौन जा रहा है?'

'कोई नहीं। मैं अकेली ही जाऊँगी।'

'भिकूताई मुझसे क्या कहेंगी? मैं एक औरत तुम्हारे साथ किये देती हूँ। ये रुपए लो।' यह कहकर उसने मेरे हाथ पर बीस रुपए रख दिए।

मैं अपनी साथिन को लेकर निकल पड़ी। वह औरत विधवा थी। तार के कारण मैं बहुत घबरा गई थी। इसलिए साथ में खाने-पीने को कुछ भी न रखा था। हम दोनों भूखी ही सफ़र कर रही थीं। दत्तू के लिए कुछ ले लेती थीं। इस तरह होते-होते भुसावल आ गया।

भुसावल में रखमाई के पिता रहते थे। वह मुझसे मिलने स्टेशन आए थे। शायद लाला ने उन्हें तार दे दिया होगा। वह अपने साथ बहुत-सा नाश्ता ले आए थे। वह आग्रह करने लगे कि आज के दिन उन्हींके घर ठहर जाऊँ।

'चाचा जी, मैं ठहर नहीं सकती। तार आया है! मुझे घर तुरंत पहुँच जाना चाहिए।'

बूढ़ा बड़ा मुँहफट था। भावुक बहुत था, परंतु अशुभ बहुत बोलता था। उसने मुझे समझाने के स्वर में कहा—'सुनो, मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हारे यहाँ एक दिन रुक जाने से तिलक कोई मर नहीं जायँगे।'

'चाचा, यह कैसी अशुभ बात कह रहे हैं आप?'

मैं रो पड़ी। गाड़ी चलने लगी। रात को आठ बजे के लगभग वह नागपुर आकर खड़ी हो गई।

मैं अपनी साथिन को लेकर नागपुर पर उतर पड़ी और खोज करती हुई भिकाजी पंत के दरवाजे के सामने आकर खड़ी हो गई। दरवाजा बंद था। हम दोनों के प्राण भूख से व्याकुल हो गए थे। दत्तू भुनभुना रहा था और मेरे मन में तिलक की चिन्ता लग रही थी।

दरवाजे पर धक्के दिए। बड़ी देर के बाद वह खुला दरवाजा खुलते ही और मुझ पर नज़र पड़ते ही पहले शब्द मेरे कानों में पड़े—

'भाभी मेरी चक्की कहाँ है ?"

'भाड़ में जाय तुम्हारी चक्की ! मारे भूख के मेरी जान निकली जा रही है। पहले भोजन परसो !'

'चलो, भाऊ के लिए थाली परसकर रखी है। वह चल दिए हैं बाहर। तुम्हीं पहले बैठ जाओ !' मैंने खाना खाया। मेरी साथिन ने फलाहार की चीज़ें खाईं।

पाँच-छह साल पहले जब हम पहली बार नागपुर में आए थे, तब बुटी के मकान में मैं इनके घर की चक्की लाई थी। उसके बाद हमने अपना घर तीन-चार बार छोड़ा था। तिलक ने यह चक्की किसी को दे डाली थी।

भिकाजी पंत आए और रहने के लिए आग्रह करने लगे। परंतु मुझे तार मिला था। इसलिए, ठहरना मेरे लिए संभव ही न था। हम सुबह सात बजे की गाड़ी से रवाना हुईं और ग्यारह बजे राजनादगाँव पहुँच गईं। स्टेशन पर कुली नहीं मिलते थे। तब मैंने उठाया सामान, बाई ने लिया दत्तू को और हम पैदल घर आए। घर आए, तो दरवाजे पर ताला लगा था ! मेरा कलेजा धक-से हो गया। घर की मालकिन घर में न थी। इसलिए मैं खरे के घर गई। वहाँ जाकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि तिलक का स्वास्थ्य अच्छा है ! फिर हमने खरे के घर खाना खाया और लौटकर चार बजे तक आँगन में तिलक की प्रतीक्षा में बैठी रहीं।

चार बजे तिलक आए। मैंने पूछा—

'यह क्या ? तार क्यों दिया ?'

'इसलिए कि वहाँ काम करते-करते तुम थक जातीं।'

'इतने दिन रही थी, तो क्या और दस ही दिनों में थक जाती? उन्हें कितनी भारी अड़चन हो गई!'

'वे आप निवट लेंगे।'

अस्तु। हमेशा की तरह थोड़ी गड़बड़, उठा-पटक हुई और फिर हम प्रेम से रहने लगे।

ईसाई धर्म के पथ पर

राजनादगाँव आने पर तिलक ने पठन और अध्ययन बड़े सपाटे से शुरू कर दिया था। उन्होंने एक मुंशी रखा, जिससे वह उर्दू पढ़ा करते। अंग्रेज़ी पुस्तकें भी वह बहुत पढ़ते और उनमें से कुछ कंठस्थ भी करते। उनकी डायरी से मालूम होता है कि उन्होंने 'सिसरो' और 'लैटर-राइटर' को धड़ल्ले से कंठाग्र करना शुरू कर दिया था। बाइबल का अध्ययन भी ज़ोरों से हो रहा था। प्रसिद्ध ईसाई लेखक रेवरेंड बाबा पदमनजी से उनका ज़ोरों से पत्र-व्यवहार जारी था, इसका भी उनकी डायरी से पता चलता है। शायद उन्हींकी सलाह से तिलक ने अन्य ईसा-भक्तों के जीवन-चरित भी उस समय पढ़े होंगे।

तिलक आजकल बहुत पत्र-व्यवहार करते हैं, लोग उनके पास आकर उनसे बहस करते हैं इत्यादि एक निराले ही वातावरण का मुझे आभास होने लगा। मैं थी अपढ़ गँवार! मैं अपनी तरफ से लिखने-पढ़ने का बहुत प्रयत्न करती, किन्तु वह क्या गोरखधंधा है, यह मैं नहीं सुलझा पाती थी।

मेरा लिखना तो अगाध ही रहता। पेंसिल, लेखनी और यहाँ तक कि लिखने के लिए दियासलाई की सींक भी मेरे लिए काफ़ी होती थी।

तिलक डायरी में लिखते हैं (७ फरवरी १८९४)—

"दत्तू महाशय गा रहे हैं। निम्नलिखित श्लोक पढ़ रहा हूँ—'देवा भला दे बळ खेळण्याला। जगांतील मौज पहावयाला। बाईस नानाल

सुखांत ठवी ।। प्रभो विनंती मम आयकवी ।।"[1] लक्ष्मी दियासलाई की सींक से यह श्लोक लिख रही है। सौ-सौ वार एक-एक चरण कहा। फिर भी लिखने का पता नहीं। गलतियाँ भी कितनी ! ! ऐसी है यह हमारी रखमावाई खांवेटी का अवतार ! ढोरों की तरह काम करेगी ! मुखर होने के कारण सवको अप्रिय होगा !"

इस समय तिलक को वाइवल पढ़ने की धुन लगी थी। अतः वहाँ के लोगों के साथ उनकी ज़ोरों से वहस होती। तिलक डायरी में लिखते हैं—"विष्णुपंत गोरे घर आए। उन्होंने रे० वावा की जीवनी पढ़कर लौटा दी और वाइवल को बुरी गालियाँ दीं। इससे उनकी और मेरी कहा-सुनी हो गई। लक्ष्मी भड़क उठी और मूर्ख की तरह तड़ाक से मुझसे कुछ चुभती हुई वात कह उठी। इससे मेरा और उसका छोटा-सा झगड़ा हो गया।" वाइवल पढ़ने का और विशेषतः 'पहाड़ के उपदेश' का प्रभाव उन पर होने लगा था। उपर्युक्त छोटे-से झगड़े के वारे में उन्हें वहुत दुःख भी हुआ था। "मुझमें क्षमा नहीं, शान्ति नहीं, कुछ नहीं। शिव ! शिव ! मेरी विद्या, विचार सव व्यर्थ हैं।" ऐसा वह कहते है। ईसाई धर्म के वारे में अपनी १८-२-१८९४ की डायरी में वह लिखते हैं—"ईसाई धर्म मनुष्य के मन को शान्ति, भक्ति, नीति, धृति और मुक्ति देनेवाला प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि कांटों, वृक्षों गहरी खाइयों, भयानक पर्वतों, भयंकर मरुभूमियों और मनोरम अमराइयों से भरे हुए अमर्यादित हिन्दू धर्म में रहने की अपेक्षा इस छोटी-सी ईसाई धर्म रूपी सदा प्रफुल्ल और सुफलित वाटिका में रहना अधिक अच्छा है ! लेकिन आज तो ऐसी वात मुँह से निकालने की भी मुझे हिम्मत नहीं होती ! लक्ष्मी तो पढ़ने में भी आलस्य करती है ! केवल उसकी धाक और उसके स्नेह से मैं रुका हूँ। प्रभो,

---

१.हे प्रभो, मुझे खेलने-कूदने और दुनिया का आनंद देखने के लिए शक्ति दे। तुझसे यह प्रार्थना है कि वाई और नाना को सुख में रख। मेरी यह प्रार्थना सुन ले।

मुझे और उसे सुबुद्धि दे।"

तिलक आजकल रोज़ रात को कहीं बाहर जाते हैं। परंतु कहाँ जाते हैं, यह कैसे मालूम हो? उनके इस वर्ताव का पता कौन लगाए? यदि घर की मालकिन के लड़के से कहूँ, तो वह उम्र में बहुत छोटा है। क्रोधावेश में उसे भी पीट देंगे। इसलिए एक दिन मैंने सोचा कि स्वयं मैं ही इसका पता लगाऊँ। एक दिन दत्तू को खिला-पिलाकर सुला दिया था। हम दोनों में किसी कारणवश झगड़ा हो जाने से चूल्हे पर 'थालि पीठ'[1] चढ़ा था। रात को लगभग नौ बजे तिलक घर से बाहर निकले। जाते समय मुझसे बोले—'मैं ज़रा खरे के घर तक हो आता हूँ।' मैंने दरवाज़ा बंद कर लिया और उसकी सेंध में से देखने लगी। तिलक बूटों की 'कर्र-कर्र' आवाज़ करते हुए खरे के घर की ओर मुड़े। दस-पन्द्रह कदम चलने के बाद वह धीरे से पीछे लौट पड़े और पैरों को न बजाते हुए विरुद्ध दिशा में चुपके-चुपके चलने लगे। स्वच्छ चाँदनी फैली हुई थी। 'थालि पीठ' का बरतन उसी तरह चूल्हे पर छोड़कर, मैंने घर का दरवाज़ा पूरी तरह खोल दिया और कुछ फ़ासले से जल्द-जल्द कदम बढ़ाती हुई तिलक के पीछे-पीछे चलने लगी। परंतु आगे चलकर दिमाग़ में ख़याल आया कि दूसरों के घर में लोगों को अपने अपमानित होने का तमाशा दिखाने से और दत्तू के उठने से पहले घर के भीतर चले जाना अच्छा। इसलिए इस अंदाज़ से कि वह सुन लें मैंने कहा—'खरे का घर तो पीछे रह गया। यह रास्ता उनके घर का नहीं है।' इन शब्दों के कानों में पड़ते ही तिलक पीछे मुड़े। मैं भी लौट पड़ी। अब हम दोनों में होड़ शुरू हुई। मुझे आगे का रास्ता देखने में कठिनाई प्रतीत होने लगी। मैं सोचने लगी कि इस समय अगर धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ, तो कितना अच्छा हो! मैं घर पहुँची और मैंने रसोईघर में जाकर दरवाज़ा बंद करके भीतर से साँकल लगा ली।

---

१. सतनजे के आटे की नमकीन रोटी।

तिलक आए और दरवाज़े पर धक्के देने लगे। मैं दरवाज़ा नहीं खोल रही थी। अंत में जब धक्कों के म:रे दरवाजा बिलकुल टूटने ही पर आ गया, तब मैंने उसे खोला। उधर दरवाज़ा खुलते ही तिलक ने मुझे खूब पीटा। उधर चूल्हे पर 'थालि पीठ' जल रहा था। अंत में क्रोध शान्त होने पर हम दोनों ने ठंडा खाना खाया।

किंतु, दूसरे दिन मेरी सूजी हुई पीठ देखकर तिलक का मन अत्यन्त दुखी हुआ।

उस दिन वह मिल्टन नामक एक यूरोपियन के घर जा रहे थे। वहाँ वह हमेशा जाया करते। बाइबल पढ़ते। ईसाई धर्म पर बहस करते और खाना भी खाते।

"मिल्टन के साथ उनके घर में मिसेज़ मिल्टन से परिचय। ईसाई धर्म के बारे में मेरे विचार और उस विषय पर मिल्टन से बातचीत। डायरी की नई कविताएँ उन्हें पढ़कर सुनाना इत्यादि। मुझे यह विश्वास होता जा रहा है कि मनुष्य के लिए दोनों लोकों में सुखदायी, पूर्ण रूप से सुसाध्य और आनंदमय धर्म ईसाई धर्म है! ईसा मसीह को मैं परमेश्वर का पुत्र नहीं मानता, परंतु एक अत्यन्त उदार महात्मा मानता हूँ, यह मैं स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूँ।"

(१३-२-१८९४)

तिलक मिल्टन के घर खाना खा रहे थे। उस समय क्या हुआ, इसके बारे में वह लिखते हैं—

इस अद्भुत कृत्य को देखने के उद्देश्य से वहाँ का कान्सटेबल यशवंत-राव कोई काम निकालकर चार बार भीतर आया, इसी समय मिल्टन की लड़की सारा भात और रोटियाँ लेकर भीतर आई। फिर तो इन महाशय को पक्का विश्वास हो गया! जाति-भेद के कारण, दूसरी जाति के अपने मित्र के घर भोजन करना भी इन लोगों को ब्रह्महत्या-जैसा पाप लगता है! परंतु यशवंतराव को देखकर मैं भी हिचकिचाया। देखिए, साहस के बिना विचार किस प्रकार पंगु होते हैं।

(१९-२-१८९४)

छत्तीसगढ़ में 'मिशन' का काम शुरू करने के इच्छुक दो अमेरिकन मिशनरी (पादरी) क़िले में आए थे। एक वयोवृद्ध थे और दूसरा केवल अठारह वर्ष का था। उनके साथ मिल्टन के घर तिलक ने वाइवल पढ़ी और प्रार्थना की। उस पर तिलक ने एक कविता भी लिखी है। प्रार्थना इस विचार से करनी चाहिए कि हम मातृभाषा में ईश्वर से बातें कर रहे हैं।

महिमा संस्कृत वाणी चा। थोर न संशय मज याचा॥
परि जरि बोध न शब्दांचा। तरि तो काय कळे साचा॥
तेंच तेंच हो संध्यावंदन नित्य एक सरसें। प्रमा दे हृदया कैसें॥[1]

मिशनरी द्वारा की गई प्रार्थना का तिलक पर बहुत प्रभाव पड़ा।

इन दिनों तिलक का पत्र-व्यवहार वहुत वढ़ गया था। परंतु वह किसे पत्र लिखते हैं और उन्हें कौन पत्र लिखता है, यह मैं न जान पाती थी। गाँव के लोग मुझसे कहते कि मैं उनके पत्र-व्यवहार पर निगरानी रखूँ और उनके पत्रों को चुराकर उन लोगों को दे दूँ। परंतु मैं यह करने के लिए कभी राज़ी नहीं हुई। एक वार मुझे मेज़ पर रखी हुई वाइवल को उठाकर जला देने का उपदेश दिया गया। मैंने उत्तर दिया—'वाइवल क्या है, यह मैं नहीं जानती। और यदि मैं उसे जला भी दूँ, तो फिर से उन्हें उसका प्राप्त होना क्या असंभव है? दुनिया की सारी वाइवलें जल जायँगी क्या? मैं उसे नहीं जलाती।'

डायरी से अव पता चलता है कि उनका पत्र-व्यवहार वंवई के ईसाई नेताओं और विशेषत: रे० वावा पदमनजी से था। सन् १८९५ में रे० वावा ने अपना 'अनुभव-संग्रह' प्रकाशित किया था। उसमें पृष्ठ २६९-७० पर तिलक के पत्र-व्यवहार के संवंध में नीचे लिखा मजमून मिलता है—

---

१. संस्कृत भाषा की महिमा वहुत महान् है, इसमें मुझे ज़रा भी संदेह नहीं। परंतु, यदि शब्दों का वोध नहीं होता, तो मैं उसे क्या समझूँ? रोज़-रोज़ वही-वही संध्या-वंदन करने से हृदय में प्रेम कैसे उत्पन्न हो?

"कुछ दिन पहले एक अपरिचित विद्वान् पंडित का पत्र आया। उसमें यह लिखा है कि उसने मेरी 'अरुणोदय' तथा अन्य पुस्तकें पढ़ीं। उनके विषय में उसने यह प्रकट किया है कि 'इन पुस्तकों में शब्द-लालित्य का अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी साहित्यिक गुण नहीं है, फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि मैं उन्हें सैकड़ों बार पुनः पढ़ूँ। उनमें सच्चा प्रेम, सच्ची भक्ति, सादगी और निःस्पृहता है। आपकी आत्म-कथा मैं इस समय छठी बार पढ़ रहा हूँ।' इन महाशय से कोई ईसाई सज्जन मिले थे। उनसे इनकी बातचीत हुई। उसका सारांश उपर्युक्त पत्र में दिया है, जो इस प्रकार है—

"उन ईसाई महाशय ने मुझसे पूछा कि क्या मैंने बाइबल पढ़ी है। मैंने उत्तर दिया कि मैं वेद-वेदांग, पुराण इत्यादि पढ़ चुका हूँ। सारे धर्म-शास्त्र मनुष्यकृत हैं। अब मेरी बाइबल आकाश है, यह पृथ्वी है, ये वन हैं। सारांश यह कि मैं अब इस प्रकृति ही में ईश्वर का चरित्र पढ़ता हूँ। यह सुनकर वह महाशय अंग्रेज़ी में बोले कि आपसे वाद-विवाद करने की सामर्थ्य तो मुझमें नहीं है। परंतु यह बाइबल लीजिए और इसे कम-से-कम तीन बार पढ़िए। मैंने उनसे 'हाँ' कहा और अपने वचनानुसार, किन्तु बड़ी अनिच्छा से, पढ़ना शुरू किया। जैसे-जैसे मैं पढ़ता गया, वैसे-वैसे मुझे आभास होने लगा कि यह ऊपर लिखे अनुसार भयानक जंगल नहीं, किन्तु अत्यन्त मनोहर छोटा-सा बगीचा है।"

तिलक की १३ सितंबर की डायरी से पता चलता है कि आगे चलकर उन्होंने बड़ी बारीकी से बाइबल का अध्ययन किया होगा। डायरी में हमेशा की आदत के अनुसार 'सुबह उठा' से आरंभ न करके उस पृष्ठ पर ऐसी टिप्पणियाँ मिलती हैं, जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी के लिए पाठ्य-पुस्तक के संबंध में लिखा करता है।

तिलक का स्वास्थ्य इस समय बहुत अधिक गिरने लगा था। ऊपर से उन्हें कभी शक होता कि वह बहुत बीमार हैं। कभी लगता कि उन्हें

तपेदिक हो गया है, कभी लगता कि वह दमे के शिकार हो गए हैं। इस कारण अव हमारे घर में पुस्तकों की वी० पी० पार्सलों के साथ ही दवाओं की वी० पी० पार्सलें भी फट पड़ी थीं। रायपुर जाकर उन्होंने अपने सीने की जाँच करवाई। वहाँ के डॉक्टर ने उनसे कहा कि डिस्पेपसिया हो गया है और 'लिवर' के नज़दीक वाले दो 'लंग्ज़' ख़राव हो गए हैं! मैं कह नहीं सकती कि इस डॉक्टर ने तिलक से मज़ाक किया या रुपए ऐंठने के लिए ऊलजलूल वात हाँक दी। तिलक यदि उसी स्थिति में रहते तो उनकी मृत्यु अलवत्ता पच्चीस वर्ष पहले लिखी जाती।

ईसाई धर्म की ओर उनका साफ़-साफ़ झुकाव दिखाई देने लगा और 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित उनके कुछ लेखों से भी यह स्पष्ट होने लगा।

एक दिन तिलक नित्य की भाँति वाहर गए थे। मैं वच्चे को सुलाकर चिंतित मन से वैठी थी। दुःख-सुख की वातें करने को भी तो कोई चाहिए न? वैसा मेरा कौन था? एक लड़का था, परंतु वह खाने और खेलने के सिवा और कुछ नहीं जानता था। वहाँ तिलक के खिलाफ़ कुछ लोग थे। इसलिए वाहर किसी से वातें करने में डर लगता था। फिर भाषा भी भिन्न थी। चारों ओर यह अफ़वाह फैली हुई थी कि तिलक ईसाई हो रहे हैं। उनके घर आने पर मैंने पूछा—

'क्या सचमुच आप ईसाई होंगे?'

'तुमसे कौन कहता है यह?''

'लोग कहते हैं।'

'तुमने लोगों से विवाह किया है या मुझसे?'

'आपसे।'

'तो मैं कहूँ वह सच है या जो लोग कहें, वह सच है?'

'आप जो कहेंगे, वह सच है।'

'तो मैं तुमसे कहता हूँ कि मैं ईसाई नहीं हो रहा।'

इतनी वातचीत होने के वाद तिलक वाहर चले गए। मैंने द्वार वंद करके भीतर से ज़ंजीर लगा ली और खूव फूट-फूटकर रोई। उस रुदन से

मुझे अच्छा लगा। मन कुछ हल्का-सा हो गया। शान्त जल पर थोड़ी-सी हवा के मंद झोंके से भी लहरें उठने लगती हैं। फिर मेरा मन तो भूत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों ओर के तूफ़ानों से उमड़ उठा था। उस दिन मैंने अपनी पहली कविता लिखी। वह कविता मुझे आज भी याद है :

"म्हणे जातो सोडून नाथ माझा
जतां कवणाला बाहुं देव राजा
सर्वव्यापी सर्वज्ञ तूंच आहे
सांग कोणाचे धरूं तरी पाये"[1]

कविता की अंतिम पंक्ति लिखकर समाप्त की ही थी कि दरवाज़े पर दस्तक पड़ी। कविता के कागज़ को मसलकर मैंने रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। द्वार पर दस्तकें पड़ ही रही थीं। दरवाज़ा खोलने में देर हो जाने से तिलक को क्रोध आ गया। वह बोले—'तुम दरवाज़े की कभी जंज़ीर नहीं लगातीं, फिर आज ही कैसे लगा ली ?' उन्हें मुझ पर कुछ शक हो गया।

'तुम क्या कर रही थीं ?'

'सो रही थी।'

'दरवाज़ा जल्द क्यों नहीं खोला ?'

'उठने में कुछ वक्त भी तो लगता है न ? क्या तुम मुझे मशीन समझते हो ?'

'चलो, परोसो जल्दी से।'

मैं भीतर गई। मेरे जाने पर तिलक चारों ओर देखने लगे। उन्हें लगा कि मैंने किसी को पत्र लिखा होगा। वह कुछ भी न जान सके।

---

१. सुनती हूँ कि मेरे पतिदेव मुझे छोड़कर जा रहे हैं। हे भगवान्, इस समय मैं किसको पुकारूँ ? तू ही सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है। अब तू ही बता कि मैं तुझे छोड़कर और किसके चरण पकड़ूँ ?

अंत में उन्होंने रद्दी की टोकरी औंधी की। रद्दी काग़ज़ों में खोजते-खोजते उन्हें मेरी कविता का काग़ज़ मिल गया। मेरी कविता देखकर तिलक को अत्यंत आनंद हुआ। उन्होंने उसे उठाकर अलमारी में बंद करके रख दिया। इधर कुछ दिनों से तिलक अपने कागज़ात ताले में बंद रखा करते थे। उनके बाहर चले जाने पर लोग आकर मुझसे उनके कागज़ात देखने के लिए माँगते। मैं उनसे कहती—'मैं कभी नहीं दिखाऊँगी। आप लोग चाहे मेरे भले के लिए ही कहते हों, तो भी मैं न दिखाऊँगी।' वे कहते—'कम-से-कम उनकी मेज़ पर रखी हुई बाइबल की प्रति तो जला डालिए।' मैं कहती—'बाइबल की यह कापी जला देने से क्या दुनिया की बाइबल की सारी प्रतियाँ ख़त्म हो जायँगी, बताइए फिर मैं वह कापी जलाए देती हूँ।' मेरा यह उत्तर सुनकर वे लोग चल देते।

कागज़ात न दिखाने का मेरा कारण दूसरा ही था। हम एक छोटी-सी रियासत में थे। मेरी यह धारणा बन गई थी कि उस रियासत में उन दिनों महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों पर कड़ी नज़र थी, क्योंकि कुछ ब्राह्मण किसी-न-किसी कारण से जेल में बंद थे। इसलिए यदि तिलक के कागज़ों में कहीं कुछ राजा के ख़िलाफ़ होता, तो मैं क्या करती ? दूसरी बात यह थी कि रियासत में बेगारियों पर हो रहे ज़ुल्मों को मिटाने के लिए तिलक काफ़ी परिश्रम कर रहे थे।

४ जनवरी की डायरी में तिलक इस संबंध में लिखते हैं—

"किले से लगभग सौ बेगारियों को साथ लेकर पाँच-छह सिपाही खरे के घर से लोहे का पिंजरा (शेर का) उठाकर ले जाने के लिए जा रहे हैं ! कल सुबह १०० बेगारी तीन बजे तक व्यर्थ भूखे रखे गए, फिर भी पूरे बीस हाथ भी पिंजरा न गया। सिर पर पिंजरा ! उसके कारण साँस लेना भी मुश्किल ! ऐसी स्थिति में एक बेगारी के पैर में पिंजरे से घाव हो गया। इस कारण स्वभावतः उस वेदना से वह व्याकुल हो गया, तिलमिला उठा और उससे ठीक ज़ोर लगाते न बनता था ! इसलिए एक सिपाही ने उस पर ढोर की तरह कोड़े बरसाए। कैसा यह ज़ुल्म ! कितनी

यह निर्दयता ! ! और छत्तीसगढ़ी गधों की कितनी यह भीरुता, कितनी सहनशीलता ! ! ! पाश्चात्य देश में १०० मनुष्यों के समुदाय पर दो सिपहट्टे इतना अत्याचार कर सकते हैं क्या ? हमारे राजा साहब अपनी आँखों से इन वेगारियों की यह दुर्दशा देखें, तो अच्छा हो। राजा साहब को इस संबंध में पहले प्रार्थना-पत्र भेजा जाय। चार-पाँच वेगारियों की तरफ से एक प्रार्थना-पत्र हिन्दी में लिखकर शारंगपाणी और सदाशिवराव को राजा साहब की सेवा में प्रेषित करने के लिए दिया। ऐसा तय हुआ है कि जब ये दोनों उपस्थित हों, उस समय मैं राजा साहब के पास जाऊँ और इस प्रार्थना-पत्र के बारे में उनसे बात करूँ। कई लोग इस कार्य के कारण मुझे पागल समझते हैं। हमारे सरिश्तेदार को यह एक वाहियात बात मालूम देती है। ईश्वर, तू इन गरीबों पर दया करके मुझे धैर्य और राजा को दया-बुद्धि प्रदान कर। मैं तो, कुछ भी हो, तुझ पर भक्ति रखकर प्रयत्न करूँगा ही करूँगा।' और एक स्थान पर वह कहते हैं—"एक ऐसी पुस्तक लिखने का विचार कर रहा हूँ, जिससे राजा की आँखें खुल जायँ।"

इस मामले के कारण और चूँकि तिलक ईसाई बनने वाले हैं इसलिए इस मामले का उपयोग करके, उन्हें फँसाने के लिए, कुछ लोग उनके कागज़ात देखने को माँगते होंगे, ऐसी मेरी धारणा हो जाने से मैं उस संबंध में बहुत सजग रहने लगी। वह थी रियासत। तिलक का क्या भरोसा ? कुछ भी न छिपाकर चाहे जो लिख मारें। कोई "ध" का "म"[1] करके उन्हें फँसा दे, तो मैं क्या करूँगी। मैं उनके हर कागज के टुकड़े को

---

१. मराठों के इतिहास का यह संदर्भ है। पेशवा राघोबा दादा ने गारदियों को यह लिखित आज्ञा दी थी कि नारायणराव पेशवा को "धरो" यानी पकड़ लो। लेकिन राघोबा की पत्नी ने, जो अपने पति को पेशवा-पद पर आसीन देखना चाहती थी, राघोबा के अनजाने आज्ञा-पत्र में "ध" शब्द के बदले "मा" कर दिया जिससे "धरो" का "मारो" हो गया और गारदियों ने नारायणराव का वध कर दिया। मराठी भाषा में "जालसाज़ी" के संबंध में इस मुहावरे का प्रयोग होता है।

सँभालकर रखने लगी।

अब हमारे घर मेहमानों की भीड़ होने लगी। नित्य नए और बहुत-से मेहमान आने लगे। उनसे बातें और उनसे बहस करने में तिलक व्यस्त रहते। एक दिन मैंने उनसे पूछा था—'ये लोग आखिर हैं कौन और क्यों आते हैं?' उन्होंने कहा था—'ये सब मेरे मन को फेरने के लिए आते हैं।' एक व्यक्ति बोला—'देखिए तिलकजी, मेरा अपना कोई नहीं है। मेरे पास काफी संपत्ति है और मैं उस सारी संपत्ति का तुम्हारे नाम दान-पत्र लिखे देता हूँ!' एक सज्जन उन्हें गोद लेने के लिए तैयार हो गए। तिलक ने उनसे कहा—'मैं ईसाई नहीं हो रहा। और अगर हुआ ही, तो रुपए-पैसे के लिए नहीं होऊँगा।' अप्पा साहब बुटी ने बापू साहब को खास तौर पर राजनादगाँव भेजकर कहला भेजा कि मैं तुम्हें ज़िंदगी-भर सौ रुपए माहवार दूँगा, रहने को मकान दूँगा और दत्तू की शिक्षा का पूरा भार उठाऊँगा, परंतु तुम ईसाई न बनो। तिलक ने बापूसाहब को समझा-बुझाकर वापस भेज दिया।

तिलक ईसाई हो रहे हैं, यह समाचार नासिक पहुँचा और पेंडसे को मालूम हुआ। तब उनका पत्र आया कि तुम मेरे पास आकर रहो। मैं तुम्हें जीवन-भर खिलाऊँ-पिलाऊँगा और दत्तू को पढ़ाऊँगा। तुम मेरे घर मांस-मच्छी खा सकते हो। चाहे जो पी सकते हो। मैं तुम्हें बिलकुल मना न करूँगा। परंतु तुम ईसाई न बनो!

श्रीमंत अप्पा साहब बुटी की जगह-जगह दूकानें थीं। उन समस्त स्थानों पर तिलक की हलचलों पर निगरानी रखने के लिए अप्पा साहब के संदेश गए। बापू साहब ने जाते समय यह सब मुझसे कहा और रुपए-पैसे भी दिये। 'यदि ऐसा ही कोई मौक़ा आ जाय, तो हमें तुरंत तार दे देना। हम किसी-न-किसी तरह उन्हें रोक रखेंगे। उन पर कर्ज़ बताकर अंत में उन्हें जेल भिजवा देंगे, परंतु ईसाई नहीं होने देंगे। आप कोई चिन्ता न करें।'

मुझसे कहते थे—

'आज मुझे दो मिशनरी मिले। उन्होंने अंग्रेजी में प्रार्थना की। ऐसी सुंदर प्रार्थना मैंने जीवन में कभी न सुनी थी। मुझे वह बहुत अच्छी लगी।'

तिलक कह रहे थे, परंतु मेरा उनकी ओर ध्यान ही न था। आगे क्या होता है, इस ओर ही मेरा ध्यान लगा हुआ था।

कुछ ही दिनों के बाद तिलक बंबई जाने के लिए तैयार हुए। मैंने कहा—'बंबई क्यों जा रहे हैं?' वह बोले—'मुझे राजा साहब के लिए घोड़े खरीदने हैं।'

यह सच था या झूठ, सो वही जानें। पड़ोसी मुझसे कहते—'उन्हें मत जाने दो। वह ईसाई होने जा रहे हैं।' मुझे कुछ सूझता न था। उनसे यदि पूछती तो वह कहते—'तुमने मेरे साथ विवाह किया है या लोगों के साथ?' दूसरी बात यह कि जिन लोगों ने मुझसे ऐसा कहा था, उनका नाम बताने से उनसे तिलक की व्यर्थ ही लड़ाई हो जाती। इसलिए फिर मैंने और कुछ न कहा। मैं विचारों में डूब गई।

अंत में मुझे एक अचूक युक्ति सूझ पड़ी। मैंने तिलक से कहा—'आप दत्तू को साथ ले जाइए!'

'क्यों? किसलिए?'

'यों ही।'

मेरा असली उद्देश्य यह था कि लड़का साथ होने पर वह ईसाई कैसे बनेंगे? "हाँ-ना" करते-करते दत्तू को साथ ले जाने की बात तय हुई और मैं निश्चिंत हो गई।

तिलक रास्ते ही में नासिक उतर पड़े और दत्तू को पेंडसे के घर छोड़कर अकेले बंबई चले गए। दत्तू केवल दो वर्ष का था। वह अपने माँ-बाप से कभी दूर न रहा था। वह पेंडसे के घर बहुत रोता था। इसलिए उन्होंने उसे जलालपुर, मेरे भाई के घर, भेज दिया। जब संकट दरवाज़े से आने लगता है, तब बीमारी भी खिड़की से झाँकने लगती है। जलालपुर में दत्तू को खसरा हो गया। सब लोग चिन्तित होने लगे। परंतु इधर उसकी

वीमारी की ख़वर न उसकी माँ को थी, और न वाप को।

मैं नित्य की भाँति दरिद्र वनी राजनादगाँव में अकेली वैठी थी। वापूसाहव वुटी के द्वारा तार के लिए दिये गए पाँच रुपयों में से दो रुपए मेरे पास वचे थे। वाक़ी तीन रुपए घर में खर्च हो गए थे।

तिलक के जाने पर पड़ोसियों ने मुझे घेर लिया। वे कहने लगे—'यह तुमने क्या किया? तिलक के साथ लड़के को क्यों भेज दिया? वह कौन वड़ा है। वह कुछ समझेगा भी? क्या तिलक अपने लड़के के साथ ईसाई न हो सकेंगे?'

सच तो है। मेरे ध्यान में यह वात कैसे नहीं आई? मेरे हृदय में अव दो छुरियाँ घुसीं, परंतु ऊपर से मैं पड़ोसियों को समझाती रही कि हो सकता है कि दत्तू के कारण उनका मन फिर जाय।

किंतु, मन वहुत उदास हो गया था। नातेदारों से पाँच सौ मील दूर मैं अकेली पति और पुत्र के विरह से व्याकुल हो रो-रोकर रातें काटने लगी।

तिलक को गए तीन सप्ताह हो गए थे। लड़का कहाँ? तिलक कहाँ? कुछ भी पता न चलता था। मैं अपने-आपको दोष देने लगी। मैंने स्वयं ही दत्तू को भेज दिया। वेचैन मन अपने वारे में इतनी अशुभ कल्पनाएँ करता है, जितनी वैरी भी नहीं करता। स्टेशन नज़दीक ही था। रोज़ दो वार मैं स्टेशन जाती, निराश होती और मुँह लटकाए वापस आती।

राजनादगाँव के एक जेलर तिलक के मित्र थे। उनके घर तिलक का वहुत आना-जाना रहता। इसलिए यह सोचकर कि शायद वह तिलक के वारे में कुछ जानते हों, मैंने उनके घर जाने का निश्चय किया। परंतु फिर शंका हुई कि यदि मैं उनके यहाँ गई, तो लोग क्या कहेंगे? फिर भी मैं उनके घर गई। चौकी पर पता लगा कि वह वाहर गए हैं। तव यह संदेश कहकर कि मैंने उन्हें घर वुलाया है मैं घवराई हुई अपने घर आई।

शहर में लोग कहने लगे कि अव तिलक को अपनी नौकरी से अवश्य ही हाथ धो वैठना पड़ेगा। एक हितचिन्तक आकर मुझसे कहने लगे—'श्रीमतीजी, आप जाकर दीवान साहव के चरण पकड़िए, जिससे आपके

पति की नौकरी बनी रहे। वरना, वह नौकरी से हटा दिए जायँगे।' मेरा सच्चा सलाहकार भगवान् था। दीवान के चरण पकड़ने के लिए मेरा मन तैयार न होता था। फिर भी लोगों के आग्रह पर मैं दीवान के घर जाने के लिए निकल पड़ी। बिलकुल उनके घर तक पहुँच गई। वहाँ मन में विचार आया कि यदि दीवानजी के चरण पकड़ूँ और वह तिलक की नौकरी बनाये रहने दें तो लोग कहेंगे कि पत्नी के कारण तिलक की नौकरी बनी रही। नौकरी अगर चली जाय, तो कोई हर्ज नहीं। पर, मैं नहीं चाहती कि लोग तिलक से ऐसी कोई बात कहें। नौकरी जाने पर कोई भीख माँगने की नौबत तो आयगी नहीं। और आ ही गई तो वह भीख माँगेंगे और उनके पीछे मैं दामन फैलाऊँगी। इन विचारों के मन में आते ही मैं दीवान की देहलीज़ से वापस लौट आई।

चार बजे जेलर आए। मैंने पूछा—

'तिलक कहाँ गए ?'

'मैं कुछ भी नहीं जानता।'

'क्या आप बिलकुल सच कह रहे हैं ?'

'बिलकुल सच।'

'मैंने सोचा शायद आप जानते होंगे।'

'सचमुच मुझे कुछ नहीं मालूम।'

'तो फिर एक तार दे दीजिए !'

'किसे ?'

'नारायणराव पेंडसे के पते पर, नासिक को।'

'क्या लिखूँ ?'

'तिलक वहाँ आए हैं क्या ?'

मैंने अपने पास का रुपया उन्हें दिया और उन्होंने मेरे कहे अनुसार तार दे दिया।

मेरा तार नासिक पहुँचा। उसी दिन बंबई से तिलक भी नासिक आ पहुँचे। उन्हें देखते ही भिकूताई ने उन्हें पचास रुपये देकर कहा कि इसी

समय राजनादगाँव जाओ और मनी को ले आओ ! उससे किल दो साल हो गए। आज ही सवेरे उसका तार आया है और हमारी बदली भी कहीं दूर होने की संभावना है। यह सुनते ही तिलक वहाँ से रवाना हुए और राजनादगाँव आ पहुँचे। मैं नित्य के अपने नियम के अनुसार स्टेशन पर हाज़िर थी ही। तिलक को देखकर मुझे अत्यंत आनंद हुआ। परन्तु दत्तू कहीं दिखाई नहीं दिया। अतः मैं भौंचक्की-सी हो गई।

'दत्तू कहाँ है ?'

'मामा के घर।'

'क्यों ?'

'हमें अब वहीं चलना है।'

'मैं नहीं चलूँगी।'

'तुम्हारे जीजाजी की बदली अब कहीं दूर होने वाली है। भिकूताई से तुम्हारी जल्द भेंट न होगी, इसलिए उसने तुम्हें बुलाया है। उसने मुझे किराए के लिए रुपए भी दे दिए हैं।'

'दिये होंगे, पर मैं नहीं जाना चाहती।'

'तुम बड़ी जिद्दी हो। क्या तुम अपनी बहन से भी मिलना नहीं चाहतीं ? कितनी निर्दय हो तुम ?'

'आप मुझसे चाहे जो कहें, पर मैं नहीं चलूँगी।'

'तो फिर क्या करोगी ?'

'क्या करूँगी का मतलब ? मैं यहाँ रहूँगी।'

'लेकिन, मैं भी तो चलूँगा तुम्हारे साथ।'

'और नौकरी का क्या होगा ?'

'इस्तीफ़ा दे दूँगा।'

'ख़ैर, सामान का क्या इंतज़ाम करेंगे ?'

'सामान ले जाने के लिए फिर आ जायँगे।'

मेरी साँप-छछूंदर-जैसी स्थिति हो गई। कहीं जाना होता, तो मैं सारा सामान बटोरकर संदूकों में भरती और उन पर अपने नाम की मुहर लगा-

कर रख देती। यदि ऐसा न किया जाता, तो तिलकजी सारा मामान इधर-उधर बाँट देते। इसका मतलब यह नहीं है कि मुहरबंद सामान उनकी दृष्टि से बच जाता। बहुधा ऐसा होता कि जब कभी मैं कोई शहर छोड़ती, तो वहाँ के सामान से मेरी फिर मुलाकात न होती। उस शहर ही से मुलाकात न होती, तो फिर सामान की क्या बात ? चाबियों की अलबत्ता मैं स्वामिनी रहती और तिलक की मृत्यु तक ऐसी कोई सेर-दो सेर चाबियाँ मेरे घर में जमा हो गई थीं।

तिलक बोले—'हम जल्दी ही लौट आयँगे, इसलिए अधिक सामान साथ न रखो।' फिर भी, मैंने चलते-चलते दो नई साड़ियाँ, एक फटी चादर और एक फूटा लोटा उनके 'बैग' में ठूँस ही दिया। हम दोनों ने राजनादगाँव को प्रणाम किया और हमारी गाड़ी आगे बढ़ी।

नागपुर तक तिलक मेरे साथ रहे। परन्तु नागपुर का स्टेशन आते ही उन्हें वहाँ के एक ज़रूरी काम की याद हो आई। वह मुझसे बोले—'तुम जाओ आगे, मैं पीछे से आता हूँ। मुझे नागपुर में बड़ा ज़रूरी काम है।' तिलक के हमेशा अत्यन्त ज़रूरी काम निकला करते। अनेक बार मुझे उनका पता न रहता। मैं भी कहाँ तक बहस करती रहती ? उनसे बहस करना हवा में गाँठ बाँधने की तरह था!

मुझ अकेली को लेकर गाड़ी ने नागपुर छोड़ा। पास में पैसा नहीं, नाक में सोने की तार की छोटी-सी नथ को छोड़कर बदन पर कोई जेवर नहीं, दत्तू के हाथ का चपटा कंगन तुड़वाकर तिलक के लिए दो तोले की अँगूठी बनवा दी थी। वह भी उन्होंने किसी को दे डाली थी और मुझसे कहा था कि खो गई। मेरे पास ताँगे के लिए भी पैसे न थे।

नासिक स्टेशन पर दोपहर के तीन बजे गाड़ी पहुँची। मेरा नाम था लक्ष्मीबाई, और वेश था दरिद्र का! फटी साड़ी, नाक में तार की छोटी-सी नथ, हाथ में मोटे अक्षरों में तिलक का नाम लिखा हुआ बैग—इस वेश में मैं स्टेशन पर उतरी। दो मनुष्य मेरी ओर दौड़ पड़े! मैं घबराई हुई उनके मुँह की ओर देखने लगी। मैं समझ नहीं पाती थी कि ये अपरिचित

लोग यह क्या कर रहे हैं। वे मुझसे बोले—"मौसी, आपने हमें पहचाना नहीं ? हम पेंडसेजी के यहाँ से तुम्हें लेने के लिए ताँगा लेकर आए हैं।"

भिकूताई द्वार ही पर आतुरता से मेरी राह देखती खड़ी थी। ताँगा आते ही उसने मुझे उतार लिया। मेरा वह वेष देखकर उसे बहुत बुरा लगा। उसने गद्‌गद् होकर मुझे हृदय से कसकर चिपका लिया। 'मनी, तेरी यह कैसी दशा हो गई है।' थोड़ी देर इधर-उधर की बातें होने पर मैंने स्नान किया और भोजन के लिए बैठी। भोजन से निबटकर बाहर आई ही थी कि भाई गाड़ी लेकर आया। 'मनू, दत्तू को बहुत खाँसी आती है। तुम जलालपुर चलो!' भिकूताई बोली,—'ले जा बाबा उसे। **सीता निघाली वनवासा। पाठी लागली अवतसा।**'[1] माँ और बेटे की लगभग सवा महीने से जुदाई हो रही है।"

जलालपुर पहुँचने पर दत्तू की ओर देखा, तो मैं बुरी तरह रो पड़ी। तीसरे दिन हमें जलालपुर से ले जाने के लिए भिकूताई के यहाँ से ताँगा आया और हम दोनों नासिक आए। अब सब लोगों को केवल तिलक ही की चिन्ता रह गई थी।

सात-आठ दिन के बाद तिलक आए। फिर हम सब निश्चिंत हो गए। सब आनंद में थे। पर, मैं चिन्तित ही थी। आगे क्या करना चाहिए, इस संबंध में सब अपनी-अपनी तरफ़ से तिलक को सलाह देने लगे। घारूमाई ने कहा—'तिलकजी, आप कीर्तन करते हुए घूमिए। मौसी और दत्तू रहेंगे हमारे पास। आप आते-जाते रहिए।' पेंडसे कहते—'तुम अब कहीं न जाओ। जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक तुम सब मेरे घर ही रहो। मेरे यहाँ ही भोजन किया करो। मैं तुम्हें जेब-खर्च के लिए पच्चीस रुपया माहवार दिया करूँगा।'

तिलक बोले—'मैं किसी का भी ताबेदार बनना नहीं चाहता। घारूमाई की सलाह के अनुसार मैं कीर्तनकार बनूँगा। परंतु कीर्तन के लिए

---

१. सीता वन में जाने के लिए निकली और उसके पीछे बला लग गई।

आवश्यक साज़ लाने के लिए मुझे बंबई जाना ही होगा।' पेंडसे ने कहा—'सिर्फ़ इतने-से काम के लिए बंबई जाने की क्या ज़रूरत है ? मैं बाल को पत्र लिखे देता हूँ। तुम्हें जिस साज़-सामान की ज़रूरत है, उसे वह तुरंत भेज देगा।' परंतु तिलक को यह बात पसंद न थी। वह बोले—'ऐसा कैसे होगा ? जिसे साज़-सामान की ज़रूरत है, उसे अपनी पसंद ही का खरीदना-चाहिए।' इस पर पेंडसेजी क्या बोलते ? बेचारे चुप बैठे रहे।

चाँदोरी के जागीरदार उस समय नाना साहब पेंडसे के घर ठहरे हुए थे। उन्हें एक ओर ले जाकर नाना साहब ने उनसे सारा हाल कहा और प्रार्थना की कि वह ऐसा कुछ करें, जिससे तिलक का सारा ध्यान किसी दूसरी तरफ़ आकृष्ट हो जाय। जागीरदार साहब ने पेंडसे की प्रार्थना स्वीकार की।

तिलक थोड़ी देर बाद पेंडसे से बोले—'जागीरदार साहब मुझे अपने साथ चाँदोरी ले जाना चाहते हैं।' पेंडसे बोले—'अच्छा तो है। चले जाओ उनके यहाँ कुछ दिनों के लिए।'

जाते समय तिलक ने घर के हर व्यक्ति से विदा ली। दत्तू को गोद में लेकर उसे चूमा। उस समय उनकी आँखों से आँसू प्रवाहित होने लगे। सबको लगा कि तिलक को पश्चात्ताप हुआ है। अब वह गृहस्थी में मन लगायँगे।

दस-बारह दिनों के बाद तिलक चाँदारी से सीधे बंबई चल दिए। मतलब यह कि तिलक का पेंडसे के घर का वह अंतिम दिन ठहरा।

दो-चार दिन के बाद अखबारों में तिलक के ईसाई हो जाने का समाचार प्रकाशित हुआ।

तिलक के बपतिस्मा ले लेने के बाद क्या हुआ, यह मैं आगे बताऊँगी। यहाँ स्वयं तिलक ने 'एक विद्यार्थी की गवाही' के नाम से अपने ईसाई होने के बारे में जो मज़मून एक पुस्तक में प्रकाशित किया है, उसके कुछ अवतरण देती हूँ। यह कहकर कि चमत्कारों पर लोग हँसते हैं, किंतु मेरा धर्म-परिवर्तन ही एक चमत्कार है, तिलक आगे लिखते हैं :—

"लगभग दो सवा दो वर्ष पहले ही क्या मैं इस ईसा का तथा उसके अनुयायियों का कट्टर वैरी नहीं था ? आज जो हाथ ईसा की सेवा के लिए सदा उत्सुक है, उसी हाथ से ईसा की निंदा के आवेश में मैंने कितने कागज़ लिख मारे हैं ! आज जो जिह्वा ईसा की कृपा की गवाही देने के लिए सदैव प्रस्तुत है, उसीने उसी पवित्र नाम की एक समय मनमानी अव-हेलना की है न ? उस समय किसी ने क्या स्वप्न में भी यह सोचा था कि यह मनुष्य ईसाई हो जायगा ? हिंदू धर्म के प्रति इतना अभिमान रखने वाला यह मनुष्य, उस धर्म को त्याज्य मानकर, वाइवल में वर्णित ईश्वर के आगे सिर झुका देगा, क्या ऐसी उस समय किसी ने कल्पना भी की थी ? तथापि, मेरा वह अभिमान नष्ट हो गया और आज मैं ईश्वर के सामने ईसा का हाथ पकड़कर छोटे बच्चे की तरह खड़ा हूँ, इस पर मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है। यह चमत्कार नहीं, तो और क्या है ? इस चमत्कार की सचाई को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। यह सब चमत्कार है या ईश्वर की दया है, इसके सिवा अन्य शब्दों में इसका स्पष्टीकरण न हो सकेगा। ईसाई मैं नहीं हुआ हूँ, वल्कि वह ममतामय गड़रिया ही अपने अन्य निन्नानवे मेमने छोड़कर, एक मुझे भयंकर पहाड़ों में से खोज कर लाया है। मैं कितना अभिमानी और गर्वीला था ? मैं नए धर्म की स्थापना करने जा रहा था कि तभी मैं ईसा का शिष्य वन गया !

"हिन्दुस्तान के लिए एक नए धर्म की स्थापना करने का प्रयत्न मैं कर रहा था, यह सच है। यही नहीं, वल्कि जिससे संसार के सारे राष्ट्र एक वंधुत्व के अनुवंध से एकजीव हों, ऐसे धर्म के पीछे मैं लगा था। इस कल्पना में मैं कितने ही वर्ष उलझा रहा। भविष्य में ईसाइयत का महा-मंदिर वनाने के लिए, परमेश्वर के सदय करों से, मेरे अन्तःकरण में यह कल्पना आधारशिला की तरह वैठाई गई थी।"

उन्हें लगता कि उन्हें ईसा की ओर प्रेरित करने की 'परोक्षापरोक्ष कारण परंपरा' के मूल में उनकी माँ है। उस परंपरा के कुछ कारण उन्होंने इस प्रकार दिए हैं:—

"मेरी माँ बड़ी भावुक और प्रेममयी थी। उसकी यह वृत्ति क्यों बनी, यह मैं नहीं जानता। उसने कभी ईसा का नाम भी मुँह से निकाला हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं। लेकिन, वह हमें सदा यह उपदेश दिया करती थी कि 'ईश्वर से डरकर चला करो, सबका भला किया करो।' मातृत्व के पवित्र कर्तव्य के संबंध में मेरी माँ के समान परिपूर्ण स्त्री मैंने दूसरी नहीं देखी। वह मूर्त्ति-पूजक थी, इसलिए उसकी ऐसी धारणा कैसे होगी, इस संदेह की गुंजायश नहीं; क्योंकि ईश्वर अपने विशिष्ट कार्य के लिए मूर्त्ति-पूजकों को भी सद्‌गुण प्रदान करके साधनीभूत बना लेता है, यह हम जानते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत छोटेपन में मुझे एक शिक्षक मिले थे। इन महाशय की समझ में यद्यपि यह कभी न आया कि स्वदेश के लिए किस प्रकार उपयोगी बना जाय, फिर भी स्वदेश-प्रेम की उनके अन्तःकरण में बाढ़ आई थी। उन्होंने अपने शिष्य बच्चों को अपनी ही तरह स्वदेश-भक्ति के पीछे पागल बना डाला था। इस और इस तरह की अन्य परिस्थितियों के कारण मेरे मन को एक अजीब मोड़ मिल गया। मुझे अच्छी तरह याद है कि बिलकुल बचपन में कक्षा में जब भूगोल पढ़ाया जाता था, उस समय वहाँ मेरा सिर्फ़ शरीर रहता था, किन्तु मन दूर सफ़र करने जाया करता था; क्योंकि इधर पढ़ाई होती और उधर मेरा मस्तिष्क इस गहन विचार में खो जाता कि आगे हिन्दुस्तान का क्या होगा! इतनी छोटी उम्र में भी अपने देश के जाति-भेद को देखकर मेरा क्रोध भड़क-भड़क उठता। मैं जब केवल चौदह-पन्द्रह साल का था, तब एक बार लड़कों की सभा में 'समस्त दान-धर्म का ठेका ब्राह्मणों ही को क्यों?' विषय पर मैंने भाषण दिया था। उस समय मेरे पिता ने कुछ मज़ाक में और कुछ क्रोध से कहा था कि 'यह आगे चलकर किसी दिन धर्म-भ्रष्ट होगा।' उनकी यह बात आज मुझे याद आ रही है। किसी पुरानी प्रथा से चिपककर रहने वाले शिक्षक के तत्त्वावधान में कभी था, यह मुझे स्मरण नहीं आता। प्रायः मेरा संबंध सुधारवादी शिक्षकों ही से रहा करता। इसलिए प्रत्येक विषय पर स्वतंत्रता और स्पष्टता से विचार

करने की मेरी आदत पड़ गई।

"मेरी यह पक्की धारणा हो गई थी कि अगर हिन्दुस्तान का कभी उत्कर्ष हुआ, तो वह धर्म के महाद्वार ही से होगा। इस कारण मैं अपनी शक्ति के अनुसार धर्म और तत्त्व-ज्ञान के अध्ययन में खोया रहता। आखिर नागपुर में मुझे एक सच्चा आश्रयदाता मिल गया। आज तक मैं इस सामान्य व्यक्ति को अपने पिता के तुल्य मानता हूँ। चार-पाँच वर्ष पहले मैंने इस व्यक्ति का काम करना स्वीकार किया। काम था केवल लिखने और पढ़ने का। हिंदू-धर्म-संबंधी विशेषतः, वैदिक और आध्यात्मिक साहित्य जितना उपलब्ध था, उतना प्राप्त करने में उसने हज़ारों रुपए खर्च किए। उस अध्यात्म-ज्ञान और कल्पना-सागर में लगातार तीन साल तक मैं तैरता रहा। मुझे अध्ययन का शौक़ था और उसे इस सन्मित्र ने पूरा किया। अंत में मैंने अपने नए धर्म के मूल सिद्धान्त निर्धारित किए। वे ये हैं—

(१) विश्व का निर्माता कोई अन्तःकरण-विशिष्ट व्यक्ति है और उसे सारी मानव-जाति अपनी संतान की तरह प्रतीत होती है।

(२) सारे धर्मशास्त्र मनुष्य द्वारा निर्मित हैं, इसलिए ईश्वर का ज्ञान कराने वाला एक ही ग्रंथ है। वह ग्रंथ यह जगत् है।

(३) पूर्वजन्म और पुनर्जन्म, वे दोनों नहीं हैं। मनुष्य के सुख-दुःख व्यक्ति के आनुवंशिक, आत्मविशिष्ट और सामाजिक कर्तव्यपराङ्मुखता पर अवलंबित है।

(४) ईश्वर के प्रति भक्ति और दोनों लोकों में बंधुत्व ही सारे धर्मों का सार है।

(५) मूर्त्ति-पूजा-जैसा दूसरा पाप नहीं है।

इन मतों की संस्थापना करने के लिए मुझे एक औलिया ही बनना चाहिए था। इसके बाद मैं भिन्न-भिन्न धर्म-संस्थापकों के जीवन-चरित्रों का अध्ययन करने लगा। उनमें से बहुतों से मेरी पटी नहीं। फिर भी, गौतम बुद्ध से मेरी घनिष्ठता हो गई। आश्चर्य होता है कि बाइबल और ईसा

मेरे स्वप्न में भी न आए। उसका पहला कारण बाइबल की अत्यन्त सरल भाषा है। अपने लिए सर्वथा दुर्गम, अथवा जिस विषय में मस्तिष्क को काफ़ी व्यायाम करना पड़े, ऐसे विषयों की ओर ब्राह्मणों का ध्यान लगा रहता है। यह उन लोगों का जैसे जन्मसिद्ध स्वभाव ही हो गया है। यदि हिंदू धर्म पर लिखे गए संस्कृत ग्रंथों के प्राकृत भाषाओं के अनुवाद ब्राह्मणों के हाथ में दें, तो मुझे विश्वास है कि वे उन्हें कूड़ा-कचरा समझकर दूर फेंक देंगे।"

अपने एक नए धर्म की रूपरेखा तैयार हो जाने पर तिलक को ईसाई धर्म की जानकारी हुई। यह देखते ही कि मेरे द्वारा नियोजित किया जा रहा धर्म पूर्णावस्था में वर्तमान है, उन्हें धर्म-संस्थापक के नाते जो सम्मान प्राप्त होता, उसे उन्होंने अत्यन्त नम्रतापूर्वक छोड़ दिया और ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। इस धर्म की और कौन-कौन-सी परिस्थितियाँ उन्हें खींच लाईं, उन्हें बताते हुए तिलक इस लेख में कहते हैं—

"सन् १८९३ में अपनी आश्रयदाता की इच्छानुसार धर्म और तत्त्व-ज्ञान विषयों पर एक नया मासिक-पत्र निकालने के लिए मैं राजी हो गया। मतलब यह कि मैंने उसका केवल संपादन अपने हाथ में लिया। दो अंक निकले और आगे चलकर मेरे नए मतों के कारण मुझे वह काम छोड़ देना पड़ा। इसी समय पिचासी कोस दूर राजनादगाँव नाम की एक रियासत में वहाँ के राजा साहब ने मुझे काम दिया। वहाँ जाने के लिए मैंने रेलगाड़ी पकड़ी। बंगाल-नागपुर-रेलवे में तीसरे और दूसरे दर्जे के बीच एक और दर्जे का डिब्बा होता है। उसे 'इण्टरमीजियेट' कहते हैं। इस दर्जे का मैंने टिकिट खरीदा था। डिब्बे के पास आकर देखता हूँ कि भीतर एक गोरे साहब बैठे हुए हैं। हमेशा के अनुभव की तरह दरअसल उन्हें मुझे घुड़क देना चाहिए था, परंतु उन्होंने वैसा कुछ न किया। उलटे थोड़े मुस्कराकर उन्होंने मुझे बैठने के लिए स्थान दिया। यहाँ मैं एक बात अपने श्रोताओं को सुझाना चाहता हूँ। वह यह कि रेलवे के कितने ही गोरे नौकर और गोरे मुसाफ़िर अपने बर्ताव से ईसाई धर्म के प्रचार की राह में

पर्वत की तरह आड़े आते हैं। हिंदू लोगों में ईसाई धर्म के बारे में इतना अज्ञान है कि उस पर हँसी आती है। फिर भी, वे इसकी अच्छी तरह कल्पना कर सकते हैं। जो अपने-आपको ईसाई कहते हैं, उनका बर्ताव कैसा होना चाहिए। ऊपर से वे ऐसा समझते हैं कि जितने गोरे साहव हैं, वे सव ईसाई हैं। इसलिए, कुछ गोरे लोगों के बुरे वर्ताव के कारण उनकी दृष्टि में ईसाई धर्म दोषपूर्ण हो जाता है। लोगों से अहंमन्यता या ताना-शाही का वर्ताव करके ईसा मसीह के राज्य को धक्का पहुँचाने वाले ये लोग रेलवे-विभाग में कितने ही भरे पड़े हैं। इस पर मुझे वारंवार खेद और आश्चर्य होता है कि ऐसा क्यों होता है। इन रेलवे-विभाग के लोगों को प्रेम का अर्थ सिखाने के लिए ईश्वर अपने कुछ सेवक भेजे ! अस्तु।

हमारे डिव्वे के साथी अत्यन्त सभ्य और नम्र थे। इतने कि उन्हें देख-कर हर व्यक्ति का मन प्रसन्न हो जाता। इस समय पढ़ने के लिए मैंने अपने साथ एक ही पुस्तक यानी अपनी पसन्द का भवभूति का 'उत्तर-रामचरित' नाटक रखा था। संस्कृत-काव्यों में इस कवि की उदात्त कविता मुझे वहुत अच्छी लगती है। हम दोनों में कवि और कविता के विषय में वहुत चर्चा हुई। इन महाशय की वातों ने मेरा वहुत रंजन किया। मुझे शीघ्र ही पता चल गया कि इन साहव को थोड़ी-सी संस्कृत आती है और संस्कृत-साहित्य की उन्हें काफ़ी जानकारी है। धीरे-धीरे उन्होंने विषय वदला और ईसाई धर्म के वारे में मेरे मत क्या हैं इत्यादि वातें पूछना शुरू किया। मैंने उन्हें अपने नए धर्म की कल्पना कह सुनाई। उसे सुनकर वह वड़ी गंभीरता से वोले—'मैं सोचता हूँ कि आज से दो वर्ष के भीतर आप ईसाई हो जायँगे।' यह सुनकर मुझे वड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने समझा कि उनकी यह भविष्य-वाणी एक पागलपन है। इसके वाद हम वहुत देर वातें करते रहे। साहव ने मुझसे कहा—'ऐ नौजवान, ईश्वर तुम्हें अपनी ओर खींच रहा है। वाईवल का अध्ययन करो ! ईसा के जीवन-चरित्र का अच्छी तरह से परिशीलन करो, जिससे सचमुच तुम ईसाई हो जाओगे।' यह वात मुझे वड़ी अविचारपूर्ण लगी और मन-ही-मन मैंने उसकी थोड़ी

निंदा भी की। अंत में उसने प्रार्थना की और मुझे 'न्यू टेस्टमेंट' की एक प्रति निकालकर दी। मैंने उसे वचन दिया कि अगर सरसरी दृष्टि से देखने पर यह पुस्तक मुझे पसन्द न आई, तो भी मैं उसे पढ़ूँगा। मैंने यह सोच-कर वचन नहीं दिया कि उस पुस्तक में कुछ सार है, किन्तु केवल उस सुशील सज्जन का लिहाज करके मैंने वचन देना चाहा। मेरा स्टेशन आने पर हम दोनों ने एक-दूसरे का प्रेम-पूर्वक अभिवादन किया और मैं नीचे उतर पड़ा। आश्चर्य की बात यह कि हमने अंत तक एक-दूसरे के नाम और गाँव के बारे में कुछ न पूछा।

"कोई उच्च जाति का हिंदू ईसाई हो रहा है, यह बात यदि उसके जाति-भाइयों को मालूम हो जाय, तो उस पर जो बीतती है, वह दूसरों की समझ में आना कठिन है। दुःख और बीमारी में जिस तरह माँ रात-दिन अपने पुत्र के पास रहती है, उसी तरह ईश्वर इस समय मेरे पास था। नाना प्रकार के संकटों से उसने मुझे बचाया। मुझ दुष्ट ने मनुष्य से डरकर कई बार कई लोगों से कपट किया होगा, परन्तु ऐसे पापी को ईश्वर ने नहीं छोड़ा। मेरी नौकरी चली गई, दाने-दाने के लिए मैं मोहताज हो गया, मुझे अपने इकलौते बेटे को छोड़ देना पड़ा। आज तक छाया की तरह दोनों साथ-साथ रहे, परन्तु मेरी पत्नी 'हाँ-ना' करते-करते अंत में मायके ही पर लुब्ध हो गई, परन्तु ईश्वर ने मुझे अपने से दूर नहीं किया। अंत में १८९४ के नवम्बर महीने में लगातार तीन रात मेरे सपने में कोई आता और मुझसे कहता कि 'उसके पीछे जा, डर मत।' फिर तो मुझसे रहा नहीं गया। यद्यपि बपतिस्मा लेने के मेरे मार्ग में बड़ी मुश्किलें थीं, फिर भी, मेरा निश्चय हो गया था कि इसी समय मैं दुनिया में जाहिर कर दूँ कि मैं ईसाई हो गया और तदनुसार मैंने अमेरिकन बोर्ड मिशन के रे० जे० ई० आवट साहब से प्रार्थना की कि वह यह प्रकाशित कर दें कि मैं ईसाई हूँ। उन्होंने 'ज्ञानोदय' में यह प्रकाशित किया और मेरा जी ठंडा हुआ। फिर तो कुछ पूछिए ही नहीं! यदि मेरे हृदय में अपने देशवासियों के प्रति प्रेम न होता, तो आगे क्या-क्या बातें हुईं, यह मैं दुनिया के सामने खुशी से रख

देता। परन्तु नहीं, ऐसी बातों को भुला देना ही अच्छा। ईश्वर की जय हो कि आगे चलकर शीघ्र ही तारीख १० फरवरी १८९५ को बम्बई में अमेरिकन मिशन के चर्च में मेरा बपतिस्मा हुआ। दो वर्ष पहले की रेल-गाड़ी के साहब की भविष्यवाणी सच हुई। ईश्वर ने मुझे अपनी ओर खींच लिया। आज तक वही ऐसे अशक्त बालक का अतर्क्य वात्सल्य से परिवर्तन करता है।"

'तुम्हारे ईसाई हो जाने से क्या तुम्हारी आज की उत्कृष्ट स्वदेश-भक्ति कायम रहेगी ? क्या तुम्हारे हृदय में हमारे प्रति प्रेम बना-रहेगा ?' एक मित्र द्वारा इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाने पर तिलक ने जो उत्तर दिया, वह प्रकाशित हुआ है। उसमें वह कहते हैं :—

वैराग्नीवर मी प्रेमाचा[१] पाउस पाडिन जाण।
स्वदेशबांधव मम हो वाहिन तुमच्या कार्या प्राण॥
रडेन मी वा झुरेन मित्रा श्रमेन राहिन लोकीं।
मरेन अपुल्या देशासाठीं ख्रिस्ती जरि झालो कीं॥
असें करीन मी तरीच शोभा होउनिया ख्रिस्ताना।
दास! नातरी ख्रिस्ती केवळ ढोंगी उपनांवाचा॥[१]

---

१. यह जान लो कि मैं वैराग्नि पर प्रेम की वर्षा करूँगा। हे मेरे देश-भाइयो, तुम्हारी सेवा ही में मैं अपने प्राण दूँगा। इस लोक में रहते हुए मैं तुम्हारे लिए ही रोऊँगा, तुम्हारे लिए ही दुःख से क्षीण हूँगा, तुम्हारे लिए ही परिश्रम करूँगा। यद्यपि मैं ईसाई हो गया हूँ, तो भी, अपने देश के लिए प्राण दूँगा। यह करने पर ही मैं प्रभु ईसा का सच्चा सेवक हो सकता हूँ। अन्यथा, मैं ईसाइयत का केवल ढोंग कर रहा हूँ।

बहन के आश्रय में

तिलक ने चांदोरी के जागीरदार की कोठी रेव्हेरेंड डॉक्टर जस्टिन अॅबट के बँगले की सीढ़ी चढ़ने के लिए छोड़ी। वह बाइकला पर उतर पड़े और खोज करते-करते उन्होंने वहाँ के अमेरिकन मिशन हाईस्कूल में प्रवेश किया। तिलक को उन लोगों ने रख लिया और जब वह ईसाई धर्म का संपूर्ण अध्ययन कर चुके, तब चार महीने के बाद उन्हें बंबई के भेंडी बाज़ार के अमेरिकन मिशन के गिरजाघर में ले जाकर, वहाँ उन्हें बपतिस्मा दिया।

ऐसा कहा जा सकता है कि बपतिस्मा के समय से तिलक ने ईसाइयों में एक प्रकार के भिन्न विचारों का प्रवाह शुरू किया। यदि यह कहें कि डॉक्टर अॅबट उस समय तिलक के धर्मगुरु थे, तो कोई हर्ज नहीं। परंतु उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया कि वह उनसे अथवा किसी भी विदेशी पादरी से बपतिस्मा न लेकर, भारतीय ईसाई ही से लेंगे। इसलिए रेवरेंड तुकारामजी नथोजी ने उन्हें बपतिस्मा दिया। यह महाशय उस समय 'ज्ञानोदय' के संपादक थे। बपतिस्मा हो जाने पर तिलक रहने के लिए वसई चले गए।

तिलक के ईसाई हो जाने का समाचार बात-की-बात में जहाँ-तहाँ आग की तरह फैल गया। नासिक में भी यह समाचार तुरंत पहुँचा। पेंडसे के घर उनके रिश्तेदार और इष्ट-मित्र लगातार चक्कर काटने लगे। परंतु नाना साहब ने ऐसा प्रबंध कर रखा था कि घर में कोई किसी से बात ही न करता। लोग आते, तो सब लोग चुप रहते। कुछ लोग मेरी और

दत्तू की ओर देखकर छोटा-सा मुँह बनाकर आँखें पोंछते। यह सारा दृश्य देखकर, मेरी स्थिति बड़ी अजीब-सी हो गई। मुझे लगता कि क्या कहीं कोई दुर्घटना होने से तिलक का प्राणांत हो गया है? अपने विषय में मन ऐसी अशुभ बातें सोचने लगता है, जैसी हमारे वैरी भी कभी नहीं सोचते, ऐसी ही मेरी स्थिति हो गई। नाना साहव लगातार खिड़की के बाहर मुँह निकाले, दोनों हाथों से अपना सिर मज़बूती से दावे हुए बैठे थे। दत्तू की भी स्थिति बड़ी विलक्षण हो गई थी। लोग उसे लगातार गोद में लेते, खाने के लिए देते, परंतु बात कोई न करता। यह सब देखकर मेरे हाथ-पैर जैसे गल गए।

एक दिन नाना साहव ने दो-तीन बैलगाड़ियाँ मँगवाईं और घर के सब लोगों को "पांडवों की गुफा" देखने के लिए भेज दिया। घर में सिर्फ़ नाना साहव और उनकी पत्नी भिकूताई ही रहे। इसके बाद उन्होंने जलालपुर ताँगा भेजकर केशवराव मामा को बुलवा लिया। उद्देश्य यह था कि उन तीनों को जो भी बातें करनी हों, वे मेरे कानों में न पड़ें और वे आपस में दिल खोलकर बातें कर सकें। ताँगा पहुँचते ही केशवराव नासिक आए। नाना साहव बोले—'क्यों भई, जो होना था सो तो हो चुका। अब आगे क्या करना चाहिए?'

मामा बोले—'हम दो भाई हैं। मनी को भी हम अपना तीसरा एक अपाहिज भाई ही समझ लेंगे।'

पेंडसे ने कहा—'इसे छोड़ो। उसका क्या करना है, यह हम आगे सोचेंगे। पहले हमें तिलक के बारे में सच्ची खबर मिलनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि तुम बंबई वाले साहव के घर चले जाओ और दोनों मिल-कर तिलक का पता लगाओ। यदि उन्होंने सचमुच धर्म-परिवर्तन कर लिया है, तव तो कोई सवाल ही नहीं। यदि नहीं किया है, तो यह अँगूठी लो और येन-केन-प्रकारेण उनकी जेव में या किसी जगह उनके कपड़ों में डाल दो। फिर जाकर एकदम पुलिस में रिपोर्ट कर दो। मुक़दमा यहीं चलेगा। फिर हम देख लेंगे कि क्या करना चाहिए। लो ये पच्चीस रुपए और जाओ!'

केशवराव तुरन्त चल दिए। बाला साहब नाना साहब के बड़े भाई के पुत्र थे। उन दोनों ने बंबई के सब 'मिशनों' में खोज की। अंत में पता चला कि तिलक वसई में है और वे दोनों वसई पहुँचे।

वहाँ तिलक से उनकी भेंट हुई। तिलक ने उनसे पूछा—'आप क्यों आए हैं?'

इस पर केशवराव मामा बोले—'हम तुम्हारा पता लगाने आए हैं।' तिलक बोले—'मैं ईसाई हो गया हूँ। तुम अपनी बहन को सँभालो। जलालपुर और नासिक दोनों स्थानों में गंगा है। अच्छी तरह निगरानी रखना, कहीं वह आत्म-हत्या न कर ले।'

केशवराव मामा ने कहा—'वह चाहे जिन्दा रहे या मर जाय, अब तुमसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा।'

यह कहकर दोनों भारी हृदय लेकर वसई से लौटे। लौटते समय यह देखकर कि तिलक के सिर पर चोटी नहीं है, केशवराव को सिसकी ही आ गई। उन्होंने क्रोध का बड़ा दिखावा किया था, किन्तु पहले ही से उनकी आँखों में आँसू भर आए थे। तिलक ने विदा लेते समय वे सब-के-सब टपक पड़े।

केशवराव मेरे भाई थे। मेरी भानजी धारूमाई उन्हें "मामा" कहा करती, इसलिए उन्हें घर के सभी लोग "मामा" कहने लगे थे और इसीलिए मुझे भी सब "मौसी" कहते।

केशवराव मामा बम्बई से लौटकर आए और एकदम अटारी पर भिकूताई के पास जाकर बैठ गए, जो बिस्तर पर बीमार पड़ी थी। उन्होंने उससे सारा हाल कहा। भिकूताई का गला रुँध गया। वह बोली—'अब तुम्हीं मनी से जो कहना चाहो, कह दो। मुझसे नहीं कहा जायगा।'

मैं ऊपर बुलाई गई। मन के आघात से मेरी हालत इतनी बुरी हो गई थी कि मुझसे जीना नहीं चढ़ा जाता था! छोटे बच्चे की तरह हाथ टेकती-टेकती मैं भाई-बहन के सामने जा बैठी।

भाई मुझे उपदेश देने लगे—'सीता, सावित्री, तारा, द्रौपदी आदि

कितनी ही पतिव्रताएँ हो गई हैं, जिनकी कीर्ति का डंका दिगंत में वज रहा है।'

मैंने कहा—'मैं सारे पुराण जानती हूँ। क्या तुमने मुझे उपदेश देने के लिए बुलाया है? उनका पता लगाने तुम वंवई गए थे। पहले यह बताओ कि वह जिंदा तो हैं न?'

'हाँ! जिंदा हैं। कुशल से हैं। मज़े में हैं। वहाँ वह मास्टर हो गए हैं। परन्तु···परन्तु···'

'फिर "परन्तु" क्या?'

'वह ईसाई हो गए हैं।'

'हो गए हैं, तो हो जाने दो। कहीं भी रहें, अगर कुशलपूर्वक रहें, तो मैंने सव पा लिया। वह चले गए, तो कौन मेरे माथे से वह चमड़ी निकाल-कर ले गए हैं?'

ऐसा कहकर मैं तड़ाक से उठी और जल्दी-जल्दी से ज़ीने की सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आई। लेकिन नीचे पहुँचते ही मेरे शरीर की शक्ति विलुप्त हो गई। द्वार में घर की अन्य स्त्रियाँ उत्सुकता से खड़ी थीं। उन्होंने पकड़-कर मुझे नीचे विठाया। सवको यह समाचार मेरे से पहले ही मालूम हो चुका था। वे मुझे समझाते हुए कहने लगीं—

'अगर वह चले गए, तो जाने दे। भगवान् ने तुझे सोने-जैसा वेटा दिया है! एक लाल का मूल्य पृथ्वी के मूल्य के वरावर होता है! वह कल तेरे सारे मनोरथ पूरे करेगा। जितना तूने कष्ट भोगा है, उतना ही आगे तुझे सुख मिलेगा।'

परन्तु वह सारा उपदेश 'औंधे घड़े पर पानी' की तरह था। मैं पत्थर की तरह हो गई थी। मेरी आँखों से आँसू की एक वूँद भी नहीं टपकती थी, मेरा गला वुरी तरह सूख गया था।

रात को हमारे लगभग सभी रिश्तेदार पेंडसे के घर सोने के लिए आए थे। भोजन किसी ने भी नहीं किया। वात भी कोई न करता था। जो आना चाहता, आता; जो मिलता, उसे विछा लेता और कहीं भी सो

जाता। कोई किसी से भी 'आओ' 'बैठो' 'खाओ' 'पियो' इत्यादि कुछ भी न कहता था। बँगले में बहुत-से लोग सोए थे। मैं बीच में सोई थी। मेरे एक ओर केशवराव मामा और दूसरी ओर भिकूताई सोई हुई थीं। दोनों ने मेरे बदन पर हाथ रख लिए थे। रात के करीब एक बजे नींद ने अपना जाल बुनना शुरू किया। उसमें मुझे छोड़कर बाकी सब फँस गए। मैंने दोनों तरफ़ से दोनों के हाथ अपने बदन से धीरे-से हटाकर अलग कर दिए। साड़ी का पल्ला कसकर कमर से बाँधा। दत्तू को खोजा, पर वह कहीं नहीं दिखाई दिया। फिर मैंने अपनी राह पकड़ी। सामने वाले दरवाज़े के पास आकर मैं उसका अर्गल खोलने लगी। इसी समय गश्त की पुकार कानों में पड़ी। उसे सुनते ही मेरे मन में विचार उठने लगे—'यदि ये लोग मुझे पकड़ लें, थाने में ले जाकर बिठा दें और कल तहकीकात शुरू हो जाय, तो बाहर लोगों में यह बात फैल जायगी कि यह अमुक अमुक की साली है। तब बेचारे नाना साहब को नीचा देखना पड़ेगा!' नदी के 'सुंदर नारायण के गड़हे में डूबकर जान देने का मेरा इरादा था। परन्तु उपर्युक्त विचारों से वह बदल गया और मैं घर के कुए के पास आकर खड़ी हो गई। यह कुआ बहुत ही छोटा है। फिर विचार आया—'इसमें कूदकर यदि मैं जान दूं, तो मुझे बाहर कैसे निकालेंगे? इसके अतिरिक्त, कल तहकीकात और पंचनामे के वक्त मेरे कारण नाना साहब को नीचा देखने का मौका आयगा ही।' मेरा सिर भन्ना उठा। मुझे कोई उपाय नहीं सूझता था। मैं अपने स्थान पर आकर सो गई। थोड़ी देर के बाद मैंने केशवराव मामा का हाथ इतने ज़ोर से दबाया कि वह हड़बड़ाकर जाग पड़े। उन्होंने भिकूताई को जगाया, 'भिकूताई, देखो तो, यह मनी कैसे कर रही है?' सब लोग जाग उठे। 'क्या हुआ, क्या हुआ,'—हर एक पूछने लगा। मामा ने जैसे-तैसे अपना हाथ छुड़ाया। उनका हाथ छूटते ही मुझे लगा जैसे मेरे हाथ-पाँवों की सारी शक्ति जाती रही है। मैं पूरे होश में थी। आस-पास क्या हो रहा है, यह मैं जान रही थी। परंतु मैं ज़रा भी हलचल नहीं कर सकती थी। हर व्यक्ति अपनी-अपनी तरफ़

से उपाय सूझ रहा था। मेरे दाँत भिच गए थे। कोई कहता, 'इसने ज़हर खा लिया है।' भिकूताई ने कहा—'इसके पास एक दमड़ी भी नहीं थी। यह जहर कहाँ से लाई होगी ?' किसी ने समझाया कि मैंने शायद काँच पीसकर खा लिया हो। उस वक्त, कुछ समय पहले ही, काँच के नए पीले मणि निकले थे। वहन ने मुझे और घारूमाई को नौ-नौ मणि पहनाए थे। उसने झट-से उन्हें गिनकर देखा।

वैद्य को वुलाया गया। उसे नाड़ी का पता नहीं चलता था। उसने भी यही राय दी कि इसने ज़हर खा लिया है। मेरी दाँतों की वत्तीसी खोलकर थोड़ा मुरव्वा, थोड़ी मात्रा दूध वगैरह एक के वाद एक मुझे खिलाया-पिलाया जाने लगा। मैं सब समझती थी, परंतु किसी लकड़ी के लट्ठे की तरह मैं हो गई थी। मेरी जीभ जैसे भीतर को खिंची जा रही थी और उस पर काँटे निकल आए थे। वे काँटे आगे महीने-भर तक नहीं मिटे। भिकूताई की वीमारी भाग गई। उसने अपना विस्तर लपेटा। मेरे पास खड़ी रहकर वह रात-दिन काटने लगी। उसे मेरा सभी काम करना पड़ता। मैं सिर्फ़ पड़ी रहती। मेरे दाँत भी उसको साफ करने पड़ते। वार-वार मुझे दूध और छाछ पिलानी पड़ती ।

वहुत दिनों के वाद मेरे शरीर में थोड़ी-सी शक्ति आई। मैं विस्तर में उठकर वैठने लगी। अव मेरी आँखों से स्रोत फूट पड़ा। मेरी आँखों से लगातार आँसू वहते रहते। आँसू रुकते न थे। नींद में जितने रुकते हों, उतने ही रुकते थे। मैं किसी से कुछ न वोलती।

एक दिन मैं उसी वाड़े में रहने वाले एक पड़ोसी के घर जाकर रोने लगी। दत्तू अपना वहुत-सा समय मौसी के पास विताया करता। परंतु उस समय मुझे दूसरे के घर में वैठी देखकर वह मेरे पास आया, उसने मेरा हाथ पकड़कर मुझे वहाँ से उठाया और देवगृह में ले जाकर विठा दिया। वहाँ विठा देने के वाद वह मुझसे वोला—'माँ, तुम मामा और मौसी के घर में रोया करो। दूसरों के घरों में जाकर न रोया करो। तुम क्या चाहती हो मुझे वताओ। क्या घारूमाई की तरह तुम्हें भी वहुत-से

गहने चाहिएँ, क्या तुम मौसी-जैसी हँसली और बाजू चाहती हो या तुम्हें बड़ी किनारी वाली साड़ी चाहिए ? बताओ। पर इस तरह व्यर्थ ही रोओ मत।'

भिकूताई नज़दीक ही थी। उसने दत्तू को खींचकर अपने हृदय से चिपका लिया और रोते-रोते मुझसे कहा—'थोड़ी अक्ल सीख इससे।' पर मुझे दत्तू के ये सुख के शब्द सुनकर दुःख की और भी अधिक सिसकियाँ आने लगीं।

उसी गरमी में तिलक पहली बार महाबलेश्वर गए। महाबलेश्वर में तिलक ने प्रथम बार ही फूलों और बच्चों पर अपनी प्रसिद्ध कविताएँ लिखनी शुरू कीं। अहमदनगर के रेवरेंड डॉक्टर ह्यूम ने उन्हें करीब-करीब अपने घर ही में रख लिया था। वहाँ डॉ० ह्यूम के बच्चे, उनके साले के बच्चे और महाबलेश्वर में हर तरफ़ फूलने वाले वनपुष्प थे ! तिलक की वृत्ति भी उस प्रकार की कविताएँ लिखने के लिए अत्यन्त अनुकूल थी। इस सब तरह के आनंदमय वातावरण में उनका तपेदिक़ बात-की-बात में भाग गया। महाबलेश्वर छोड़ने के बाद तिलक अहमदनगर में इन्हीं डाक्टर ह्यूम के मातहत नगर की "ईश्वर विद्या की शाला" में पढ़ने लगे और एक ओर वहाँ के विद्यार्थियों को कुछ विषय भी पढ़ाने लगे।

पेंडसे की बदली पंढरपुर को हो गई। वहीं सखाराम लाला थे। पेंडसे के साथ मैं भी पंढरपुर गई। परंतु मेरा वही हाल था। आँखों के आँसू नहीं थमते थे और मुँह से शब्द नहीं निकलता था। मेरा सब काम भिकूताई और उसकी जेठानी को करना पड़ता। भिकूताई की यह जेठानी बाल-विधवा थी। दत्तू उससे बहुत प्यार करता। उसकी साड़ी के कारण वह उसे "लाल मौसी" कहता। उसने अपनी प्रत्येक मौसी को ऐसे ही नाम दे रखे थे। "बौनी मौसी", "धोती मौसी", "लाल मौसी" आदि इस तरह के नाम रहते और हर एक अपना-अपना नाम सुनकर दत्तू की प्यार-भरी सराहना करती।

पंढरपुर पहुँचते ही भिकूताई ने दत्तू के लिए एक शिक्षक रखा। वह

सोचती थी कि यह लड़का पढ़कर होशियार हो जाय, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। फिर मुझे वहन की कोई चिन्ता नहीं। पढ़ाई के लिए वह निरंतर दत्तू के पीछे लगी रहती। नाना साहव कहते—'क्यों उसके पीछे पड़ती हो ? खेलने दो उसे। क्या उसकी उम्र चली गई ? पढ़ेगा वह धीरे-धीरे !' परंतु भिकूताई ने अपना हठ कभी न छोड़ा।

पेंडसे दत्तू को वड़ा लाड़-प्यार करते। उसे छोड़कर वह कभी कुछ न खाते। परंतु भिकूताई चाहती कि नाना साहव के नाश्ते के वक्त दत्तू वहाँ न रहे। नाश्ते का वक्त होने पर वह कहती—'दत्तू अव नाश्ते का वक्त हो गया।' तव दत्तू कहता—'मौसी मैं वाहर जाकर खेलता हूँ।' परंतु यह सूचना देने में और यह उत्तर सुनकर, भिकूताई को वड़ा दुःख होता। वह चाहती थी दत्तू नाना साहव को कोई कष्ट दे, इससे अच्छा तो यही है कि नाना साहव ही उसे बुलावें। लेकिन नाना साहव ने एक दिन भी दत्तू के विना नाश्ता न किया। वह उसे तिलक कहा करते। दफ़्तर से लौटते ही वह उसकी खोज करते। 'तिलक कहाँ है ? उसे बुलाओ नाश्ते के लिए। तिलक, ए तिलक, यह ले लड्डू।' और फिर तिलक के आने पर दोनों नाश्ता करते। यह रोज़ का कार्यक्रम निश्चित था। रोज़ नाश्ते के लिए क्या बनाया जाय, इस विषय में लाल मौसी पहले दत्तू की राय लेती और उसकी राय ही से नाश्ता तैयार होता।

पर, मैं विस्तर पर पड़ी रहती। खाना भी मुझे जवरदस्ती खिलाया जाता। आगे चलकर मैं साड़ियाँ फाड़ने लगी। भिकूताई ने समझा कि अव मैं अवश्य पागल हो जाऊँगी। वह सोचती—तो इससे इसका मरना अच्छा! मेरे वाद इस पगली को कौन सँभालेगा ? मेरी इस स्थिति का तिलक को पता चला। उनका तार आया। अभी तक उनकी ओर से एक पत्र तक नहीं आया था। तार के वाद पत्र आया और उसमें उन्होंने अपने पते के लिफाफे भी भेज दिए। मैंने वड़ी चोरी से उन्हें पत्र भेजा। मुझे पत्र भेजने की इजाजत न थी। मेरे पत्र में कविता के सिवा और कुछ न रहता। इस पत्र में जो कविता भेजी थी, उसकी तीन पंक्तियाँ मुझे याद आती हैं:—

सखि रात्रंदिन छळित मला सवत कल्पना
आशा ही वहिण खरी रंजवी मना
चिंता परि दासि तिची करित वल्गना[1]

कविता-रचना के अपने इस नए कार्य से मुझे ज़रा अच्छा लगने लगा। परंतु, कविता मैं ही लिखती हूँ या मेरे लिए कोई दूसरा लिख देता है, तिलक को यह संदेह होता।

सखाराम लाला पंढरपुर ही में थे। वह रोज़ मुझसे मिलने आते। ऐसी एक अफ़वाह फैली थी कि लाला तिलक को खर्च के लिए हर मास सौ रुपए भेजते हैं। तिलक यद्यपि ईसाई हो गए थे और भिकूताई उन पर नाराज़ थी, फिर भी उन पर उसे गर्व था। यह अफ़वाह उसके कानों में पड़ते ही वह लाला पर बहुत नाराज़ हुई। एक दिन लाला आए, तब नाना साहब भोजन कर रहे थे। लाला के बैठने के लिए वहीं पीढ़ा बिछा दिया गया। वह बैठ गए। भिकूताई उनके सामने आकर खड़ी हो गई और बोली—'क्यों जी, तुम्हारे भाई ने बगल में किसबत कब से लटकाई है?'

लाला भिकूताई की बात और उसके अभिनय का मतलब न समझ पाए। वह बोले—

'तुम क्या कहती हो, यह मैं समझ नहीं पाता।'

'कैसे समझ पाओगे? उधर भाई को सौ रुपया महीना भेज रहे हो, और इधर भौजाई की साड़ियाँ फट गई हैं, यह तुम्हें नहीं दिखाई देता?'

लाला भिकूताई की सब बातें गरदन झुकाए चुपचाप सुन रहे थे। दूसरे दिन उन्होंने मेरे लिए एक साड़ी और दत्तू के लिए दो कुरते भेजे।

एक दिन सखाराम लाला मेरे पास आकर बैठ गए। इधर-उधर की बहुत-सी बातें होने पर उन्होंने धीरे से तिलक की बात छेड़ी। मैं पड़ी-पड़ी हो 'हूँ हूँ' कर रही थी। लाला बोले—'भाभी, तुम बीमार हो।

---

१. रात-दिन बुरे विचार मुझे तंग करते हैं। आशा जरूर मेरी सखा है और मेरे मन का रंजन करती है। परन्तु उसकी दासी चिंता मुझसे बकवाद करती है।

कितने लोग तुम्हारी सेवा में लगे हैं ? इस तरह नाना की भी वहाँ क्या कोई सेवा कर रहा होगा; वताओ ? तुम उन्हें तलाक दे दो, जिससे वह स्वतंत्र हो जायँ। तुम्हारी चिन्ता करने वाले लोग हैं।"

यह वात सुनते ही 'और उनकी चिन्ता करने वाली क्या कोई न थी ?' कहकर मैं तेजी से उठकर बैठ गई, अव कहाँ वह वँधे हुए हैं ? तलाक किस वात का दूं ? मैं क्या भाग गई ? जिस तरह उनका कोई नहीं, उसी तरह मेरा भी कोई नहीं। मेरे पास धन नहीं, विद्या नहीं, वच्चा छोटा है। मैं क्या करूँगी ? आखिर तुम सव लोगों के घर के वर्तन ही तो माँजूंगी न ? तुम अपनी शिष्टता रहने दो। उन्हें पत्र भेजो। लिखो कि पहले आकर अपनी पत्नी का विवाह ठीक से करा जाओ, फिर स्वयं अपना विवाह करना। क्या तुम्हें कुछ भी खयाल नहीं कि तुम किससे वातें कर रहे हो ?'

मैं वोलते-वोलते खड़ी हो गई। लाला चुपचाप गर्दन लटकाए सब सुनते रहे।

तिलक के मुझे रोज़ पत्र आते। कभी-कभी तीन-तीन पत्र आते। मैं एकाध पत्र लिखती, तो उसमें कविता होती। मुझे उनसे न कुछ माँगना था और न मुझे उनसे कुछ कहना था। एक दिन तिलक ने पेंडसे को तार भेजा—'मिलने आ रहा हूँ।' पेंडसे ने तार ही से जवाव भेजा—'मेरे घर न आइए।'

उस दिन ठीक नासिक-जैसी स्थिति हो गई। किसी के पेट में अन्न नहीं, आँखों में नींद नहीं। कोई किसी से वात न करता। मैं यह कुछ भी नहीं जानती थी।

सुवह आठ वजे तिलक पंढरपुर आए। दोपहर के लगभग दो वज गए, फिर भी पेंडसे का कोई जवाव नहीं मिला। यह देखकर कि मेरे इतने पत्र भेजने पर भी उनका एक भी उत्तर नहीं आया, तिलक वहुत नाराज़ हुए। उन्होंने अंत में पत्र भेजा—'मुझे पता चला है कि मेरी पत्नी अस्वस्थ है, इसलिए मैं खासतौर पर उससे मिलने आया था। यहाँ आने के वाद मैंने आपको तीन-चार औपचारिक पत्र भेजे। उनका आपने जवाव नहीं

दिया। दुःख होता है। मैं उससे बिना मिले हरगिज़ नहीं जाऊँगा। मैं आपकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं करना चाहता। फिर भी कल अदालत में मैं उससे मिलूँगा।'

पत्र आ पहुँचा। इस पर क्या रास्ता निकाला जाय, इस विषय पर नाना साहब ने भिकूताई को बुलाकर, उससे सलाह ली। वह बोली—'जो ठीक हो और ठीक दिखाई दे, वही करना चाहिए। मैं कौन कानून जानती हूँ? परन्तु मैं समझती हूँ कि कल जो हमारी इज्जत की धज्जियाँ उड़ेंगी, उससे तो यह बेहतर है कि आज ही मनू को ले जाकर उनसे मिला दो और वापस ले आओ। फिर तिलक लौट जायँगे।'

'तुम मनू की बिलकुल फ़िक्र न करो। मैं उनके साथ उसे हरगिज़ नहीं जाने दूँगा। उसे उनसे मिलने भेजूँगा। उसके साथ भाभी जायगी। उसके साथ दो चपरासी भी भेजूँगा।'

नाना साहब ने तिलक को पत्र लिखा—'रात को नौ के बाद मनू को तुमसे मिलने भेज रहा हूँ। तुम्हें वक्त हो तो रुको, वरना मैं लाचार हूँ।'

मुझे सिर्फ़ इतना ही मालूम था कि तिलक पंढरपुर आए हैं। बीच के इस झमेले का मुझे कोई पता न था। नाना साहब और भिकूताई बाहर के बैठकखाने में बैठे बातें कर रहे थे और मैं अपने नित्य के कार्य-क्रम के अनुसार बिस्तर पर पड़ी थी। इसी समय आठ-नौ साल की पेंडसे की नातिन आई और उसने मुझे यह संदेशा दिया कि नाना साहब मुझे बाहर बुला रहे हैं। मैं वहाँ जाकर उन दोनों के सामने बैठ गई। पेंडसे ने कहा—'मौसी, क्या तुम तिलक से मिलना चाहती हो?' मेरे 'हाँ' कहते ही वह बोले, 'तो फिर मेरे पैरों पर हाथ रखो और कसम खाओ कि तुम उनके साथ नहीं जाओगी।' मैंने उनके पैरों पर हाथ रखकर कहा—'मैं तिलक के साथ नहीं जाऊँगी।' मैं तुरन्त भीतर गई। भिकूताई मेरे पीछे-पीछे आई। उसकी बकवास जारी थी—'देखो, कितने लाड-प्यार से मैंने बहन को मिलने के लिए बुलवाया और अब यह मुकदमे-मामले का अवसर आ

गया !' यह सुनकर मेरे मन की बड़ी विचित्र स्थिति हो गई। मैं क्या कर रही थी, यह स्वयं मैं ही नहीं समझ पाती थी। परंतु आज तो मुझ पर चलने की जैसे सनक ही सवार हो गई थी। अटारी से बीच का कमरा, वहाँ से पटाव, पटाव से बिस्तर, फिर अटारी, इस तरह मैं लगातार घूमने लगी। यह देखकर भिकूताई को अत्यन्त दुःख हुआ। वह बोली—'अरी, यह पगली-जैसी क्या कर रही है ? हो जा पगली और कर डाल उस सोने जैसे लड़के की पूरी दुर्दशा ! पति ने जलाए दिए और अब तू जला मशाल ! बस फिर सब समाप्त हो जायगा !'

मुझे उसकी सारी बातें सुनाई पड़ीं और वे सब समझ में भी आईं। परन्तु मेरा यह क्रम शाम तक उसी तरह चलता रहा। मैं ऐसा क्यों कर रही थी, इसे स्वयं मैं नहीं समझ पाती थी। शाम हो गई। सबके खाने का वक्त हो गया। मुझे मिलने को भेजेंगे या नहीं, यह आशंका बार-बार हो रही थी। ताँगा, घोड़ा, नौकर—इन सबकी ओर मेरा निरंतर ध्यान लगा था। मैं किसी से बात नहीं कर सकती थी, क्योंकि सभीका मुझ पर पहरा था। चपरासी, नौकर, नौकरानी, पानी-पाँडे, रसोइया, माई, बाई, येसू और पेंडसे—इन नवग्रहों ने मुझे घेर रखा था। इतने कड़े पहरे में मैं थोड़ा भी इधर-से-उधर न हो पाती थी। क्या करती हो, क्या खाती हो, कहाँ जाती हो, क्या लिखती हो—ये हरएक के मुँह के शब्द लगातार मेरे पीछे लगे हुए थे। पिछवाड़े जाना होता, तो भी कोई-न-कोई मेरे साथ रहता ही था।

नौ का घंटा बजते ही मेरे हृदय की धड़कन का वेग बढ़ गया। यह शक होने लगा और वह बढ़ने लगा कि तिलक से मुलाकात होती है या नहीं। मेरी सारी दृष्टि नीचे आँगन की ओर गड़ गई थी। इसी समय ताँगा जुता हुआ दिखाई दिया। बाई ने शाल ओढ़ा और मेरे कानों में पुकार पड़ी—'मौसी !' पुकार सुनते ही मैं झट बाहर निकली। मुझे देखते ही पेंडसे ने कहा—'मनू, मैंने क्या कहा है ? ध्यान में है न ? देख, नहीं तो मैं तुम दोनों के पीछे पुलिस लगवा दूँगा। मैं कौन हूँ, जानती हो न ? मैंने सिर्फ़

गर्दन के इशारे ही से 'हाँ' कहा। नाना साहब की बात समाप्त होने पर भिकूताई आगे बढ़ी। उसका आक्रमण दूसरे मोरचे पर था। वह बोली—'मनी, इस बालक पर दया करना।' उसे भी मैंने गर्दन के इशारे ही से उत्तर दिया। आगे क्या विपत्ति आने वाली है, इस सम्बन्ध में मन सशंक था और छाती में धड़कन थी। हाथ-पाँव थर-थर काँप रहे थे। जीभ सूख गई थी। पानी केवल आँखों ही में बचा था और उसका प्रभाव बीच-बीच में आँचल को महसूस हो रहा था। सीढ़ियाँ उतरकर मैं जैसे-तैसे नीचे आई। आगे मुझे उठाकर ताँगे में बैठाया गया। दो चपरासी, ताँगे वाला, मैं, बाई—हम पाँच लोग पंचमुखी परमेश्वर की प्रार्थना करते हुए चल पड़े। तिलक अपनी घड़ी देखते हुए धर्मशाला के द्वार पर खड़े थे। ताँगा देखते ही वह भीतर गए। मुझे दो आदमियों ने उठाकर भीतर उनके सामने ले जाकर बिठा दिया। वह खड़े ही थे। उन्हें देखते ही मैंने उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया।

'मैंने आपका ऐसा कौन-सा अपराध किया था, जिससे आप यह उत्पात कर बैठे? यह मुझे बताइए! तब मैं आपके चरण छोड़ूँगी।'

'तुमने मेरा कभी कोई अपराध नहीं किया।' यह कहकर उन्होंने अपने पैर छुड़ा लिए।

बस! हमारी इतनी ही बातें हुईं। तिलक खंभे से टिके हुए खड़े थे। हम दोनों से आगे कुछ भी न बोला जा रहा था। इसी समय बाई ने कहा—'मनू, चलो अब। दत्तू राह देख रहा होगा। बहुत देर हो गई।' मैं तुरंत निकल पड़ी। नौकर ने मुझे उठाकर फिर ताँगे में बिठा दिया। तिलक बाहर खड़े हुए तब तक देखते रहे, जब तक ताँगा दृष्टि से ओझल न हो गया।

इधर नाना साहब और भिकूताई का कलेजा धक-धक कर रहा था। ताँगे के घर पहुँचते ही नाना साहब दौड़ते हुए ताँगे के पास आए और पूछने लगे 'क्या हुआ'। बाई ने, जो हुआ था, वह सब उन्हें कह सुनाया। इस पर उन्हें बड़ी खुशी हुई। दत्तू सोया था। उसके पास बैठकर उसके

शरीर पर हाथ फेरती हुई भिकूताई वोली—'वेटा अव तेरी माँ को को ईश्वर सुवुद्धि दे।'

उस रात सव लोग शान्ति से सोए। तिलक ने अलवत्ता मेरी यह हालत देखकर सारी रात वेचैनी में गुज़ारी। तिलक वापिस जा रहे थे, इसलिए, दूसरे दिन लाला जी उनसे मिलने गए। तिलक ने उनसे कहा—'मैं अभी नहीं जा रहा हूँ। वह जव कुछ स्वस्थ हो जायगी, तव जाऊँगा।' लाला जी ने यह समाचार नाना साहव से कहा। वह वोले—'मैं नाना के लिए खाना भेजूंगा, पर वहाँ तक उसे पहुँचाने के लिए आप अपना नौकर दें।' पेंडसे वोले—'यह नहीं हो सकता। हमीं खाना भेजेंगे।'

दोपहर को तिलक के लिए डिव्वे में खाना रखते समय भिकूताई की आँखों से गंगा-यमुना वहने लगीं। जिन्हें अपने हाथों से अपने घर में प्रेम-पूर्वक भोजन परोसा था, उन्हें अव दूसरे के हाथ से भोजन भेजना पड़ रहा है और वह भी धर्मशाला में, इससे उसे दुःख हुआ रहा था। उसे लगा कि इससे तो मेरे कोई वहन ही न होती, तो अच्छा था! तिलक को पहले खाना भेजकर फिर घर के लोग खाने के लिए वैठे। वे सव लोग एक साथ वैठे और रसोइया परोसने लगा। नाना साहव से खाया नहीं जाता था। वह वोले—'मुझे वड़ा अजीव-सा लग रहा है।' उनकी आँखें आँसुओं से भर आईं। वह वोले—'हमारे घर में मुसलमान चपरासी रहता है। वह हमारे घर भोजन करता है। वे लोग जो चाहते हैं, वह खाते हैं। फिर तिलक ही क्यों धर्मशाला में खाना खायँ?'

'परंतु, लोग क्या कहेंगे?'

'लोग क्या कहेंगे? मुझे किसी को अपनी वेटी नहीं व्याहनी है, और न किसी की वेटी अपने घर में लानी है। एक लड़की थी, सो दे डाली है। मैं तिलक को घर में लाऊँगा! फिर दुनिया मुझसे चाहे जो कहती रहे, मुझे उसकी परवाह नहीं?'

भोजन समाप्त हुआ। इसके वाद ताँगा जुतवाकर नाना साहव ने चपरासी से कल के स्थान पर जाकर वहाँ ठहरे हुए मेहमान को घर ले

आने के लिए कहा। ताँगे के चले जाने पर नाना साहव लगातार रास्ते की तरफ आँख लगाए वैठे रहे। कव तिलक को देखें—यही उत्सुकता उन्हें थी।

ताँगा लौटा। घर के सव लोग द्वार पर आकर इकट्ठे हो गए। तिलक ने दत्तू को उठा लिया। परंतु, दत्तू ने तिलक को पहचाना नहीं। उनके स्वास्थ्य में वहुत फ़र्क हो गया था। वह नाना साहव के पास भागा और अंत में अपनी लाल मौसी का उसने अश्रय लिया। नाना साहव ने उससे कहा—'अरे तिलक, अपने लिए चाय तैयार करने को कह दे।' दो कप चाय आई। तिलक और नाना साहव चाय पीने लगे। भिकूताई आ वैठी।

'तिलक, अव मैं तुमसे पहले-जैसी डरूँगी नहीं। अव तुम मुझ पर चाहे जितनी कविताएँ वनाओ और छपवाओ। मैं अव तुमसे लड़ूँगी।'

पेंडसे ने कहा—'अजी यह क्या कह रही हो? आज यही हमें अदालत दिखाने वाले थे! अव क्या हमीं उनसे लड़ेंगे?'

'यह मैं कुछ नहीं जानती। अदालत में लड़ा करते हैं पुरुप। क्यों जी तिलक, मेरा ऐसा कौन-सा अपराध था, जो मैं तुम्हारी पत्नी को अपनी भेंट के लिए यहाँ लाई और तुम यह कर वैठे?'

तिलक ने कहा—'भिकूताई, तुम मुझसे चाहे जो कहो। मैं तुम पर न कविता लिखूँगा और और न उसे छपाऊंगा ही।'

'मनू, चलती हो न तिलक से मिलने अदालत में?'

मैं द्वार की ओट में खड़ी होकर सव सुन रही थी। तिलक के आने के वाद से मेरा स्वास्थ्य काफ़ी सुधर गया था। फिर भी मेरे आँसू नहीं रुके थे।'

नाना साहव वहीं तहसीलदार थे। उनसे मिलने वहुत-से लोग आया करते और उन सवकी गप्पें रात के दस वजे तक चलती रहतीं। इन्हीं लोगों में पाठशाला के एक हेड मास्टर थे। नाना साहव ने उन सव लोगों का तिलक से परिचय कराया। मेरे पत्रों को तिलक अपने साथ ले आए

थे। उनमें लिखी गई कविताओं की रचना कौन करता है इसकी उन्होंने कसकर जाँच की। अंत में यह विश्वास हो जाने पर कि वे कविताएँ मैंने ही लिखी हैं, उन्हें बड़ी खुशी हुई। उनमें से बहुत-सी कविताओं को सुधार-कर, उन्होंने छपने के लिए भेज दिया।

तिलक बाहर भोजन करने बैठे। बाकी लोग भीतर बैठते। सखाराम लाला प्रायः रोज़ इस समय आ जाते। एक दिन भिकूताई ने कहा—'क्यों जी सखाराम पंत, क्या तुम्हारे भाई को जाति में वापस नहीं लिया जा सकता?'

पेंडसे बोले—'क्यों नहीं लिये जा सकते! प्रयत्न और रुपया होने पर हो सकता है।'

'तो मैं अपने सारे जेवर देती हूँ। मेरी यदि चार बहनें होतीं, तो क्या मैं उनके विवाह में खर्च न करती? मैं यही समझूँगी कि मैंने अपनी चार बहनों के ब्याह कर दिए। बोलो सखाराम पंत, तुम कितना दोगे?'

'मैं एक हज़ार रुपए दूँगा।'

'बाकी जो लगेगा, वह मैं दे दूँगा।'—पेंडसे बोले।

इसी समय हमें यह जान पड़ा कि बाहर तिलक से कोई बड़ी ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहा है। पेंडसे ने कहा—'पंत, ज़रा बाहर जाकर देखो तो, यह कौन बोल रहा है?' लाला देखकर आए। बाहर हेडमास्टर आए थे और तिलक तथा उनमें वाद-विवाद हो रहा था।

'अजी मास्टर साहब, वाह अच्छे आए! बाहर क्या है? भीतर आओ न! या उनके साथ जाने का इरादा है?'

मास्टर साहब के भीतर आने पर, हाल ही में जो विषय छिड़ा था, उसके बारे में उनकी सलाह ली गई। वह बोले—'तिलक को इसका ज़रा भी पता न चलने दो। कल पहले हम एक सभा बुलायँगे। फिर इस विषय का सभा में ऊहापोह हो जाने पर आगे क्या किया जाय, यह निश्चित करेंगे।'

उस रात मास्टर की आँखों में नींद कहाँ? सभा में किस-किसको

बुलाया जाय, विषय किस तरह उपस्थित किया जाय, लोग क्या कहेंगे इत्यादि असंख्य विचारों ने उनके मस्तिष्क में कुहराम मचा दिया था। भिकूताई को भी मारे खुशी के उस रात नींद नहीं आई। सोचती कि जहाँ यह मनी अपने घर-द्वार में ठीक से चली गई कि मैं कृतार्थ हो जाऊँगी। जेवरों की छाया में थोड़े ही बैठना है? और जैसे सभी बातें उसके मन के अनुसार हो ही रही हों—ऐसे सुख के सपने उसने खुली आँखों से सारी रात उस दिन देखे।

दत्तू और तिलक दोनों को बड़ी गहरी नींद आ रही थी। दत्तू आजकल अपने नाना के साथ सोता था। वह उसे कितनी ही कहानियाँ सुनाते और कहते-सुनते दोनों सो जाते।

दूसरे दिन मास्टर साहब लाला जी को साथ लिये हुए नाना साहब के घर आए। शाम को शहर के कुछ प्रतिष्ठित लोगों की सभा बुलाकर उसमें मास्टर साहब का धर्म-परिवर्तन पर भाषण निश्चित हुआ था। नाना साहब बोले—'मेरी तुम्हारे साथ पूर्ण सहानुभूति है। परंतु हाँ, यह किसी से न कहना कि इसमें मेरा सहयोग है।' जैसा निश्चित हुआ था, उसी तरह उस दिन सभा बुलाई गई। मास्टर साहब का बड़ा ही प्रभावशाली व्याख्यान हुआ। अपनी भाषा-शैली और विषय के प्रति लगन के कारण उन्होंने बहुत-से लोग अपने पक्ष में कर लिए। व्याख्यान के बाद उन्होंने बहुत-से लोगों के हस्ताक्षर प्राप्त करके दूसरे दिन अपने मित्रों के साथ आने को कहकर सभा का विसर्जन किया। बाद में वह नाना साहब के पास आए। तीन दिन इस प्रकार भाषण देने और हस्ताक्षर प्राप्त करने का उनका क्रम चलता रहा। आगे चलकर उस काम की जिम्मेदारी नागरिकों तथा नगर के मुखियों ने अपने ऊपर ले ली। आठ दिन तक उनकी सभाएँ होती रहीं। प्रत्येक सभा में मास्टर साहब उपस्थित रहते और सभा का पूरा वृत्तान्त हमारे घर पहुँचता। सबको धीरज बँधने लगा। परंतु वे जो शास्त्राधार चाहते थे, वे उन्हें नहीं मिलते थे। इधर नाना साहब और उनके साथ भिकूताई धीरे-धीरे तिलक का मन टटोलकर देख रहे थे।

तिलक ने कहा—'भिकूताई, क्यों यह खर्च कर रही हो ? मान लो, तुमने खर्च किया और मैं फिर चला गया तो ?'

'तो क्या ? हम सारा खर्च वसूल कर लेंगे।'

परंतु, तिलक आगे कुछ नहीं वोले। मेरा स्वास्थ्य हाल ही में कुछ सुधरा था और मैं वोलने और चलने लगी थी। शायद उन्होंने यह सोचा हो कि मेरी वीमारी के और वढ़ने का कोई कारण उपस्थित न हो जाय। वह आगे चुप ही रहे।

शास्त्राधार नहीं मिलता था। इसलिए नाना साहव तिलक के पीछे पड़ गए कि अव तुम्हीं उचित शास्त्राधार खोज दो और तिलक ने वह खोज दिया। शास्त्राधार तो मिल गया, पर अव एक और कठिनाई उपस्थित हो गई। ब्राह्मणों ने कहा कि अव तिलक को आकर अपनी भूल स्वीकार करके हमारे पैर पड़ना चाहिए। तिलक इसके लिए किसी भी तरह राजी न होते थे। मास्टर साहब बहुत गिड़गिड़ाए, परंतु तिलक का निश्चय नहीं डिगा। अंत में मास्टर स्वयं गए और तिलक की तरफ से उन्होंने सवसे क्षमा माँगी तथा उन्हें साष्टांग-नमस्कार किया। अव उस कागज को और दो क्षेत्रों में घूमकर अंत में जगद्गुरू शंकराचार्य के पास जाना था और उसके वाद तिलक की शुद्धि का निश्चय हुआ था। इसी समय पंढरपुर का हकदार हैजे अपने वगीचे की सफाई करने के लिए आया और वृद्ध, तरुण, वालक आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों को अपने स्थानों से जल्द-जल्द उखाड़ने लगा।

जहाँ नाना साहव रहते थे, वहीं एक 'केस' हो गया। एक नौजवान यात्री की देखते-देखते मृत्यु हो गई।

तिलक को यह पगडंडी मिल गई। नाना साहव भोले थे। उनसे तिलक कहने लगे—'इस नौजवान की तरह यदि मेरी भी यही दशा हो गई, तो आप क्या करेंगे ? लोग आपको कितना तंग करेंगे ? इससे तो अच्छा यह है कि अव मुझे जाने की इजाजत दीजिए। शंकराचार्य से उत्तर आने में अभी देर है। तव तक यहाँ का हैजा कुछ कम हो जायगा और फिर

देखेंगे कि आगे क्या करना है !'

पेंडसे ने उन्हें अनुमति दे दी। किराया दिया और उन्हें बंबई के लिए रवाना कर दिया।

तिलक का जाना इस वार किसी को अधिक बुरा न लगा। हर एक का यही खयाल था कि वे जरूर वापिस आयेंगे। मैं भी अब खूब स्वस्थ हो गई थी।

तिलक के जाने के वाद दत्तू वहुत बीमार हो गया। हम लोगों के वणी में रहते समय तिलक के पुरोहित की माँ ने मन्नत की थी कि पाँचवें वर्ष सप्तशृंग के किले पर जाकर उसका मुंडन करेंगे। भिकूताई ने उस मन्नत को वहाँ जाकर पूरा करने का निश्चय किया। उसने जलालपुर मेरे भाई को पत्र लिखा कि पच्चीस लोगों का सीधा (भोजन-सामग्री) लेकर आओ। तुम्हारा सीधा और अपने रुपए दोनों को मिलाकर हम यह मन्नत पूरी करेंगे। मैं वणी न गई। इन लोगों के जाने के वाद एक दिन वकील के जरिए मुझे तिलक का नोटिस मिला कि लड़के पर मेरा अधिकार है। इतने दिनों के भीतर यदि लड़के को लाकर मेरे सुपुर्द न किया, तो मुझे नालिश करके अदालत के जरिए उसे प्राप्त करना होगा। अव तिलक ने हथियार उठा लिया था। रोज मेरे पास पत्र आते। लड़के को भेज दो अथवा उसे लेकर मेरे पास आओ। सब मुझे सलाह देते कि मैं उत्तर ही न दूं। कोई कहता कि मैं पत्र ही न लूं और न उसे पढ़ूं। नासिक में रहते समय मेरे दूर के कुछ रिश्तेदारों ने मुझसे कहा था कि यदि मैं तिलक के पास गई, तो वह मेरा किसी दूसरे के साथ विवाह कर देंगे और मुझसे भंगी का काम करायेंगे। गोश्त भी पकवायँगे। एक तो यह भय दिखाया गया था और फिर तिलक के बारे में मेरे पहले अनुभव थे! उनके पास गई और वहाँ कहीं मुसलमान हो गए, तो? अभी कम-से-कम रिश्तेदार तो पूछते हैं, फिर तो वे भी नहीं पूछेंगे। जिनके पति मर जाते हैं, वे कहती हैं कि यदि हमारे पति ज़िंदा होते, तो हम उन्हें कम-से-कम आँखें भरकर देखतीं तो। और मैं उन्हें पत्र का उत्तर भी न दूं? फिर मेरे मन में ज्वार

आया। मैं विठोबा के मंदिर में घंटों जाकर रोती। मैं वहाँ सबसे परिचित हो गई थी। कुछ स्त्रियाँ सलाह देतीं—'क्यों रोती हो? मजे में खाओ-पियो। और भाई-बहन के पास ऐसे कितने दिन रहोगी? मज़दूरी करो, लोगों की पल्ली पीसो या भोजनालय चलाओ, परंतु स्वतंत्र रहो।' मैं सब चुपचाप सुन लेती। एक-दो से मैंने कहा—'मज़दूरी लेकर किसी दूसरे के घर का पिसान पीसने से तो अपने संबंधियों के घर रहकर उनका काम कर देने ही में मुझे अधिक अच्छा लगता है। बाहर के लोगों की जूठन समेटने की अपेक्षा अपने प्रिय भाई-बहनों की जूठन मैं बड़ी खुशी से समेटूँगी। बाहर के लोगों की चापलूसी करने के बदले अपने तीन मालिकों की—भाई, बहन और देवर ही की चापलूसी मैं करूँगी। अगर उनसे मेरी न पटी, तो मैं अपने चौथे मालिक के पास चली जाऊँगी।' मेरे इस उत्तर को सुनकर फिर आगे किसी ने मुझे ऐसा उपदेश न दिया।

जब भिकूताई दत्तू को लेकर वणी से पंढरपुर वापिस आई, तब उसे यह हाल मालूम हुआ। उसे बहुत ही बुरा लगा। 'कैसे यह सर्प की तरह उलट पड़ा' इत्यादि वह कहने लगी। इधर रोज तिलक के पत्र आ ही रहे थे। वे पत्र क्रोध-भरे होते, प्रेम-भरे होते, कष्ट-भरे होते। कभी वह लिखते कि एकदम चली आओ, कभी लिखते कि तुम्हें मेरी परवाह नहीं है। किसी पत्र में वह लिखते—मैं दूसरा विवाह करना चाहता हूँ। मुझे तलाक़ दे दो। वह चाहते कि मैं अपने रिश्तेदारों से सारे नाते तोड़कर तुरंत उनके पास चली जाऊँ। अंत में डा० अॅबट और तिलक दोनों में काफी बातचीत हुई। उस समय तिलक बंबई मिशन हाई स्कूल में अध्यापक थे और अॅबट साहब भी वहीं बंबई ही में थे। अॅबट साहब ने उनसे कहा—'देखिए मिस्टर तिलक, सारी परिस्थिति से यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि लक्ष्मीबाई का आपके प्रति अत्यन्त प्रेम है। आप क्रोध-भरे पत्र न भेजकर सौम्य रीति से उनका मन फेरिए। चलिए, मैं भी चलता हूँ आपके साथ। तिलक ने यही करने का निश्चय किया। उनका प्रार्थना पर बड़ा विश्वास था और प्रार्थना

करके इस विषय में उन्होंने परमेश्वर की सहायता लेने का निश्चय किया।

तिलक की १८६८ की डायरी के जनवरी, अप्रैल और मई के कुछ पृष्ठ अस्तित्व में है। उनमें सब कविताएँ ही हैं। कविताओं से यह पता चलता है कि उस समय उनकी मनःस्थिति कैसी थी।

पंढरपुर में बाद में शीघ्र ही तार आया कि तिलक आ रहे हैं।

मास्टर साहब के सारे प्रयत्नों पर तिलक ने पानी फेर दिया था, इसलिए इस बार उनका नाना साहब पेंडसे के घर ठहरना संभव ही न था। देवरजी राम-मंदिर में रहते थे। वहाँ उन्हें कौन आने देता? डॉक्टर काशीबाई झणकर नाम की एक डॉक्टरनी वहाँ रहती थीं। तिलक उनके घर जाकर ठहरे और सुबह ही नाना साहब के घर आए। जीने की एक-दो सीढ़ियाँ ही वह चढ़े थे कि भिकूताई दरवाजे से आड़े हाथ लगाकर खड़ी हो गई और बोली—'खबरदार, अब आगे एक भी सीढ़ी चढ़े तो! तुम्हारे लिए अदालत खुली है। तुम वहाँ जा सकते हो।' तिलक लौट पड़े। दत्तू को फिर खसरा हो गया था। उसे तेज ज्वर चढ़ा था। उस पर यह दूसरा ज्वर मेरे पीछे पड़ गया था। मेरा मन दोनों तरफ लगा था। रात को डॉक्टरनी की माँ जल्दी-जल्दी से मेरे पास आई और कहने लगीं—'मौसी, चलो, चलो! काशी ने बिच्छू को काटा है। चलकर उतार दो।' मैं बिच्छू उतारती हूँ। तिलक उतारते हैं। और उन्हींसे मैं सीखी थी। हमें यह मालूम न होने के कारण कि तिलक वहाँ ठहरे हैं, भिकूताई ने मुझे उनके साथ भेज दिया। वहाँ जाकर देखती हूँ तो तिलक मेरी प्रतीक्षा में बैठे हैं।

'अब तुम कैसी हो?'

'जैसी पहले थी, वैसी ही हूँ।'

'दत्तू कैसा है?'

'उसे बुखार चढ़ा है।'

'अच्छा, तो जाओ!'

इतनी ही हमारी बातें हुईं। परंतु मेरे स्वास्थ्य में सुधार देखकर तिलक को बड़ी खुशी हुई। मैं लौटकर आने पर सीधी पलंग पर जाकर पड़ रही। घर नज़दीक ही था। दत्तू को भिकूताई ने ले रखा था। नाना साहब से उसने मेरे डॉक्टरनी के घर जाने आदि की बात कही। उन्होंने नौकर भेजकर डॉक्टरनी को बुलवा भेजा। उसने जो-जो हुआ था, वह सब नाना साहब को कह सुनाया। वह सुनकर नाना साहब बोले—'तुम्हें उसका क्या इरादा नज़र आता है?'

'जाने का।'

'तुमने कैसे जाना?'

'वह मेरे पास एक बार जहर माँगने आई थी। उसने कहा था—मेरे पास तुम्हें देने के लिए कुछ नहीं है, परंतु पैर के बिछुए हैं। उन्हें दिए देती हूँ। मुझे ऐसा जहर दीजिए, जिससे मैं घुल-घुलकर मरूँ; क्योंकि मैं नहीं चाहती कि आगे मेरी कोई जाँच आदि हो या मेरी मृत्यु का किसी पर आरोप लगे।'

'तुमने उससे क्या कहा?'

'मैंने उसे समझाकर वापस लौटा दिया।'

'ठीक है। फिर कभी ऐसे झमेले में न पड़ना।' कहकर पेंडसे ने एक चपरासी देकर उसे रवाना कर दिया।

यह तो बात हुई, उसका मुझे बिलकुल पता न था। कुछ दिनों से मुझे नींद बहुत आने लगी थी। मैं जो आई, सो सो गई। और सुबह उठी। सुबह उठकर देखा, तो मेरे सिरहाने एक पीढ़े पर दो साड़ियाँ, दो चोलियाँ, बच्चे के थोड़े-से जेवर, बच्चे का कनटोपा इत्यादि चीज़ें रखी हुई थीं। सिरहाने के पास क्या-क्या चीज़ें हैं, यह मैं देखने लगी। तिलक के आने के बाद से घर में मुझसे कोई विशेष बातें न करता। नाना साहब की भानजी आई थी। वह वहीं खड़ी थी। कनटोपे के झब्बे देखकर मैंने उससे कहा—'क्यों

री सई, यह "बाळंत[1] विडा" किसके लिए है ?' उसने कहा—'तुम्हारे ही लिए।' यह सुनकर मैं चुप रह गई। इसी समय भिकूताई और बाई वहाँ आईं। भिकूताई बोली—'मनू, तू जहाँ जाना चाहे, जा सकती है। मैंने तेरा सामान, तेरे बच्चे का कनटोपा, उसके जेवर, सब चीज़ें, वहाँ रख दी हैं !' मैं समझ न पाई कि यह सारी गड़बड़ क्या है। यह निश्चय करके कि जब जाने ही को कह रही है, तो चली जाऊँ और वणी के पर्वतों में जोगिन बनकर रहूँ। मैं झटपट उठी और कुंकुम की डिबिया तथा एक साड़ी लेकर चल पड़ी। मैंने कहा—'मुझे किसी की ज़रूरत नहीं। नाम का खयाल कहाँ तक करूँ और हवा को कहाँ तक पीठ दिखाऊँ ?' ठाकुरजी, भिकूताई और उसकी जेठानी को नमस्कार करके मैं निकल पड़ी। सई ने पूछा—'मौसी, तुम कहाँ जा रही हो ?'

'जहाँ भगवान् ले जाय, वहाँ।'

'तुममें ताक़त नहीं। तुम्हारे पास रुपए-पैसे नहीं हैं।'

'मुझे न रुपए चाहिएँ और न कुछ और चाहिए। भगवान् के यहाँ से जब आई, तब कहाँ था पैसा, जो अब उसके घर जाते समय उसकी ज़रूरत पड़ेगी !'

'अरी सई, उनका रात ही को तय हो गया होगा। वरना, क्या वह इस तरह एकदम जाने लगती।' भिकूताई बोली।

मैं बाहर बरामदे में आई। मुझे देखकर नाना साहब बोले—'कहाँ जाती हो ?'

'जहाँ भगवान् ले जायगा, वहाँ जाऊँगी। मनुष्यों ने छोड़ दिया, तो वह थोड़े ही छोड़ देगा ?'

'सच बताओ, यह पगली की-सी बातें क्यों करती हो ? जाओ, जाओ। घर में जाओ और सो जाओ।'

यज्ञोपवीत के समय ब्रह्मचारी अपने मामा के आग्रह से अपना काशी-

---

१. बच्चे के नामकरण के दिन जच्चा को दी जाने वाली भेंट।

यात्रा का इरादा छोड़ देता है। वही हालत मेरी हो गई। मैं भीतर जाकर सो गई।

शरीर का त्याग करने के प्रसंग मुझ पर कितनी ही वार आए होंगे। परंतु वह मैंने कभी न किया और मेरा खयाल है कि वह होना कभी संभव भी न था। मेरे मन की वनावट ही ऐसी है कि समस्त निराशामय अंधकार में टटोलते, गिरते-पड़ते, मैं अपने मार्ग पर चलती जाऊँगी। वीच ही में गिरकर प्राण न छोड़ूँगी। सारांश यह है कि रवर की गेंद की तरह हूँ मैं। अस्तु।

तिलक डॉक्टर काशीवाई के घर से निकले और गोपालपुर में जहाँ डॉक्टर ॲवट ठहरे थे, वहाँ गए। डॉ० ॲवट ने उनसे पूछा—'हो गई आपकी मुलालात ? आपका क्या खयाल है ?'

'मेरा खयाल गलत था। मेरे प्रति उसका जो प्रेम था, यह रंच-मात्र भी कम नही हुआ है।'

'फिर अव आप क्या सोचते हैं ! आपको व्यर्थ ही लोग भड़काते हैं ?' कहकर डॉ० अवट ने ईसाई धर्म के अनुसार पति-पत्नी के संवंध कैसे होने चाहिएँ, यह उन्हें वाइवल में से पढ़कर सुनाया। तत्पश्चात् दोनों ने प्रार्थना की और तिलक ने वचन दिया कि मैं अपनी पत्नी के आने तक उसकी वाट जोहूँगा।

तिलक वापिस लौट गए। जाने के वाद उनका वड़ा अच्छा पत्र आया—'तुम अपने स्वास्थ्य को सँभालो। दत्तू की ओर ध्यान दो। मैं तुम्हें विलकुल कष्ट न दूँगा। ईश्वर जव तुम्हें सुवुद्धि दे, तव लड़के को लेकर आ जाना। मैं अलवत्ता तुम्हारी हमेशा राह देखूँगा। भविष्य में मैं यहाँ से कभी ऐसा कोई काम न करूँगा, जिससे तुम्हें कष्ट हो। मैं एकपत्नीव्रत से रहूँगा। इस विषय में तुम विलकुल निश्चिन्त रहो !' इत्यादि मजवून उस पत्र में था।

भिकूताई को जरूर आशंका होती कि किसी दिन मैं चुपचाप तिलक के पास चली जाऊँगी। वह मुझे लक्ष्य करके एक गीत गाया करती—

"मैना तुझा ग पिंजरा मायेचा"[1] इत्यादि। गीत का अर्थ यह था कि—'हे मैना, हमने तुझे पिंजरे में बंद करके रखा है सही, फिर भी यह पिंजरा कैदखाना नहीं है। हमें प्रेम ही से तुझे बन्द करना पड़ता है। नहीं तो, तू किसी भी दिन फुर्र से उड़ जायगी।'

---

१. मैना तेरा पिंजरा प्रेम का है।

भाई और भाभियों का सहारा

भिकूताई और नाना साहब अब मुझसे अच्छा बर्ताव करने लगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि मुझसे उनका बर्ताव कभी बुरा था। परंतु बात इतनी ही थी कि बीच में उन्हें शक हो गया था कि कहीं मैं तिलक के साथ चली न जाऊँ! भिकूताई ने मेरे लिए कंगन, सोने की चूड़ियाँ आदि जेवर बनवा दिए थे। परंतु जब-जब तिलक की ओर से चिन्ता उत्पन्न करने वाले पत्र आते, तब-तब भिकूताई मुझ पर नाराज़ हो जाती। उसके घर दत्तू की और मेरी सब तरह से अच्छी व्यवस्था थी।

एक दिन नाना साहब को सरकारी हुक्म मिला कि उनकी बदली अहमदनगर हो गई है! अब सब चिन्ता में पड़ गए। स्वयं तिलक यद्यपि अहमदनगर में नहीं थे, फिर भी वहाँ ईसाइयों की बस्ती बहुत थी। मनु को वहाँ कैसे ले जायँ? वे यह विचार कर ही रहे थे कि इसी समय तिलक का पत्र और उनका पता लिखे हुए कोरे लिफाफे आए। उस पत्र में लिखा था कि उन्हें अहमदनगर में नौकरी मिल गई है और वह शीघ्र ही वहाँ जा रहे है! अब तो मेरा भिकूताई के साथ जाना असंव ही हो गया। नाना साहब ने भिकूताई से विचार-विनिमिय करके मेरे भाइयों को पत्र लिखा—'मेरा तबादला नगर को हो गया है। वहाँ मनू को ले जाना ठीक नहीं है। इसलिए उसे हम जलालपुर भेज रहे हैं। उसके और उसके बच्चे के खाने-पीने और कपड़े आदि के खर्च का सारा प्रबंध हमारी ही ओर से होगा। तुम्हें सिर्फ़ एक काम करना होगा। और वह यह कि तुम उसके मन

और शरीर को अच्छी तरह सँभालना।' इस पत्र के हाथ में पड़ते ही दोनों भाइयों ने अपनी पत्नियों से कहा—'तीन साल से हमारी बहन हमारे समधी के घर है। उसे हमें अब अपने घर ले आना चाहिए। हम जिस तरह लोगों के घरों के तमाशे देखते हैं, उसी तरह लोग हमारे घर के तमाशे देखेंगे। इसलिए यदि तुम उसे अपनी एक मेहमान अथवा हमारा एक अंधा भाई समझकर, उसके साथ बर्ताव करो, तो हम उसे यहाँ ले आयँ। उसने यदि हमारी कोई हानि भी की, तो भी उसके लिए हम जिम्मेवार हैं। तुम्हें ऐसा कोई व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिससे उसका दिल दुखे। मेरी दोनों भाभियों ने कहा—'आप उन्हें खुशी से ले आइए। हम एक शब्द से भी उनका मन नहीं दुखायँगी।'

नाना साहब के लिए एक निश्चित तारीख को नगर पहुँचना आवश्यक होने के कारण वह पहले चले गए और भिकूताई, बाई, मैं, दत्तू और येसू जलालपुर पहुँचे।

भिकूताई ने अपने भाइयों और भौजाईयों को अपने पास बुलाकर मेरा ट्रंक खोलकर मेरी एक-एक चीज़ उन्हें दिखा दी। धन-संपत्ति, जेवर, साड़ियाँ इत्यादि चीज़ों से मेरा एक बड़ा ट्रंक ठसाठस भरा हुआ था। भिकूताई ने कहा—'इसकी किस्मत पहले ही से इसके पीछे हाथ धोकर पड़ी हुई है। कल तुम्हारी पत्नियाँ कहीं यह न कहें कि इसके ट्रंक में ताला है अथवा इसने उनकी कोई चीज़ चुरा ली है। इसलिए मैं तुम्हें यह सब पहले से ही दिखाए देती हूँ। पहले कड़ुआ और बाद में मीठा अच्छा होता है।' वह एक दिन रहकर चली गई। जाते समय उसे बड़ा दुःख हुआ। उसकी पलकें भींग गईं। बिलकुल जाते-जाते उसने भाइयों से कहा—'दत्तू का दूध बंद न करना।'

मेरे पाँच-छह दिन बड़ी कठिनाई में बीते। तीन-चार दिनों के बाद तिलक की ओर से पत्र और लिफाफे प्राप्त हुए। मैं जलालपुर चली गई, इसका तिलक को कैसे पता चला, कह नहीं सकती!

जलालपुर में मेरी भाभियों ने मुझ पर किसी काम का भार नहीं पड़ने

दिया। दोनों ने मेरे काम आपस में बाँट लिए थे। बड़ी भाभी लड़के का सब काम करती और छोटी मेरा काम करती। मुझे अपनी धोती भी उन्होंने नहीं धोने दी। इन दिनों मैं भगवान् की अधिक भक्ति करने लगी थी। मेरे नहाने के लिए पानी खींच देना, साड़ी या धोती में चुन्नट बनाकर उसे ठीक से रख देना, मेरे पूजन की सामग्री एकत्रित करके उसे यथास्थान सजा देना, ये सब काम वह करती। मैं कहती—'भाभी तुम कितने कष्ट उठाती हो?' तब वह कहती—'ननदजी, तुम्हारे लिए यदि मैं कुछ करूँगी, तो भगवान् मुझे आशिष देगा। पर भिकूताई के लिए कुछ करने से यह बात न होगी। उनका काम करूँगी, तो भगवान् और लोग दोनों कहेंगे कि मैं स्वार्थ के लिए कर रही हूँ। तुम्हारा काम मैं निःस्वार्थ बुद्धि से करती हूँ।' इसी भाभी ने बचपन में दत्तू का लालन-पालन किया था—उसे सँभाला था।

जलालपुर आने के बाद से मेरी "लोळण फुगडी"[1] बंद हो गई थी। मुझे अब ठाकुरजी की पूजा आदि की खूब धुन लगी थी। सुबह उठने के बाद, कंघी-चोटी और स्नान आदि करके, नियमपूर्वक गुरु-चरित्र, शिवलीलामृत, ठाकुरजी का पूज़न तुलसी की माला फेरना और बाद में जप—यह मेरा नित्य का क्रम बन गया था। मैं एक बार ही भोजन करती। मैं उपवास भी बहुत करती। इसके अतिरिक्त, चार शुक्रवार, चार शनिवार और चार मंगलवार के व्रत करती। इन व्रतों में शुक्रवार को सिर्फ़ दूध-भात ही खाने का नियम था, शनिवार को केवल बड़े ही खाती और मंगलवार की रात को नौ मुट्ठी अनाज की गुजियाँ बनाकर उनमें से छह मुट्ठी की गाय को देकर तीन मुट्ठी की मैं खाती। ग्यारसें आदि थीं ही। यह सब मैं इसलिए करती कि तिलक प्रायश्चित्त करके हिंदू धर्म में लौट आयें। जिस दिन कोई उपवास न होता, उस दिन मेरी बड़ी भौजाई अपना सब काम निबटाकर, जहाँ मैं पड़ी रहती, वहाँ कुछ दूध-पोहे लेकर आती और

---

१. लड़कियों का एक खेल। एक-दूसरी का पाँव के अँगूठे फँसाकर लुढ़कना।

मेरी खूब मिन्नत करके मुझे जबरदस्ती खिलाती। एक ओर वह मुझे उपदेश देती जाती। कहती—'ननदजी, एक तंदुरुस्ती हज़ार नियामत ! सारी संपत्ति से पहले हमारे पास अच्छा स्वास्थ्य होना चाहिए। यदि उसे तुम खो बैठीं, तो तुम्हें कौन पूछेगा ? जब तक हाथ-पाँव चलेंगे, तभी तक लोग पूछेंगे।'

इस उद्देश्य से तिलक हिंदू धर्म में लौट आयँ, मैं सिर्फ़ उपवास ही नहीं करती रही, और भी जो-जो सूझता, वह सब मैं करती। परंतु वे दोनों मुझे ऐसा कोई काम करने से न रोकतीं। कहतीं—'यह किसी का कुछ बुरा नहीं करती, किसी को कोई हानि नहीं पहुँचाती, फिर इसके दिल को क्यों दुखायँ ?'

जलालपुर में एक बहुत बड़े हनुमानजी हैं। उनके हाथ में मैं एक डंडा दे दिया करती। उद्देश्य यह था कि वह तिलक के पीछे पड़कर उन्हें हिंदू धर्म में वापस ले आयँ। परंतु गाँव वालों को यह पता न चलता कि हनुमान के हाथ में रोज़ डंडा कौन दे देता है। कभी-कभी मैं हनुमानजी के सिर पर पत्थर रख देती। इसका प्रयोजन यह था कि पत्थर रख देने से उन्हें मेरा काम करना ही होगा। कहावत है न कि 'तुम्हारे सिर पर क्या किसी ने पत्थर रख दिया था ?' यानी क्या अमुक काम करने के लिए किसी ने तुमसे कोई ज़बरदस्ती की थी ? फिर मैं 'राम नाम' के पुरजे लिखकर हनुमान के सिर से पैर तक चिपकाने लगी। यह काम मुँह-अँधेरे, लोगों के जागने से पहले, करना पड़ता। उसका उद्देश्य यह था कि 'राम' नाम के पुरज़े अपने पैरों पर चिपकें, इस संकट से बचने से पहले ही वह मेरे संकट का निवारण कर देंगे।

हनुमानजी के हाथ में डंडा, सिर पर पत्थर और उनके सारे शरीर पर राम-नाम के पुरज़े चिपके हुए, यह क्या मामला है ? गाँव-भर में इसके बारे में कुतूहल उत्पन्न हो गया। गाँव के प्रमुख लोगों ने निश्चय किया कि पता लगाना चाहिए कि आख़िर यह टोना कौन करता है और उसे पकड़कर खूब पीटना चाहिए। एक दिन ये लोग वहीं छिपकर बैठ गए। मैं नहाकर

भीगे वदन वहाँ गई और एक पुरज़ा चिपकाकर परिक्रमा करने वाली ही थी कि दो-चार आदमी हाथों में डंडे लिये मेरी ओर दौड़ पड़े। कुछ-कुछ उजाला हो रहा था। नज़दीक आते ही लोगों ने मुझे पहचान लिया। दादा कुलकर्णी वोले—'ताई, हमने यह कभी न सोचा था कि तुम होगी। अच्छा हुआ, वरना उस वच्चे की माँ आज व्यर्थ ही अपनी जान से हाथ धो वैठती। हमने सोचा कि कोई टोटके-टोने करने वाली यह करती होगी। इसलिए, आज हम खास तौर पर घात में वैठे थे। ठीक है, करती जाओ अपने उपाय। तुम्हें इसमें सफलता प्राप्त हो और तिलक अपने धर्म में लौट आयँ तो हम सव-कुछ पा सकेंगे।'

गंगा से घर तक में राँगोली के चूर्णों से पैरों के चिन्ह् वनाया करती। उसी तरह रोज़ लाल फूल चढ़ाने का मैंने नियम बना लिया था। यदि फूल न मिलता, तो उस दिन उपवास रखती। मुझे उपवास न करना पड़े, इस लिए मेरी भाभियाँ मेरे लिए कहीं-न-कहीं से खोजकर, लाल फूल ले आतीं।

मेरा एक काम भगवान् के भजन-पूजन का था और दूसरा लड़कों को पढ़ाने का। दत्तू की पहली मास्टरनी मैं ही थी। आगे चलकर दत्तू के लड़कों की भी पहली मास्टरनी मैं ही हुई! रोज़ जव समय मिलता, तव दत्तू और भाइयों के लड़कों को लेकर, मैं उन्हें लिखना सिखाती।

एक दिन इसी तरह मैं लड़कों को पढ़ा रही थी कि मेरे दोनों भाई, शाम को घर लौटने के वाद, हमारे पास आकर वैठ गए। वे फसलों के वारे में वातें कर रहे थे। लड़कों ने अपना लिखना वंद कर दिया और वे अपनी स्लेट-पेंसिलें उसी तरह अपने हाथों में पकड़े रहे। धीरे-धीरे हम सभी वातें करने लगे। लड़कों ने दत्तू से कहा—'देख, हमारे खेत कैसे हैं? हमारे वैल, हल कैसे है?' उसकी यह वात सुनकर, केशवराव मामा वोले—'अरे भाऊ, वापू! वैल और हल तुम्हारे ही हैं, यह वात नहीं। वे दत्तू के भी हैं। क्या वह तुम्हारा भाई नहीं?' लड़कों ने इस वात को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। वे वोले—'वाह, वह हमारा भाई

कैसे हो सकता है? वह तो तिलक है और हम गोखले हैं।' दत्तू ने अपनी स्लेट-पट्टी उनके आगे बढ़ाकर कहा—'यह देखो मेरा खेत। यह पेंसिल मेरा हल है और ये अंगुलियाँ बैल हैं।' 'परंतु, तुम्हारे इस खेत में कोई अनाज पैदा नहीं होता।' उनके यह कहने पर दत्तू बोला—'ये अक्षर मेरे अनाज के दाने हैं।' दत्तू की यह बात सुनकर, मेरे दोनों भाइयों की आँखें डबडबा आईं। केशवराव मामा ने दत्तू को एकदम अपने हृदय से लगा लिया। उस समय मुझे क्या अनुभव हुआ होगा, इसकी पाठक ही कल्पना करें।

हमारे जलालपुर आने के बाद भी तिलक के पत्र रोज़ आते। कभी-कभी वे बड़े क्रोध-भरे होते। कभी-कभी क्रोध के आवेश में वे कोरा कागज ही भेज देते। कोरे कागज़ का पत्र आता, तो मैं रो पड़ती। कोई पूछता कि क्यों रोती हो, तो मैं उसे वह कोरा कागज़ बता देती। परंतु लोग कहते—'यद कागज़ कोरा नहीं है।' इसमें कोई जरूर हिकमत है। क्या कभी कोई कोरा पत्र भेजता है? कोरे पत्र को पढ़ने की हिकमत मनू मौसी जरूर जानती होगी। जब यह सुनती तो मैं और भी अधिक रो पड़ती।

मुझसे मिलने तिलक जलालपुर तीन बार आए। उनका स्वास्थ्य अब बहुत अच्छा हो गया था। जब वह पहली बार आए, तब मेरे छोटे भाई ने उन्हें मारने का निश्चय किया। वह कुल्हाड़ी लेकर इधर-उधर घूमने लगा। मैंने कहा—'तुम उन्हें चाहे जितना डाँटो-फटकारो, गालियाँ दो, उनसे लड़ो, परंतु उन्हें मारना-वारना मत।' दत्तू कहता—'देखें, कौन मेरे नाना को मारता है? मैं भी उसे मारूँगा।'

तिलक आए। उनके पीछे गंगापुर से बहुत-से आदमियों और लड़कों की भीड़ आई। जलालपुर के लोगों ने भी उन्हें घेर लिया। देहात में साधारणतः जब कोई शहर का मेहमान आता है, तब उसके आस-पास लोग इकट्ठे हो ही जाते हैं। फिर तिलक तो सबके परिचित थे और वह इतने बदल गए थे। परंतु जब वह घर आए तब मेरा छोटा भाई घर से

बाहर ही नहीं निकला। बड़े भैया घर पर न थे। तिलक दरवाजे के सामने रास्ते पर खड़े होकर, भीड़ ही में से मुझसे बातें करके लौट गए। दूसरी बार जब वह आए तब केशवराव मामा घर पर आए थे। उन्होंने तिलक को घर में बुलाया। उन्हें बिछावन पर बिठाया। झगड़ा या मार-पीट कुछ न हुई। चार-छह महीने के बाद फिर तिलक आए। इस समय मेरे दोनों भाई घर पर न थे। मैंने सिर से स्नान किया था। केश खुले हुए थे। इसके सिवा गाँव की निंदक सासों की बकवास के उत्तर-स्वरूप मैं कपाल भरकर खूब बड़ा कुंकुम लगाती थी। खुले बाल और कपाल-भर कुंकुम— ऐसे महामाया के रूप में मैं तिलक के सामने आकर, कमर पर हाथ रख-कर खड़ी हो गई। उनके साथ इस बार एक यूरोपियन मेम थी। वे दोनों आँगन में खड़े थे।

वह यूरोपियन स्त्री मुझसे बोली—'बाई, देखो, तुम्हारा पति कितना अच्छा है। उसने दूसरा विवाह नहीं किया।'

यह सुनते ही मैं उस पर झल्ला उठी। तिलक की ओर अंगुली करके मैंने कहा—'ये तुम्हें अपना वकील बनाकर लाए प्रतीत होते हैं। क्योंजी, ये तो अच्छे हैं और मैं कैसे बुरी हूँ ? मैंने भी अभी तक विवाह नहीं किया। विवाह तो मेरा और उनका ही हुआ है। तुम्हें बीच में आकर सयानापन दिखाने की जरूरत नहीं है। जो कहना है, वे स्वयं मुझसे कह सकते हैं।' इस पर वह चुप हो गई।

मेरी पीछे घर के बच्चे, उनके पीछे मेरी भौजाइयाँ, सामने तिलक और वह मेम, उनके पीछे जलालपुर और गंगापुर के पुरुषों और बच्चों की भीड़—ऐसा वह 'सीन' था।

तिलक ने पूछा—'सब ठीक चल रहा है न ?'

मैंने कहा—'जैसा आपने प्रबंध कर रखा है, उस तरह सब ठीक चल रहा है। अब किसी भी चिंता की जरूरत नहीं है।'

इस बातचीत के बाद तिलक, वह मेम और गाँव वाले वापस चल दिए।

मेरे लंबा-चौड़ा कुंकुम लगाने का लगाने का कारण यह था कि मैं गाँव की सुहागिनों में नहीं गिनी जाती थी। यह बात एक दिन मेरी भाभी को मालूम हुई। एक बार ग्राम-जोशी के यहाँ मुझे सुहागिन की हैसियत से भोजन के लिए निमंत्रित किया गया। भाभी ने मेरी तरफ से वह निमंत्रण स्वीकार कर लिया था। बाद में वह गंगा पर गई। गंगा के घाट पर और औरतें बात कर रही थीं। इस बातचीत में मेरे नाम का उल्लेख सुनकर वह ठिठक गयी।

'अजी चाची, यह क्या किया तुमने ? मनू के पति ने अपना धर्म छोड़ दिया है और तुमने उसकी पत्नी को देवी की 'सुहागिन' की हैसियत से भोजन के लिए बुलाया है ?'

'अरे हाँ, सच ! यह बात तो मेरे ध्यान ही में न आई। अब क्या करूँ ?'

'अब क्या ? उसे भोजन के लिए आने दो, परंतु देवी के लिए दूसरी सुहागिन को आमंत्रित कर लो। बस, तुम्हारा काम चल जायगा।'

गंगा किनारे हो रही यह बातचीत सुनते ही मेरी भौजाई आगे बढ़ी और बोली—

'चाची, मेरी ननद ने परान्न ग्रहण न करने का व्रत लिया है। मैं यह जानती न थी। इसलिए वह तुम्हारे यहाँ भोजन के लिए सुहागिन की हैसियत से न आ सकेगी। आप किसी दूसरी सुहागिन को न्योता दे दें।'

वह स्त्री भी यही चाहती थी। रमा भाभी ने बाद में यह सारा हाल मुझे और मेरी बड़ी भौजाई को सुनाया और मुझसे कहा—'ननदजी, तुम परान्न न ग्रहण करने का व्रत ले लो।' मैं कभी अपनी भाभियों के विरुद्ध न चलती थी। मैंने परान्न का व्रत ले लिया और मैं जब तक जलालपुर रही, तब तक मेरी भाभियाँ भी कभी किसी के घर भोजन करने नहीं गई। यदि कोई मेरे बारे में कुछ कहता, तो वह उनसे बिलकुल बरदाश्त न होता। ऐसी भौजाइयाँ पाना परमेश्वर की बड़ी कृपा ही है।

तिलक जिस मेम के साथ जलालपुर आए थे, उसने उनसे तुरंत

कहा--'आपकी पत्नी आपके पास आयगी और बहुत जल्द आयगी। मुझे इस पर पूर्ण विश्वास है।' इसके कुछ दिनों बाद उस मेम ने मुझे पत्र भेजा। उसने लिखा था--'तुम अपने पति के पास आ जाओ। मैं तुम्हें हर महीने दस रुपए देती रहूँगी।' मैंने उसे उत्तर भेजा--'मुझे रुपयों के लिए अपने पति के पास नहीं जाना है।' यह मेम नासिक के जनाना मिशन की सुप्रसिद्ध 'माता जी' मिस हार्वे थीं। आगे, तीस साल के बाद, जब हम नासिक आए, तब उनके स्नेह का हमें अनुभव हुआ। बिलकुल प्राण-त्याग करने से पहले उन्होंने तीन-चार बार 'लक्ष्मीबाई! लक्ष्मीबाई!' कहकर मुझे पुकारा था! लेकिन, उनका जो मैंने प्रथम स्वागत किया, वह इस तरह का था!

मेरे दोनों भाइयों के लड़कों को अब सातवाँ वर्ष लग गया था। दत्तू को छठा वर्ष लगा था। अब घर में यह विचार होने लगा कि तीनों के जनेऊ कर दिए जायँ। तीनों के यज्ञोपवीत-संस्कार एक साथ कर देने का निश्चय हुआ था। परंतु कुछ लोग कहने लगे--'दत्तू का जनेऊ अभी मत करो। यदि उसका बाप उसे ले जायगा, तो यज्ञोपवीत का सारा खर्च व्यर्थ जायगा।' केशवराव मामा ने कहा--'कोई हर्ज नहीं। जनेऊ के डोरे को गले से निकाल फेंकने में कुछ खर्च नहीं होता। उसीका 'व्रतबंध' मैं पहले करूँगा और बाद में अपने लड़कों का करूँगा।' मामा नासिक जाकर यह देख आए थे कि इस वर्ष लड़कों के जनेऊ का मुहूर्त है या नहीं। तीनों के लिए यह वर्ष शुभ था।

नासिक से आते समय मामा एक समाचार लाए कि अब नासिक बंबई हो जायगा और जलालपुर गंगापुर नासिक हो जायँगे! अब यह एक छोटा-सा गाँव बढ़कर नासिक की तरह एक शहर हो जायगा, यह सुनकर सबको खुशी हुई। जनेऊ की गड़बड़ में मामा बहुत बार नासिक आते-जाते थे। इसी तरह के एक चक्कर में वह एक और समाचार लाए कि एक नई ही बीमारी पैदा हुई है। देखते-देखते मनुष्य के शरीर पर और विशेषतः काँख में एक-दो गिल्टियाँ उठती हैं और मनुष्य के प्राण आनन-

फानन कूच कर जाते हैं। इस समाचार से गाँव के सब लोगों के होश उड़ गए।

जनेऊ की पूरी तैयारी हो गई। भाभी ने भाई से कहा—'हमारे लड़कों के व्रतबंधों में चाहे किफायत कर लेना, परन्तु दत्तू का जनेऊ बड़ी धूमधाम से होना चाहिए। ऐसा कोई काम न करना, जिससे ननदजी को दुःख हो। उनका यह एक ही कार्य है।' मामा ने कहा—'सबसे ज्यादा खर्च मैं दत्तू के जनेऊ ही में करूँगा। तुम कोई चिन्ता न करो।'

लेकिन, लड़के का जनेऊ मामा के घर अथवा मामा की गोद में नहीं होता। अब क्या किया जाय, यह प्रश्न उपस्थित हुआ। मामा ने सखाराम देवरजी को पत्र लिखा—'दत्तू का जनेऊ कराने के लिए तुम यहाँ आओ।' उन्होंने उत्तर भेजा—'तुम्हीं दत्तू को और अपने लड़के को लेकर पंढरपुर आ जाओ। मैं सभीके जनेऊ अपने खर्च से करा दूँगा।' यह उत्तर पढ़कर मेरे भाइयों को बहुत बुरा लगा। उन्होंने किसी दूसरे अर्थ में लिखा था और लालाजी ने किसी दूसरे अर्थ में उत्तर दिया। परन्तु, तीनों लड़कों के जनेऊ करने के लिए तैयार हो जाने वाले सखाराम लालाजी से दत्तू के जनेऊ के लिए एक पैसा भी भेजते न बना, इस पर चार दिन तक सभी को बड़ा अचंभा रहा।

फिर मामा ने पेंडसे को लिखा कि कम-से-कम तुम्हीं आकर दत्तू का जनेऊ करो। पेंडसे का उत्तर आया—'मैंने ऐसी कोई मनौती नहीं मानी थी कि तिलक जायँ और उनके लड़के का जनेऊ मेरी गोद में हो। मैं चाहे जितना रुपया खर्च करने को तैयार हूँ, परन्तु मुझसे उसके जनेऊ के अवसर पर हाज़िर न हुआ जायगा। मैं आ ही गया, तो बड़ी हिम्मत करके आऊँगा।'

यह निश्चित करके कि दत्तू का जनेऊ पहले और अपने लड़कों का जनेऊ बाद में किया जायगा, उन्होंने निमन्त्रण-पत्र भेज दिए थे। तिलक को भेजे गए पत्र में अलबत्ता तिथियाँ उलटी-सुलटी डाल दी गई थीं। उद्देश्य यह था कि जनेऊ की ठीक तिथि का तो उन्हें पता न चले, पर

इतना उन्हें ज़रूर मालूम हो जाय कि दत्तू का जनेऊ हो रहा है। यदि उन्हें तिथि का ठीक पता चल जाय और उसी समय वह आकर जनेऊ में कोई वाधा उपस्थित कर दें तो ?

दत्तू के जनेऊ में तीन दिन तक सवकी पलकें गीली रहीं। पुरोहितजी की गोद में दत्तू को विठाकर उसका जनेऊ कराया गया। पुरोहित भी वेचारा रो रहा था, क्योंकि उसके पुत्र न था। वह कहता—'जिनके वाप हैं, उन लड़कों की यह दशा और जिनके लड़के नहीं हैं, उनकी यह दशा!' सारांश यह कि दत्तू के जनेऊ में मेहमानों सहित सव लोग खारे पानी की वृष्टि करते रहे।

रोते-धोते. परन्तु जैसे-तैसे दत्तू का जनेऊ संपन्न हुआ। लड़के के जनेऊ के समय 'देव'-देवक[1] के अवसर पर तिलक के चार खूव मोटे-मोटे पत्र आ पहुँचे। दोनों भाइयों के लिए दो, पेंडसे के लिए एक और मेरे लिए एक। वे पत्र उनके मस्तिष्क में आए हुए विचारों के चित्रपट ही थे। उन में क्या नहीं था ? गालियाँ थीं, अदालत की धमकी थी—सव-कुछ था।

मामा वोले—'वहनोई साहव ने सौगात भेजी है।'

ज्येष्ठ महीने का उदय हुआ। एक दिन एक औरत यह खवर लेकर आई कि कुलकर्णी के घर चोरी हो गई और उमा चाची धाड़ मार-मारकर रो रही है। चोरी कव हुई और क्या-क्या चोरी चला गया, इसका अलवत्ता मुझे कोई पता न चला।

चोरी का सामान पाते ही मैं भाभियों से पूछकर वहाँ गई। जाकर देखा, तो चाची सचमुच फूट-फूटकर रो रही थी।

'क्यों चाची, क्या हुआ ?'

---

१. विवाह, जनेऊ आदि मंगल-कार्य आरंभ करने से पहले देवों की पूजा करते हैं। उन्हें निमंत्रित करते हैं और मंगल-कार्य होने तक उनकी स्थापना करते हैं। कार्य समाप्त होने पर उनको विदा कर देते है। इसे देवस्थापना भी कहते है।

'क्या बताऊँ री. तेरा भाई नासिक गया है। उसने बाबा के विवाह की बात चलाई है! और आज घर में पाँच-सात हज़ार की चोरी हो गई। मणि-मंगल-सूत्र के लायक भी सोना घर में नहीं बचा।'

कुलकर्णी के घर में दस लोगों का परिवार था। दो लड़कों के विवाह हो चुके थे। तीसरा छोटा था।

'चोरी कब हुई? विवाह किसका है? चाची, तुम क्या कह रही हो, कुछ समझ नहीं पा रही हूँ।'

उमा चाची मेरा हाथ पकड़कर मुझे भीतर अटारी पर ले गई और जहाँ से चोरी हुई थी. वह जगह मुझे दिखाई। आज तक मैं उस जगह सैंकड़ों बार गई थी, लेकिन उस जगह उनका खजाना होगा, यह मैंने कभी न सोचा था। एक दीवार में अलमारी थीं। देखने में वह बहुत छोटी थी, परन्तु भीतर इतनी जगह थी कि एक आदमी झुककर अच्छी तरह खड़ा हो सकता था किसी को भी कभी शक न होता था कि उस अलमारी में कोई खास बात होगी। हम बचपन से हज़ार बार उस कमरे में खेली थीं। भीतर अलमारी में खड़े रहें, तो ऊपर तख्तों की छत थी। उसमें चन्द्रकोर की तरह इतनी दरार थी कि उसके भीतर अँगुलियाँ समा सकती थीं। उसमें अँगुली डालकर तख्ता सरकाकर ऊपर से भीतर पेट के बल सरकते हुए जाने पर आगे सात-आठ हाथ की दूरी पर एक घड़ा रखा मिलता। उसमें घर की सारी संपत्ति रख दी गई थी।

चाची ने मुझे उस अलमारी में पहुँचा दिया और कहा—'अब उस तख्ते को एक ओर खिसका दो। ऊपर हाथ टेककर भीतर जाओ। फिर औंधी पड़कर आगे सरको। देखो, तुम्हें कुछ दिखाई देता है क्या?' मैंने जैसा उसने कहा था वैसा किया। मैं पसीने से तर-बतर हो गई। भीतर कुछ उजाला था। घड़े में सिर्फ़ दो-चार चाँदी के बर्तन दिखाई दिए। मैंने कहा—'यहाँ तो कुछ नहीं है चाची! दो बर्तन-भर रखे हैं।'

अकाल पड़ा था। गाँव में बहुत चोरियाँ हो रही थीं। परंतु यह चोरी किसी बाहर के आदमी ने की हो, यह संभव न था। चोरों के डर से घर

की दो-तीन स्त्रियों के जेवर-विंदिया और कंगनों से लेकर कानों के आभूषण तक सब-कुछ उस घड़े के पेट में भरे थे। नथों को भी घड़े ही के सुपुर्द कर दिया गया था। मुझे पक्का विश्वास हो गया कि अपने भाइयों को कुछ न मिले इसके लिए चोरी दादा ही ने की है और कोई शक न करे, इसलिए विवाह का बहाना बनाकर, वह नासिक चल दिया है। दादा के मझले भाई यानी बाबा का दूसरा विवाह दादा तय कर रहा था।

दूसरे दिन दादा और भाभी विवाह के "अक्षत" लेकर हमारे यहाँ आए। उन दोनों ने मुझसे विवाह में आने का बहुत आग्रह किया। वे बोले—'यहाँ आखिर तुम रोती ही रहोगी। त्र्यंबकेश्वर चलोगी तो मन को कम-से-कम कुछ शान्ति ही मिलेगी।' 'हाँ-ना' करते-करते मैं और दत्तू दोनों रवाना हुए। सात कोस का सफ़र था। बाराती सब बैल-गाड़ियों ही में थे। कुछ गाड़ियों पर टप थे और कुछ बिना टप की थीं। रास्ते में पानी बरसा। भोजन-सामग्री वाली गाड़ी नहा गई, आटे के बोरे सन गए, शक्कर के बोरे घुलने लगे। परंतु हमारा दादा था बड़े पक्के दिल का। घर में चोरी हो गई थी और बाहर पानी बरसा, फिर भी दिल घुला नहीं और न खिन्न ही हुआ।

हम कोई पाँच-पच्चीस बराती थे। मैं यद्यपि विवाह के लिए आई थी, फिर भी मुझे अच्छा न लगता था। इस विवाह के मैं विरुद्ध थी, क्योंकि बाबा की पहली पत्नी में मुझे कुछ दोष भी न दिखाई देता था। रूप, गुण और काम की दृष्टि से उसमें दोष देने लायक कुछ भी न था। वह कभी सिर ऊपर न उठाती। वह मुझे "मौसी" कहती और उसका पति मुझे "ताई" कहता। मतलब यह कि इस तरह मेरा दोहरा रिश्ता था। हम यद्यपि देशस्थ थे और वे कोंकणस्थ थे, फिर भी एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता थी। इसलिए इस गुणवती लड़की के लिए सौत लाई जाय, यह बात मुझे पसंद न थी।

दादा ने कमर कसकर दो दिन के भीतर विवाह पूरा किया। बारातियों के जेवर एकत्रित करके अपनी नई अनुज-वधू को पहनाकर, यह

समारोह सम्पन्न किया। समधियाने में हल्ला मच गया कि बिंदिया और कंगनों की जगह, घर की कम-से-कम एक नथ तो होनी ही चाहिए थी। यह बात दादा के कानों में पड़ी, फिर भी वह शान्त ही रहा। यह देखकर शक और अधिक पक्का हो गया। मैंने उससे कहा—'दादा, मुझे विश्वास नहीं होता कि चोरी हुई है।' वह बोला—'क्या हुआ है सो गंगा और राम जानें।' 'क्यों राम का नाम ले रहे हो? मैं कहती हूँ कि जो हुआ है सो दादा और गीता ही को मालूम है।' इस पर उसने इतना ही उत्तर दिया कि 'खैर, यही सही।'

सोमवार को प्रीति-भोज के लिए लोग आने लगे। हमारे ही गाँव के विश्वनाथ भट और उनकी लड़की सुंदरी त्र्यंबकेश्वर की "पालकी"[1] देखने के लिए निकले। सुंदरी ने मुझसे कहा—'ताई, तुम नहीं चल सकतीं, तो क्या दत्तू को ले जाऊँ पालकी दिखाने?' मैंने कहा—'ले जाओ, पर उसे अच्छी तरह सँभालना।' वह दत्तू को ले गई।'

इधर पंगत बैठी। मुश्किल से पहला भात ही आया होगा कि लोग आचमन करके उठ गए! घर में चारों ओर देखते-देखते नीरवता छा गई। कहने को हम दो-चार ही बच गई थीं उस घर में। उमा चाची रसोईघर में थीं, भीमा चाची कोठी पर; तथा गीता भाभी और मैं अटारी पर थीं। घर में सारा सामान फैला हुआ था। मुझे बड़ा अजीब लगने लगा। मैंने कहा—'भाभी, भोजन इतनी जल्द कैसे समाप्त हो गया?' वह बोली—'रोज-रोज मीठा खाते-खाते लोग ऊब गए हैं अब।'

थोड़ी ही देर में नीचे से किसी ने "लक्ष्मीबाई तिलक" कहकर पुकारा। मुझे लक्ष्मीबाई तिलक कहकर कोई न पुकारता था। मायके में मुझे मनू मौसी कहा जाता था। इसलिए वह पुकार सुनकर मैं काँप उठी। रोंगटे खड़े हो गए। मुझे लगा कि तिलक ने मुझ पर वारंट जारी कर

---

१. किसी विशेष दिवस पर भगवान् की मूर्ति या पादुकाओं को सजी हुई पालकी में रखकर जुलूस निकालते हैं। इसके साथ भजन-मंडली रहती है।

दिया है। इसी समय पुनः वही पुकार आई। मेरी चिंता का बाँध टूट गया। नीचे एक सिपाही खड़ा था। उसने मुझे नीचे बुलाया। मेरे पीछे-पीछे गीता भाभी आई। सिपाही ने पूछा—'तुम्हारा लड़का कहाँ है ?'

'तुम्हें उससे क्या काम है ? मैं तो हूँ न ?'

'यह बात नहीं। वह कहीं खो गया है क्या ?'

यह सुनते ही गीता भाभी आगे बढ़ी और बोली—'हाँ, खो गया है। कहाँ है वह ?'

'क्या उसके बदन पर जेवर थे ?'

'नहीं, कोई जेवर नहीं था।'

फिर वह बाहर खड़े हुए दत्तू को भीतर लाया। अब मेरा जी शान्त हुआ। 'कुशावर्त' पर वह भटक गया था। सुंदरी का हाथ बीच ही में छूट गया और उस भीड़ में जो लाल साड़ी पहने और धोती ओढ़े औरत दिखाई दे जाती, उसीका हाथ वह पकड़ने लगता। परंतु कोई भी औरत उसका हाथ पकड़ने को तैयार न होती थी। इस तरह करते-करते वह भीड़ से निकलकर सीधा नासिक चौकी की ओर चला गया। उस सिपाही में और उसमें कुछ बातें हुई। दत्तू बोला—'मुझे मामा के घर ले चलो। उनके यहाँ बहुत लड्डू बने हैं। वह तुम्हें टोकना-भर लड्डू देंगे।' जब उससे घर के लोगों के नाम पूछे गए, तब उसने अपने पिता का नाम "नाना" और माँ का "लक्ष्मीबाई तिलक" बताया। गाँव में दो ही जगह बारातें ठहरी थीं। एक जलालपुर की और दूसरी नासिक की, इसलिए मुझे खोजने में सिपाही को अधिक समय न लगा।

अब मेरे ध्यान में आया कि यह जो भोजन में गड़बड़ हो गई थी, वह दत्तू के गुम जाने के कारण हुई थी। पहले वहाँ इसी तरह एक धनिक का इकलौता लड़का खो गया था और आगे वह किले से गिरकर मरा हुआ मिला था।

दत्तू के आने पर सारे लोग एकदम फिर इकट्ठे हो गए। सुंदरी का कलेजा सूप की तरह बड़ा हो गया। दादा और मामा पीतांबर पहने हुए

इधर-उधर घूम रहे थे। वे हताश होकर वापिस आए, तो उन्हें यह सब हाल मालूम हुआ। दादा एकदम भीतर गए और दस-बारह सेर लड्डुओं की टोकनी उन्होंने सिपाही के सामने रख दी। फिर अंटी से पाँच रुपए निकालकर वह बोले—'भैया, आज तुमने मेरे मुँह को कालिख लगने से बचा लिया और मेरी बहन का खज़ाना लाकर उसे सौंप दिया।' मेरे जो दादा चोरी हो जाने पर और अनाज भीग जाने पर भी न घबराए, वे दत्तू के खो जाने पर घबरा गए। 'गोविंदाग्रज'[1] के 'महाराष्ट्र-गीत'[2] की 'देश स्याच्या खुल्या दिलाची तुजला दिलदारी'[3] वाली पंक्ति आज भी मेरी आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। अपने अनुभव से मैं यह कहती हूँ कि कोंकणस्थों की अपेक्षा देशस्थों के मन अधिक स्नेहमय और अधिक उदार होते हैं।

हवलदार ने लड्डू के एक कण को अथवा पाँच रुपए की एक पाई को भी स्पर्श नहीं किया। दादा ने फिर उससे मेरा सब हाल कहा। यह जानने पर कि दत्तू गोविंदराव का नाती है, उसे और भी अधिक आनंद हुआ। दूसरे दिन हवलदार के सारे परिवार को भोजन के लिए बुलावा गया।

हम जलालपुर वापिस आए। आते समय गंगा पर बाबा की पहली पत्नी ने पुकारकर मुझसे पूछा—'मौसी, ले आई क्या दूसरी भानजी ?'

ये शब्द मेरे हृदय में चुभ गए। मैं कुछ न बोली। बेचारी के दुर्भाग्य पर चिन्ता करती हुई घर आई।

प्रवेश पाते ही नई दूलहिन मायके चली गई और पुरानी को घर में लाया गया। अब चोरी की कसकर जाँच शुरू हुई।

---

१. स्व० श्री रामगणेश गडकरी—मराठी भाषा के प्रसिद्ध आधुनिक कवि, नाटककार और हास्य-लेखक।

२. महाराष्ट्र पर लिखी गई कविता।

३. देशस्थों के उदार हृदय की उदारता तुझे प्राप्त है।

'हम जब 'नागनारांवछी' [1] के लिए गए थे, तब तू हमारे पीछे मायके से यहाँ क्यों आई थी ?'

'मुझे मनू मौसी ने बुलाया था ?'

मैंने उसे सचमुच बुलाया था। मैंने उस पर एक बड़ा हृदय-विदारक गीत लिखा था और उसे वह सिखाने के लिए बुलाया था।

यह सुनते ही कि मौसी ने बुलाया था, उसका पति मुझे बुलाने आया। उसके होंठ थर-थर काँप रहे थे। आँखें लाल-सुर्ख दिखाई दे रही थीं। उसे क्रोध आ गया था। वह बोला—'ताई, तुम्हें दादा बुला रहे हैं।'

'क्यों भैया, क्या काम है ?'

'तुम चलो। तुम्हें सब मालूम हो जायगा।'

हम जानती थीं कि उनके घर चोरी की जाँच हो रही है। मेरा शुक्रवार का निर्जल उपवास था। मेरी भौजाइयाँ चाहती थीं कि मैं न जाऊँ। मेरे दोनों भाई घर नहीं थे। वे बोलीं—'देखो ननदजी, कहीं तुम पर ही कोई अभियोग न लग जाय।' मैंने कहा—'मुझ पर क्या लगेगा ? सत्य का रक्षक परमात्मा है।' मैं गई। उस समय दादा और उमा चाची दोनों बरामदे ही में थे। 'क्यों चाची, मुझे क्यों बुलाया ?' वह बोली—'सुनो, तुम्हारी वह भानजी क्या कह रही है ?'

मैं भीतर गई। उसे हृदय से लगाकर खूब रोई। 'क्यों री, तेरी यह दुर्दशा ! जैसी मेरे लिए घारू है; उसी तरह तू है। तेरी माँ नहीं है। तेरा क्या होगा ?'

दुःख से दुःख मिला। हृदय हिलने लगे। आँसू टपकने लगे। उसे भी मेरे लिए दुःख हो रहा था। उसने मेरे गले में अपनी बाँहें डाल दीं और कहा—'मैंने तेरा नाम यों ही ले दिया !'

'तो क्या सचमुच ये सब जेवर तेरे ही पास हैं ? और तू ले क्यों गई ?

---

१. संतान-प्राप्ति की कामना से किया जाने वाला एक संस्कार। इसमें एक विशेश दिन पर आटे का नाग बनाकर उसकी पूजा की जाती है।

तो फिर ला, दे-दे सब।'

'यहाँ नहीं हैं। गंगापुर में हैं।'

'सब माल है री चाची। मैं जाती हूं अब।' कहकर मैं जाने लगी।

'नहीं री, तू जाकर अभी सब ले आ!'

हम दोनों जलालपुर से गंगापुर के लिए रवाना हुई। गंगा में घुटनों तक पानी था। पानी का प्रवाह दोनों को खींच रहा था। मन में आया कि गंगा मैया इसी समय मुझे अपने पेट में ले लें। परंतु, फिर तुरंत ख़याल आया कि फिर दत्तू का क्या होगा?

हम गंगापुर पहुँचीं। उसने वे दो डिब्बे निकालकर मेरे सुपुर्द किए। तभी अँधेरे कमरे से आवाज आई—'अरी राड़, क्यों मोल ले ली?'

'इसलिए, कि मेरे कारण इस मौसी को व्यर्थ कष्ट हो रहा था।' मैं और वह दोनों रवाना हुई। इसी समय दादा आए। मैंने कहा—'सब माल मौजूद है, भैया।'

'क्या डिब्बे खोलकर देख लिए हैं तुमने?'

'नहीं।'

'वाह री पगली, कैसे कह सकती हैं कि उनमें पत्थर नहीं भरे हैं?' डिब्बे खोलकर देखे, तो सब जेवर मौजूद थे। अलबत्ता वे तोड़-मड़ोकर रखे हुए थे। डिब्बे लेकर हम आठ बजे रात को लौटकर आई। चाची को बड़ी खुशी हुई। वह बोली—'तनू, तू सचमुच लक्ष्मी है। मेरे घर से गई हुई लक्ष्मी को तू लौटा लाई। गीता, मनू की गोद भर! तब उसे जाने दे।'

देवर के घर से अपने घर में

एक दिन भोजन के वाद, नौकरानी वर्तन लेकर गंगा गई और उन्हें गंगा में भीगने के लिए छोड़कर, चिल्लाती-चिल्लाती सारे गाँव में दौड़ती हुई आई और कहने लगी कि साहव आया है। वस, फिर क्या था ? सर्वत्र भगदड़ मच गई। घर में या गाँव में पुरुष कोई न था। वे खेतों पर गए थे। वुआजी, मेरी भौजाइयाँ, लड़के, सव खेत पर थे। दत्तू, मैं और मेरे भाई का एक लड़का, वस, इतने ही व्यक्ति घर में थे। मैंने दत्तू को पिछले दरवाजे की दीवार से नीचे छोड़ दिया और कहा—'कहीं भाग जा।' भाई का लड़का बुखार में पड़ा था। उसे छोड़कर भाग जाना मेरे लिए संभव न था। मैं वहीं दरवाजे की चौखटों पर दोनों हाथ रखे साहव की प्रतीक्षा करती हुई खड़ी रही। रास्ते में औरतें भागती हुई दिखाई दे रही थीं। एक औरत अँगोछे का एक आँचल हाथ में लिये, वाकी भाग से धरती बुहारती हुई भाग रही थी, तो दूसरी झाड़ू लिये ही भाग रही थी। वहुत-सी स्त्रियाँ वच्चों को दूध पिलाती हुई भाग रही थीं। और वहुत-सी स्त्रियाँ हाथों में करछुल, वेलन, टीन की चिमनी इत्यादि, यानी जो भी हाथ पड़ा, उसे लेकर भाग रही थीं।

मेरा कलेजा धक-धक करने लगा। सशंकित मन से, आने वाले संकट की वाट जोहती हुई मैं दरवाजे में खड़ी हो गई। इसी समय साहव के रूप में वह संकट दरवाजे के सामने आ धमका। उस साहव के साथ पटेल, पटवारी, नायक इत्यादि और कुछ लोग थे। घर के द्वार खुले ही थे।

उसने पूछा, 'घर में कौन है ?'

'कोई नहीं। सब औरतें तुम्हारे आगमन का समाचार पाकर भाग गईं।'

'कोई बीमार है क्या ?'

'कोई नहीं। चाहो तो भीतर जाकर देख लो!'

उस आदमी ने थोड़ा इधर-उधर झाँका और वहाँ से आगे बढ़ गया। मेरी जान में जान आई। धीरे-धीरे सब लोग वापस लौट आए। मेरे भाई इस बात का पता लगते ही जल्दी-जल्दी से खेत से लौट आए।

जनेऊ में मुझे बहुत-से रुपए मिले थे। वे अब मेरे पास कुलबुलाने लगे। मैंने भाई से कहा—'मेरे पास साठ-सत्तर रुपए हैं। मैं अब मूंगफली के बोरे खरीदूंगी। पैसे से पैसा बढ़ता है। इस व्यापार में लाभ होगा। फिर दत्तू की पढ़ाई के लिए मुझे रुपयों की चिंता नहीं करनी पड़ेगी।' भाई ने कहा— 'यह तुमसे न हो सकेगा। तुम्हें कोई कल्पना नहीं कि यह काम कितना कठिन है। इससे तो तुम अपने रुपए ब्याज पर लगा दो।' उनकी बात मुझे जँच गई और मैंने धीरे-धीरे उन्हींको जब-जब ज़रूरत पड़ी, तब-तब, अपने सारे रुपए क़र्ज़ के रूप में दे डाले। वे रुपए और उनका ब्याज अभी तक मुझे उनसे वसूल करना बाकी है।

दत्तू का स्वास्थ्य पंढरपुर में जैसा था, वैसा यहाँ न रहता था। उसे जूड़ी-बुखार आने लगा और दिन में दो-तीन बार ठंड लगने लगी। उसके मामा ने बहुत उपाय किए, पर कोई लाभ न होता था। मैं कहती—'नागपुर और पंढरपुर में दत्तू कैसा अच्छा रहता था ? यहीं वह क्यों अच्छा नहीं रहता ? जिसकी ज़िंदगी के सहारे मुझे अपना जीवन बिताना है, वही यदि यहाँ अच्छा नहीं रहता, तो यहाँ रहकर मैं क्या करूँ ?' पर, जाऊँ कहाँ ? तिलक के भय से घर के लोग मुझे कहीं न जाने देंगे। आखिर पंढरपुर अपने देवर के घर जाने को मेरा मन करने लगा। परंतु जाऊँ कैसे ? पास में जितने रुपए थे, वे सब भाई को कर्ज़ में दे रखे थे! तिलक से यदि रुपए माँगूं, तो

नगर में पेंडसे हैं। वहाँ हाल ही में मामा भी गए हुए हैं। तिलक ने यदि उनसे कह दिया तो ? अंत में मैंने तिलक ही को पत्र लिखा कि मैं आपको एक गुप्त बात लिखना चाहती हूँ। पहले वचन दीजिए कि आप वह किसी से न कहेंगे।

पत्र देखते ही तिलक ने उत्तर भेजा—'मनुष्य भूल करने वाला प्राणी है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों से भी भूलें हुई हैं। जो हो गया है, उसके लिए दुःख न करो। तुम्हें यदि तुम्हारे सब रिश्तेदार अथवा सारी दुनिया छोड़ दे, तो भी मैं तुम्हें कभी न छोड़ूँगा। तुम यदि चाहो, तो मैं तुम्हें लेने आ जाऊँ। स्वास्थ्य की ओर ध्यान देती रहो !'

पत्र का यह उत्तर ! मैं तो बिलकुल हतबुद्धि ही हो गई। हँसू या रोऊँ, कुछ समझ ही न पाती थी। एक तरह से संतोष इस बात का हुआ कि मेरे प्रति उनका अगाध प्रेम है। मैंने वापसी डाक से तुरंत उन्हें लिखा—'मुझसे कोई भूल नहीं हुई। मेरे रिश्तेदारों ने मेरा परित्याग नहीं किया। दुनिया ने भी मुझे नहीं छोड़ा है। परंतु, तीन महीने से दत्तू को बुखार आ रहा है। मैं उसे पंढरपुर ले जाना चाहती हूँ। परंतु पास में रुपए नहीं हैं। और यदि यह पता लग गया कि मैंने रुपए मँगाए हैं, तो रिश्तेदार मुझे जाने न देंगे। इसलिए, इस बात को किसी से न कहकर तीन व्यक्तियों का पंढरपुर का किराया भेज दीजिए। मैं देवरजी के घर जाऊँगी।'

उन्होंने तुरंत रुपए भेज दिए और यह भी लिखा कि वह हर महीने दस रुपए लाला जी के घर भेजते रहेंगे।

रुपए प्राप्त होते ही मैंने तुरंत पंढरपुर जाने की तैयारी की। बुआजी दत्तू के लिए चिंता करती रहेगी, इसलिए उन्हें भी साथ ले लिया।

भाई मेरे जाने के विरुद्ध था। वह कहता—'जिसने जनेऊ में एक पैसे की भी मदद नहीं की, उसके पास तुम्हारा बिना बुलाए जाना मुझे पसंद नहीं है। तुम अगर अपनी ज़िद से जा रही हो, तो फिर मुझे कभी मुँह न दिखाना।' मैंने कहा—'मैं कोई शौक से नहीं जा रही हूँ। दत्तू के

लिए मुझे जाना ही चाहिए।' भौजाइयाँ कहने लगीं—'दत्तू के लिए जाना चाहती हो, तो जाओ। परंतु, तुम हमारे लिए बिलकुल भारी नहीं हो। पर हाँ, तिलक के पास कदापि न जाना।'

मैंने जलालपुर छोड़ा और बैलगाड़ी से नासिक पहुँची। वहाँ एक रात मैंने अपने मौसेरे भाई के घर बिताई। वह भी मेरे पंढरपुर जाने के विरुद्ध ही था। वहाँ बहुत-से लोगों ने मेरे जाने में रुकावट डाली। परंतु मैं कहती—'मुझे दत्तू के स्वास्थ्य की ओर देखना ही चाहिए।'

दत्तू के शरीर में ज्वर था। स्टेशन पर प्लेग की जाँच हो रही थी। परंतु मुझे इसका पता न था कि ऐसी कोई जाँच हो रही है। आखिर शाम को मैं गाड़ी में बैठी। गाड़ी की तरह ही मेरा मन भी दौड़ रहा था। साँस ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी। मैं सोच रही थी कि 'दत्तू का स्वास्थ्य अच्छा हो जाय, तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँ। भाई के कथनानुसार उसे मुँह दिखाने का मौका न आय। बस, मैं सब-कुछ पा जाऊँगी।'

दूसरे दिन सुबह लगभग नौ बजे गाड़ी अहमदनगर स्टेशन पर जा खड़ी हुई। चूँकि तिलक नगर में थे, इसलिए, कुतूहलपूर्वक और आतुरता से मैं प्लेटफ़ार्म की ओर देखने लगी। इसी समय एक महिला हमारे डिब्बे की ओर आई। वह कुछ भिन्न ही दिखाई दे रही थी। कोई डिब्बे में आवे, तो उसे जगह दे देने की मेरी हमेशा ही की आदत है। परंतु उस महिला को तो मैंने नज़दीक ही बुला लिया। उसकी वह बिना काँछ की साड़ी, चूड़ियों तक की आस्तीन वाली जाकिट, हाथ में दो-दो चूड़ियाँ, बिना कुंकुम का मस्तक और शुद्ध मराठी भाषा—यह सब देखकर मुझे शक हुआ कि कहीं यह ईसाई तो नहीं है और इसीलिए मैंने उसे अपने पास बुला लिया था। बुआजी और साथ में लाई गई काशीबाई दत्तू के साथ दूसरी तरफ़ की बेंच पर बैठी थीं, इसलिए मैं निश्चिन्त थी। बात यह है कि बुआजी थीं बड़ी हड़बड़िया, कुछ भी कहीं बक दें। और मुझे तो उस महिला से तिलक की जानकारी प्राप्त करनी थी। मैंने धीरे-धीरे उस महिला से बातें करनी शुरू कीं।

'वहन जी, आप कहाँ जा रही हैं ?'

'केडगाँव।'

'नगर में आपके कौन हैं ?'

'नगर में हमारा घर है। केडगाँव में मेरी वहन हैं। उससे मिलने जा रही हूँ। पर, आप रोती क्यों हैं ?'

'इसलिए कि इस वच्चे की पीठ पर जो वच्चे होते हैं वे वचते नहीं और आज इसकी भी तवीयत अच्छी नहीं है।'

'आप कहाँ से आ रही हैं ?'

'राजनादगाँव से।'

'जाना कहाँ है ?'

'पंढरपुर। देवर के पास। देखूँ, वहाँ शायद वच्चे को आराम मिले।'

'आपका नाम क्या है ?'

'मनू।'

'कुल-नाम क्या है ?'

'जोशी।'

'राजनादगाँव में तिलक थे। उन्हें आप जानती हैं क्या ?'

'हाँ, पर वह तो अव ईसाई हो गए हैं। वहाँ हमारे पास-पड़ोस ही में रहते थे।'

'मैं भी तो ईसाई ही हूँ।'

और फिर उस महिला ने तिलक के वारे में दिल खोलकर मुझसे बातें करनी शुरू कीं। दत्तू को ज्वर तेजी से चढ़ने लगा। मैंने उस महिला से पूछा—'क्यों वहन जी, इसका ज्वर तो वढ़ रहा है और अव आगे जाँच होगी! अव क्या करूँ ?' उसने कहा—'उसके हाथ-पाँव में ठंडा पानी लगाओ और हवा लगने दो। फिर जाँच के वक्त तकलीफ़ न होगी।'

'आप कहाँ उतरेंगी ?'

'दौंड।'

'आपको जब वहीं उतरना है, तो फिर मुझे दूसरी गाड़ी में बिठा दीजिए न!'

'अजी, गाड़ी बदलना कौन बड़ी मुश्किल बात है! यह गाड़ी जायगी। बाद में जो दूसरी गाड़ी आयगी, वही पंढरपुर जायगी। कुली से कह देना वह बिठा देगा।'

'आपका नाम क्या है?'

'राजस कुकडे।'[1]

इस तरह बातें करते-करते हम दौंड तक आईं। जैसा इस महिला ने कहा था, वैसा मैंने दत्तू पर प्रयोग किया। अब उसका शरीर गरम नहीं था। डिब्बे से वह महिला उतर ही रही थी कि मैंने उसका हाथ कसकर पकड़ लिया।

'मेरा ठीक से इंतजाम कर दीजिए। आपने पहचाना, मैं कौन हूँ?'

'मैं कैसे पहचान सकती हूँ?'

'जिन तिलक के बारे में आप इतनी देर तक बातें कर रही थीं, उन्हीं तिलक की मैं पत्नी हूँ!'

यह जानने पर कि मैं ही लक्ष्मीबाई तिलक हूँ, राजसबाई की हालत बड़ी अजीब-सी हो गई। शायद उन्होंने यह सोचा हो कि इतनी देर से मैं तिलक के बारे में जो बातें कर रही थी, उनमें मैंने कहीं कुछ अनुचित तो नहीं कह दिया। परंतु जब उन्हें यह पता चला कि मैं कौन हूँ, तब उन्होंने मेरा सारा प्रबंध कर दिया और फिर वह केडगाँव चली गईं। हमारे गाड़ी से उतरते ही एक मोटे रस्से के बड़े घेरे में हमें बंद कर दिया गया। गाड़ी के सारे डिब्बों में ताला लगा दिया जाता था और हर डिब्बे के आगे डॉक्टर, पुलिस वाले सिपाही इत्यादि खड़े होकर

---

१. बंबई के कॉरोनर राव बहादुर आठवले की धर्मपत्नी श्रीमती राजसबाई आठवले का मायके का नाम।

अपने आस-पास रस्से का एक घेरा वना लेते थे। फिर जिस तरह काँजी हौस में पशु छोड़ते हैं, उस तरह उस डिब्बे के लोगों को उस रस्से के घेरे में छोड़ देते। फिर डॉक्टर सबकी जाँच करता और जो मुसाफिर उसकी जाँच में पास हो जाते, उन्हें जाने की इज़ाज़त देता। हमारे घेरे की जाँच भी इसी तरह हुई। मुझे दत्तू के बारे में बड़ी आशंका थी, परंतु उसके हाथ-पाँव ठंडे कर दिए जाने के कारण वह पास हो गया और हम कुर्दवाडी की गाड़ी की प्रतीक्षा में दूसरी तरफ़ जा वैठे। ठीक समय पर वह गाड़ी आई और रात को दस वजे हम कुर्दवाडी स्टेशर पर पहुँचे। गाड़ी से उतरते ही पंढरपुर के पंडों ने हमें घेर लिया। मैंने उनसे कहा—'हमें तिलक के घर जाना है। हम कोई यात्री नहीं।' तव वे चले गए। वैलगाड़ी तय की गई। गाड़ीवान ने कहा—'चन्द्रमा के उदित होते ही गाड़ियाँ चलेंगी, तव तक आप लोग धर्मशाला में सोइए। हम आपको वक्त पर वुला लेंगे।'

हम धर्मशाला में जाकर सो गए। इस समय मेरे पास नकद और जेवर मिलाकर हजार-वारह सौ का माल था। नथ ही तीन सौ की थी। इस माल की गठरी मैंने अपने सिरहाने रख ली थी। वुआजी वीच में सोई थीं। सफ़र की तकलीफ़ के कारण जल्द आँख लग गई। नींद आने के वाद किसी ने मेरे पैर में चिकौटी काटी। मैंने यह सुना था कि पैर में चिकौटी काटने से जव मनुष्य उठता है, तव चिकौटी काटने वाला सिरहाने रखे हुए माल को ले भागता है। इसलिए मैं उठी नहीं। यों ही पड़ी रही और पड़े-पड़े ही वुआजी से मोमवत्ती जलाने को कहा। फिर माल की गठरी को छाती से चिपकाकर उठ वैठी। पैर के पास एक आदमी खड़ा था। उससे मैंने डाटकर पूछा—'तू कौन है रे? पुलिस वाले को वुलाऊँ क्या?' वह वोला—'वाई, मैं मुसाफ़िर हूँ। आप सोइए। चन्द्रमा के उदित में अभी विलंव है।' परंतु, चोर की वात पर कौन विश्वास करे? हमने वचा हुआ समय वैठे-वैठे ही काटा।

अव हमारी वुआजी को वातें करने की सूझी और वह अपने वैभव की

बातें करने लगीं। मैं उन्हें मना कर रही थी, पर वह अपने, पेंडसे के और मेरे जेवरों के बारे में गप्पें हाँके जा रही थीं।

चन्द्रोदय हुआ। गाड़ी चली। परंतु, अकेली वही एक गाड़ी थी। अकेली चली जा रही थी। हमारी गाड़ी के पीछे एक मनुष्य लगातार दौड़ रहा था। मैंने उससे पूछा—'दौड़ते क्यों हो?' वह बोला—'आगे चोरों का भय है, इसलिए मैं आ रहा हूँ तुम्हारे साथ।' मतलब यह है कि स्वयं चोर ही चिल्ला रहा है कि आगे चोर मिलेंगे! मैंने कहा—'अरे बाबा, चोर हमें क्या तंग करेंगे और हमारे पास से क्या ले जायँगे? हम तो जा रही हैं पंढरपुर के अन्न-छेत्र में रोटियाँ सेंकने। तुम क्यों फ़िज़ूल थक रहे हो?' इसके बाद हमारा संरक्षक पीछे रह गया और हमारे पीछे लगी हुई एक चिन्ता दूर हुई।

लाला जी को मेरा और तिलक का पत्र मिल ही गया था। इसलिए वह और मेरी देवरानी हमारी प्रतीक्षा ही में थे। उन दोनों ने रीति से अनुसार मुझे प्रणाम किया और कहा—'घर आप ही का है। हमें दत्तू की तरह ही समझिए।'

देव-पूजा और ब्राह्मण-भोजन हो जाने पर बुआजी और साथ की दूसरी स्त्री लौट गईं। मुझे मेरे देवर और भौजाई ने घर के बड़े-बूढ़े की तरह बड़े मान-सम्मान से रखा। हम दोनों (देवरानी-जिठानी) का आपस में कभी कोई झगड़ा नहीं हुआ। इसके विपरीत यदि कोई कुछ कहने या माँगने आता, तो रखमाबाई मेरी ओर अँगुली दिखा देतीं और कहतीं—'उनसे पूछो। मैं मालकिन नहीं हूँ।' घर का सारा प्रबंध मेरे हाथ में सौंपकर, वह मेरी मातहती में काम करने लगी। यहाँ भी मेरी देव-पूजा बड़े ज़ोरों से और सख्ती से चल रही थी।

अब मुझे सारी चिन्ता दत्तू की थी। उसे स्कूल में भरती करा दिया था। फिर भी सुबह-शाम मैं उसे पढ़ाती। वह नियमपूर्वक पाठशाला जाता।

अपने वचनानुसार तिलक ने दस रुपये का मनीआर्डर भेजा। हमारा पत्र-व्यवहार ज़ोरों से हो रहा था। बीच-बीच में उनके उलटे-सीधे पत्र

आते। मैं मंदिर में बैठकर घंटों रोती रहती। दिन में एक ही बार खाना खाती, इसलिए समय बहुत था।

कभी-कभी लोग मुझसे चुभती हुई बातें कह देते। उस समय मुझे बहुत बुरा लगता। किसी-किसी के वाग्बाण तो इतने पैने होते कि हृदय चीरकर बाहर निकल जाते। इसमें कभी देवर भी हाथ बँटाते। इस कारण, मेरा मन बिलकुल बौखला उठा था। क्या करूँ ? कुछ उपाय ही नहीं सूझता था।

एक दिन मैंने लालाजी से कहा—'तुम्हें मुझ पर दया आती है क्या ? मुझसे अब बरदाश्त नहीं होता। तुम एक काम करोगे क्या ?'

'मैं क्या करूँ ? आप बताइए !'

'तुम सबको पत्र भेजो कि मैं दत्तू को लेकर भाग गई। मुझे अब यश-अपयश की कोई परवाह नहीं है। अब मैं सबसे ऊब उठी हूँ। बहन की जो चीज़ें मेरे पास हैं, उनकी सूची बना लो। वे सब चीज़ें मैं तुम्हारे पास रखे देती हूँ। वह यह न कहे कि खुद भी गई और माल भी ले गई।'

'आप जायँगी कहाँ ?'

'जहाँ रास्ता ले जायगा, वहाँ जाऊँगी। पहुँचने के बाद वहाँ से तुम्हें पत्र भेजूंगी। कहाँ जाऊँगी, यह मैंने अभी निश्चित नहीं किया है। मैं दत्तू की ओर देखकर दिन काट रही हूँ। उसे पढ़ाकर मैं किसी तरह अपना पेट भर लूंगी। कम-से-कम कुछ दिन के लिए तो मैं सब लोगों की यंत्रणा से छुटकारा पा जाऊँगी।'

लाला जी को मेरा विचार पसंद आया ! पिछले दिन विठोवा के मंदिर में मुझे एक महिला मिली थी। मुझे रोती देखकर वह मेरे पास आई और बड़ी सहानुभूति से उसने मेरी करुण कहानी सुनी। उसकी कहानी भी करुण ही थी। वह बिलकुल वृद्धा थी। उसके पति उससे भी अधिक वृद्ध थे। उनके इकलौते लड़के का हाल ही में स्वर्गवास हो गया था। वृद्धावस्था में उनका अपना कोई नहीं बचा था। तीर्थ-यात्रा करते-करते पंढरपुर आई थी। दूसरे ही दिन गाणगापुर जाने का उसका इरादा था।

वह अपना शेष जीवन गाणगापुर ही में बिताने वाली थी। मेरी करुण कहानी सुनकर उसकी आँखों में आँसू भर आए। मैंने उससे कहा—'मैं जवान हूँ। मुझे कम-से-कम कुछ दिन के लिए किसी के आश्रय की ज़रूरत है। मुझे तुम अपने साथ ले चलो। अनयास मुझे दत्तात्रेय भगवान् की सेवा करने का भी अवसर मिल जायगा। तुम मेरी धर्म की माँ बनो। मेरे लिए कुछ दिन गुप्त-वास करने के सिवा और कोई चारा नहीं है।'

वह महिला मेरी बात मान गई। दूसरे दिन लाला जी से मेरी उपर्युक्त बातें हुईं। बाद में सबकी सम्मति से मैंने जाने का निश्चय किया और अपना सामान बाँधने लगी। जिस शाम को हम जा रहे थे, उसके पहली सुबह लाला जी के पास तार आया—'गोसाईज़ फ़ादर कमिंग।' नीचे दस्तख़त वगैरह कुछ न थे। सब असमंजस में पड़ गए कि यह गोसाईं का बाप कौन आ रहा है? परंतु, दूसरे दिन तिलक आ उपस्थित हुए। उनका तार असल में यों था—'गोड सेज़ फ़ादर कमिंग।' अर्थात्—'मुझे ईश्वर से आदेश मिला है कि जाओ और मैं आ रहा हूँ।' परंतु तार-आफ़िस में ईश्वर को अथवा उसके आदेश को कौन पूछता है? तार का संदेश प्राप्त करने वाले ने सोचा कि शायद यही मज़मून होगा कि गोसाईं का बाप आ रहा है और उसने उसी तरह का तार लिखकर लाला जी को थमा दिया।

तिलक वाई से पंढरपुर आए थे। बात यह हुई कि वाई में आशम्मावाई शेख उमर नाम की एक बड़ी शरीफ़, देव-भीरु और स्नेहमयी महिला रहती थीं। तिलक उन्हें 'माता जी' कहा करते थे।

महाबलेश्वर से लौटते समय और महाबलेश्वर जाते समय वह अपनी इन माताजी से बिना मिले और बिना चार दिन उनके घर रहे आगे नहीं बढ़ा करते थे। आशम्मावाई के पति और बाल-बच्चे सब मर चुके थे। परंतु अपने नाम की तरह वह मूर्तिमती आशा थीं। महाबलेश्वर से लौटते समय तिलक आशम्मावाई के यहाँ ठहरे थे। रोज़ सुबह-शाम वे दोनों मेरे

लिए परमेश्वर से बड़े आग्रह के साथ प्रार्थना करते थे। एक दिन उन्होंने अत्यधिक आग्रह से प्रार्थना की— 'देव, हमारे लिए नहीं, तो तू अपने गौरव के लिए ही उन माँ-बेटों को ले आ।' प्रार्थना के बाद आशम्मावाई ने तिलक को दस रुपये देकर कहा, 'तुम तार दो और इसी समय पंढरपुर जाओ। लक्ष्मीवाई निश्चित रूप से आ जायँगी।' दोनों ने समझा कि तिलकनगर न जाकर सीधे पंढरपुर जायँ, ऐसा ईश्वरीय आदेश आया है। तदनुसार, तिलक चल पड़े और मेरे गाणगापुर जाने के बारह घंटे पहले पंढरपुर आ पहुँचे।

तिलक को देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। गाणगापुर जाने के मेरे सारे इरादे जहाँ-के-तहाँ समाप्त हो गए। मेरे दो-तीन दिन बड़े आनंद में बीते।

पेंडसे के समय के एक मुंशी पंढरपुर में थे। यह पता लगते ही कि तिलक आए हैं, उन्होंने मुझे बुलवा लिया। मैं गई। वह बोले, 'तुम्हें यदि यहाँ से जाना हो, तो जलालपुर जाओ। मैं तुम्हें रुपए देता हूँ। यदि तिलक के साथ गई, तो याद रखो कि मैं जैसा उचित समझूँगा, वैसा करूँगा!' मैंने कहा, 'मैं जलालपुर नहीं जाऊँगी। वहाँ दत्तू बीमार पड़ जाता है। मैं यहीं रहूँगी।' मुंशीजी ने जाते-जाते इनसे ताकीद की, 'देखो, सँभलकर रहना!'

घर आते ही तिलक ने पूछा, 'तुम्हें क्यों बुलाया था वहाँ?' मैंने कहा, 'यों ही!' 'यों ही कैसे? मुझे क्यों नहीं यों ही किसी ने बुलाया?' वह बिलकुल मेरी कनपटी से लग गए, तब मैंने जो कुछ बातें हुईं थीं, वे सब उन्हें कह सुनाईं।

इसके दो दिन बाद उस मुंशी का पंढरपुर से तबादला हो गया। एकाएक यह तबादला कैसे हुआ, यह पहेली अंत तक हल न हुई।

सखाराम लालाजी ने सबसे बोलना बंद कर दिया। पत्नी, भाई, भौजाई, दत्तू, यही नहीं, बल्कि अपनी ग्यारह-बारह महीने की लड़की से भी उन्होंने मौन धारण कर लिया। मैं और मेरी देवरानी इसका कोई कारण ही नहीं समझ पा रही थीं। वह नहीं बोलते थे, इसलिए आप-ही-

आप घर में सभीने मौनव्रत धारण कर लिया। धीरे-धीरे सब इस स्थिति से ऊब उठे। अंत में तिलक ने बोलना शुरू किया। वह बोले, 'दत्तू की शिक्षा का मुझे प्रवंध करना चाहिए। यही उसकी पढ़ाई की उम्र है। एक बार यदि पढ़ाई पिछड़ गई, तो ज़िंदगी-भर का उसका नुकसान हो जायगा। तुम मेरे साथ नगर चलो। मैं तुम्हारे लिए एक अलग मकान ले दूंगा।' मैंने कहा, 'नगर जाने ही की क्या ज़रूरत है ? यहीं एक अलग मकान ले दो। मैं यहाँ रहूँगी।'

'तुमने तो ऐसा बीड़ा ही उठाया है। सारा जीवन निकल गया, पर मैंने कहा और तुमने मान लिया, ऐसा कभी हुआ हो, यह मुझे याद नहीं आता। अभी तक मैंने तुम्हारी बात मानी। अब मैं नहीं मानूंगा। तुम्हारी सनक के पीछे मुझे अपने लड़के का नुकसान नहीं करना है। आज साढ़े पाँच बजे तक का समय तुम्हें मैं देता हूँ। इस अवधि में, जो तुम्हें निश्चित करना हो, कर डालो। साढ़े पाँच साल तक मैंने तुम्हें सोचने का वक्त दिया। अब और अधिक समय नहीं दे सकता। मैं दत्तू को ले जाऊँगा। तुम यदि मुझे न ले जाने दोगी, तो मेरे लिए दूसरे रास्ते खुले हैं।' उनका स्वर बोलते-बोलते तीव्र होने लगा। अंत में बिलकुल पंचम तक पहुँच गया।

हम दोनों घबरा गए और एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। तिलक ने पुनः डाटकर कहा, 'मैं साढ़े पाँच बजे तक का तुम्हें समय देता हूँ। वरना एक हफ़्ते के भीतर मैं क्या कर सकता हूँ, यह तुम्हें दिखा दूंगा' यह कहकर वह टहलने चले गए। मैं उठकर रसोईघर में गई। जैसे जंगल में चारों तरफ़ आग लगी हो, ऐसा मुझे लगने लगा। ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे चारों ओर दावानल भड़क रहा है। इसी समय मेरी देवरानी भीतर आई। उसने मेरे गले में बाँहें डाल दीं। फिर हम दोनों खूब रोईं।

'जीजी, मुझे बताइए, मैं आपके लिए क्या कर सकती हूँ ? आप जो कहेंगी, वह करने को मैं तैयार हूँ।'

'तुम क्या करोगी ? भगवान् को जो करना होगा, वह करेगा। सभीने मुझे चारों तरफ़ से घेर लिया है। तुमने सब सुना ही है। उसका अर्थ यह

है कि मैं लड़के को लिये जाता हूँ और तू दूसरों के घर मेहनत-मज़दूरी करती रह !'

'जीजी, इससे अच्छा तो यही है कि आप उनके साथ चली जायँ। वह आपसे ईसाई होने को तो कहते ही नहीं हैं और यदि वैसा मौका आ भी जाय, तो मुझे पत्र भेज देना। मैं आपको रुपये भेज दूंगी।'

'तुम कहाँ से लाओगी रुपये ?'

'मैं चाहे जो करूँगी। आपको कोई भी ठीक सलाह नहीं देता। इन्हें यह रास्ता बुरा नजर आता है, उन्हें वह रास्ता बुरा नज़र आता है। बीच में आप पिसी जा रही हैं। कोई कहता है कि ईसाई बनने पर दूसरा विवाह कर देते हैं। गोश्त पकवाते हैं। क्या हम किसी का मुँह पकड़ सकते हैं? आप किसी भी हालत में और किसी भी समय यहाँ लौट सकती हैं। मैं अपने मुँह का कौर निकालकर आपको दूंगी। जिस तरह मेरा अधिकार इस घर में है, उसी तरह आपका भी है। उनके भाई यहाँ आते हैं। फिर मेरी जिठानी को क्यों नहीं आना चाहिए ?'

शाम को दोनों भाई एक साथ ही घर लौटे। कोई कुछ न बोला। भोजन एक साथ नहीं हुआ। दूसरे दिन रखमाई ने मेरी तैयारी करनी शुरू की। उसने इतना सामान बाँध दिया कि वह एक हाथ से नहीं उठ सकता था। नमक-मिर्च से लेकर "मेतकूट"[1] तक सब-कुछ उसमें था। सामान बाँधते समय वह रो रही थी।

हम दोनों ने सखाराम लालाजी से पूछा कि क्या हम जायँ ? उन्होंने कानों पर हाथ रख लिए। यही उनका भाषण था। रखमाई ने मुझे नहलाया। उस समय वह लगातार रो रही थी। एक ओर वह कह रही थी, 'अब मैं मालू के विवाह में किसे प्रणाम करूँगी ? मेरी जिठानी मेरे लिए आज ही मर गई !' इत्यादि।

---

१. चावल, दालें, राई, मेथी आदि पीसकर बनाया गया आटा। इस आटे को दही में मिलाने से जो चटनी बनती है, उसे 'मेतकूट' कहते हैं।

गाड़ी आई। गाड़ी में तिलक, मैं और दत्तू बैठ गए। गाड़ी के आते ही लालाजी बाहर चल दिए। रखमाई 'सोला' पहने हुए थी। उसी हालत में माली को गोद में लिये वह नंगे पाँव गाड़ी के पीछे चल पड़ी। लालाजी से बिना पूछे ही हम चल पड़े। तिलक अपनी अनुज-वधू को लगातार समझा रहे थे और लौट जाने को कह रहे थे। वह लगातार जता-जताकर कह रही थी, 'मेरी जिठानी को सँमालना। दत्तू को सँभालना।' वह कह रहे थे, 'तुम्हारी वह जिठानी है, परंतु मेरी पत्नी है। तुम्हें जब उसके लिए इतना दुःख होता है, तब मुझे कितना दुःख होता होगा, इसकी कल्पना करो।' मैं लगातार विठोबा के मंदिर की ओर टकटकी लगाए बैठी थी। कुछ दिनों से वही मेरी शान्ति का केन्द्र हो गया था। मैं मन-ही-मन कह रही थी, 'भगवन्, मैं अपने दोनों हाथों में दो मशालें लिये कुंड में कूद रही हूँ। तुम चाहे तारो, या मारो। परंतु किसी की शरण में जाने का मौका न आने देना।' मैं लगातार रो रही थी। यद्यपि तिलक ऊपर से कठोर मुद्रा धारण करने का प्रयत्न कर रहे थे, फिर भी हृदय स्वभावतः अत्यन्त मृदु होने के कारण वह हम दोनों की दशा देखकर विह्वल हो रहे थे। दत्तू को बैठने के लिए गाड़ी मिली, इसलिए उसे बड़ी खुशी हो रही थी। आगे चलकर तो उसे बैठने को रेलगाड़ी मिलने वाली थी। जहाँ तक आ सकती थी, वहाँ तक रखमाई हमारे पीछे जल्दी-जल्दी से कदम उठाती हुई आई। आगे हमारी गाड़ी ज़ोर से हाँकी गई। रखमाई गाड़ी की ओर देखती हुई खड़ी रही और थोड़ी देर में वह दृष्टि से ओझल हो गई। मेरी सिस़कियों का ताँता लग गया। तिलक बोले, 'यह पगली-जैसी क्या कर रही हो? मैं तुम्हें कभी ज़बरदस्ती ईसाई नहीं बनाऊँगा। मुझे वह धर्म पसंद आया इसलिए मैंने उसे स्वीकार किया। तुम्हें यदि वह पसंद आ जाय और तुम ईसाई हो जाओ, तो मुझे खुशी होगी, परंतु मैं तुम पर ज़बरदस्ती कभी न करूँगा। उस धर्म के बारे में तुम्हें जो बातें मालूम हुई हैं, वे बिलकुल झूठ हैं। न तुम्हारा किसी के साथ विवाह किया जायगा और न तुम्हें गोश्त पकाना पड़ेगा। किसने भर दी हैं ये बातें तुम्हारे दिमाग में? डॉक्टर ह्यूम

साहव का आज ही पत्र आया है कि उन्होंने तुम्हारे रहने के लिए पच्चीस रुपये माहवार किराये का एक मकान ले लिया है। वह ब्राह्मण ही का घर है। उसमें वर्तन-भाँडे आदि गृहस्थी का सब सामान लाकर रख दिया गया है। इसके के साथ ही, पेंडसे के घर के पास ही वह है। व्यर्थ क्यों रो रही हो?'

तिलक ने जो कुछ कहा, मुझे सचमुच उसीके अनुसार अनुभव भी हुआ। आज पैंतीस साल से वह हो रहा है। हमारे घर में कभी गोश्त नहीं पकता।

कुर्डुवाडी में तिलक ने हम लोगों के लिए कुछ फल आदि ला दिए। उनका क्या? वह तो घुस गए एक "मुल्ला ब्राह्मण" के होटल में! वाद में गाड़ी आई और हमें लेकर चल दी। तीन वजे हम नगर पहुँचे। जैसे-जैसे स्टेशन नज़दीक आने लगा, वैसे-वैसे मेरा और दत्तू का कलेजा धक्-धक् करने लगा। हमारी यह कल्पना थी कि हमारे आने की पेंडसे को कोई खवर न होगी। परंतु जिसका डर था वही वात सामने आ धमकी। गाड़ी स्टेशन पर खड़ी हो ही रही थी कि हमारे ही डिव्वे के सामने नाना साहव पेंडसे, काकासाहव मिरीकर आदि लोग खड़े हुए दिखाई दिए। उन्होंने कहा कि कोई शायद आ रहा था, या जा रहा था, इसलिए वे स्टेशन आए हैं। उन्हें देखते ही मेरे और दत्तू के कदम नहीं उठे। तिलक विलकुल निर्भयता से निकले। पेंडसे ने मुझे देखते ही पूछा, 'मनू, तू यहाँ कैसे आई है?'

'दत्तू की पढ़ाई के लिए मैं यहाँ आई हूँ। उसका स्वास्थ्य ठीक न था। मैं यहीं घर लेकर रहने वाली हूँ।'

'अच्छा, तो अभी तू कहाँ जायगी।'

'जहाँ आप कहें, वहाँ।'

नाना साहव ने मुझे और दत्तू को, मय सामान के, अपन घर भेज दिया। तिलक अपने घर चल दिए।

आज का मेरा स्वागत कुछ नए ही प्रकार का था। घर में गई, तो कोई नज़र नहीं आया। येसू छोटी थी। वही आगे वढ़ी और मुझसे पूछने

लगी, 'मौसी तुम कैसे आई ?' मैंने सिर्फ़ 'यूँ ही' कहकर उसे समझा दिया। मैंने अपनी कोरी साड़ियाँ, धोतियाँ, चोलियाँ, जेवर आदि बहन को वापस कर देने के लिए येसू के सुपुर्द कर दिए। सफ़र के अशुद्ध कपड़े धोने के लिए एक ओर रख दिए। रसोइए ने पानी गरम कर दिया। स्नान करके दूसरे दिन के लिए एक साड़ी अपने नए घर में ले जाकर सूखने को फैला दी। मेरा नया घर समीप ही था। उसे येसू की सहायता से खोज लिया।

वहाँ जाते ही स्त्रियों का ताँता लग गया। सबने मुझे आकर घेर लिया। कोई आँखों से, कोई अँगुलियों से, तो कोई सिर्फ़ गर्दन से एक-दूसरी को इशारे कर रही थी। उनका खयाल था कि मैं कुछ नहीं समझ रही हूँ, परंतु मैं उनकी एक-एक बात समझ रही थी।

मैंने अपनी नई गृहस्थी देखी। डॉक्टर ह्यूम साहब को पंढरपुर से तिलक ने लिखा था और उन्होंने एक ब्राह्मण के घर में कुछ कमरे लेकर मेरी यह गृहस्थी जमा रखी थी। उसमें थालियों और कटोरियों की जगह प्याले और तश्तरियाँ थीं, और करछुल आदि की जगह काँटे, चम्मच और छुरियाँ थीं। मैंने इन चीज़ों को ज़िंदगी में पहले कभी न देखा था। साड़ी फैलाकर लौटी, तो तिलक का संदेशा आया, 'चाय चाहिए!' अब क्या है ? इस गृहस्थी पर तिलक का हक था और औरत पर भी। परंतु घर तो किराये का था। उस पर उनका हक नहीं था। मैंने उनके लिए चाय बना दी। तिलक बोले, 'तुम अब थक गई हो, इसलिए पेंडसे के घर जाकर ही खाना खा लो। मैं शाम को खाना खाने नहीं आऊँगा। कल आऊँगा। मेरे जाने से पहले मालिक-मकान ने उनसे कहा था कि 'आप मेरे घर न आया करें। यदि आप यहाँ आना चाहते हों, तो यह मकान छोड़ दीजिए और कोई दूसरा देख लीजिए।' परंतु तिलक ने मुझसे यह नहीं कहा था। मैं पेंडसे के घर गई और तिलक अपने घर चले गए। मैं अपने मन के लड्डू खा रही थी कि यह बड़ा अच्छा हो गया। मैं और भिकूताई दोनों नज़दीक-नज़दीक रहेंगी। पेंडसे के घर गई, तो वहाँ

हो चुका था। मुझसे कोई बात ही न करता था। चूल्हे पर एक बड़े भारी पतीले में "गुळांवा" पक रहा था। रसोइए ने मेरे सामने एक थाली रखी। उसमें बाजरे की रोटी का चतुर्थांश और थोड़ा-सा नमक परोस दिया गया। मेरे पास कोई खड़ा भी न रहा! मेरी आँखों से अविरल अश्रु-धारा बह रही थी। दत्तू भोजन करके शान्ति से सोया था। तिलक अपने घर खा-पीकर आराम से बैठे लिख रहे होंगे।

तिलक का स्वभाव ही ऐसा था कि शायद ही कभी कोई चिन्ता उन्हें सताती थी। मालिक-मकान ने जब उनसे दूसरा मकान देखने के लिए कहा, तब वह अपने मन को आप ही समझाने लगे कि यह भी एक ईश्वरीय योजना ही है। हम क्यों चिन्ता करें? इस मालिक-मकान को पेशगी किराया दे ही दिया था।

सुबह तिलक भोजन करने आयँगे, मुझे कुछ पकाना चाहिए, इसलिए मैं सुबह ही उठकर अपने घर आई। नमक के साथ खाए हुए रोटी के तीन-चतुर्थांश टुकड़े को छोड़कर, तीन दिन से मेरे पेट में अन्न न पड़ा था। पंढरपुर से रवाना होते समय अच्छी तरह खाना खाया नहीं गया था। रास्ते में खाना संभव ही न था। और पेंडसे के घर खाने का यह हाल था। घर जाकर मैंने सब सामान कायदे से जमाया। रसोई बनाई और तिलक की प्रतीक्षा करने लगी। मस्तिष्क में विचारों ने कुहराम मंचा रखा था। घर के दरवाज़े तक और दरवाज़े से खिड़की तक मैं लगातार चक्कर काट रही थी। दत्तू पेंडसे के घर था, मैं इधर थी, और तिलक कहीं तीसरी ही जगह थे। एक शहर में रहते हुए शाम हो गई, फिर भी हमारी मुलाकात नहीं हुई। दिन-भर तिलक नहीं आए और रात को भी नहीं आए। मैं दिन-भर भूखी रही। बहन के घर भी दूसरे दिन रात ग्यारह बजे तक मैं नहीं गई। दो दिन और मुझे भूखी रहना पड़ा। रात को ग्यारह बजे पेंडसे का चपरासी आया और मुझे उनके घर ले गया।

मैं पेंडसे के घर गई। घर में सर्वत्र शान्ति छाई हुई थी। नाना साहब अपने आफ़िस वाले कमरे में बैठे थे। सिपाही ने उनसे कहा, 'साहब, वह

आ गई !' उस पूरे दिन में मुझे सिर्फ़ इतने ही शब्द सुनने को मिले थे। पेंडसे बोले, 'उन्हें भीतर ले आओ।' मैं भीतर चली गई।

'क्यों, सब ठीक है न, मौसीजी ? अब आगे क्या इरादा है ?'

'दत्तू की शिक्षा।'

'क्या तुम्हींको उसकी चिन्ता है, हमें नहीं ?'

'यह कैसे होगा ? सभीको उसकी चिन्ता है।'

'यह सच है न ? तो फिर तुम जलालपुर चली जाओ। मैं तुम्हें किराया देता हूँ।'

'मुझे रुपयों की ज़रूरत नहीं है। जलालपुर की आबहवा दत्तू के अनुकूल नहीं है। वही बदलने तो मैं यहाँ आई हूँ।'

'यह तुम्हारा निरा बहाना है। हवा अनुकूल न होने की क्या बात है ? क्या वहाँ कोई आदमी नहीं रहते ?'

'उनके लिए अच्छी होगी, पर दत्तू के लिए वह अच्छी नहीं है।'

'देखो, सोच लो !'

'सोच लिया। जिसके जीवन के सहारे मुझे अपनी ज़िंदगी काटनी है, उसीका स्वास्थ्य जब ठीक नहीं रहता, तब फिर मैं क्या करूँ ?'

'अधिक अक्ल न बघारो। मेरी बात सुनो। मैं तुम्हारे नाम ज़मीन लिखे देता हूँ। हर महीने दस रुपए भेजूंगा और आगे और भी अधिक भेजूंगा। बीस अशर्फ़ियाँ देता हूँ।'

'मैं इसलिए नहीं आई हूँ कि आप मुझे कुछ दें। बेटे की शिक्षा और स्वास्थ्य ये दो बातें मेरे सामने हैं। आप यदि अपनी पूरी संपत्ति भी मुझे दें, तो भी वह मुझे नहीं चाहिए। आपने मुझे कभी किसी बात की कमी नहीं होने दी। परंतु अब मैं लौटकर कभी नहीं जाऊँगी। जो होना हो, सो हो !'

'अच्छा, तो फिर हमारे जितने जेवर आदि तुम्हारे पास हैं, वे सब लौटा दो।'

'आते ही मैंने सब जेवर उतारकर रख दिए हैं और उन्हें येसू के हवाले

कर दिया है। मुझे किसी चीज़ की चाह नहीं। मनुष्य से प्राप्त हुआ पर्याप्त नहीं होता और ईश्वर का दिया हुआ समाप्त नहीं होता, यह मैं अच्छी तरह से जानती हूँ।'

'तुम्हारी चतुराई बहुत अधिक बढ़ चली है अब। अच्छा, एक बज चुका है। जाकर सो जाओ। इन्हें एक बिस्तर दे-दे रे!'

'बिस्तर नहीं। घोड़े की ज़ीन दे उसे!' भीतर से आवाज़ आई। तुरंत नौकर ने घोड़े की ज़ीन लाकर मेरे सामने पटक दी।

आज तीन दिनों से भूसा भी न था, जिसकी रोटी बनाकर खाती। इसलिए, वह कोमल ज़ीन मुझे घोड़े की अपेक्षा अच्छी लगी। उसी पर मुझे अच्छी गहरी नींद आ गई।

सुबह उठकर मैं अपने घर गई। वहाँ पहुँचते ही पिछले दिन बनाकर रखी हुई चाय, अन्न आदि भूमाता को समर्पित करके मैं ताज़ी रसोई बनाने लगी। दो दिन से दत्तू और तिलक से मेरी भेंट नहीं हुई थी। दत्तू मौसी के घर कुशलपूर्वक था। उसकी चिन्ता न थी। परंतु तिलक को क्या हो गया? उनकी खोज भी कौन और किस तरह करे? मैं नगर में होते हुए भी जैसे जंगल में पड़ी हुई थी। इस तरह निराशा से घिरी हुई मैं बैठी हुई थी कि दो नौकर और एक बैलगाड़ी लेकर तिलक आए।

'कल मैंने आपकी कितनी राह देखी! आपका पता नहीं था। दत्तू भी नहीं था। रसोई सब व्यर्थ गई।'

'तुम्हारे लिए दूसरा घर ढूँढ़ा है।'

'मतलब? मैं वहाँ नहीं जाती।'

'तुम चाहे न जाना चाहो, पर इस घर का मालिक तुम्हें अपने घर में नहीं रखना चाहता।'

'सो क्यों?'

'उसकी इच्छा। वह घर का मालिक है। दूसरा घर भी ब्राह्मण ही का है। एक मराठिन बर्तन माँजने के लिए लगा दी है और एक गुजराती ब्राह्मण पानी लाने के लिए रख दिया है। इतनी सब झंझटें कल दिन-भर

करनी पड़ीं, इसलिए मैं नहीं आ सका।'

दत्तू को ले आई। गाड़ी में सामान भरा। हम तीनों ताँगे से गए। अभी तक वहन से भेंट नहीं हुई थी। दूसरे घर में गृहस्थी जमाई। अब बुआजी का सामान काम में आया। मैंने बेसन-भात बनाया और तीनों ने उस पर डटकर हाथ साफ़ किया। तिलक अपने घर चले गए। वहाँ से उनका घर कोई सौ कदम के फ़ासले पर था। इस आनंद में कि अब मुझे कोई तकलीफ नहीं है, मैं और दत्तू दोनों बड़े सुख से सो गए।

परंतु सुबह ही घर की मालकिन ने कहला भेजा, 'तुम लोग हमारे पाखाने में न जाना!' लो, पाखाना भी कर्मकाण्डी हो गया! 'फिर कहाँ जायँ, बहनजी!' 'सार्वजनिक पाखाने में जाओ।' लक्ष्मी नाम वाली मैं हार-कर मालकिन की शरण गई। सृष्टि-नियम "सोला-ओला" नहीं देखता।

नौकरानी एक बार बर्तन माँजकर चली गई। दूसरी बार आकर कह गई कि मुझसे तुम्हारे बर्तन नहीं माँजे जायँगे। मुझे जाति के बाहर होना पड़ेगा। गुजराती ब्राह्मण कहने लगा कि दूसरे लोगों ने मुझसे पानी लेना ही बंद कर दिया है। वह बोला, 'मैंने लोगों से कहा कि वह बाई सोला पहनती है, ठाकुरजी की पूजा करती है। फिर मुझसे पानी लेना क्यों बंद करते हो?' उसे उत्तर मिला, 'उस औरत का घर वाला जो ईसाई है! तुम अब प्रायश्चित्त करो।' उस बेचारे को प्रायश्चित्त करना पड़ा। मेरे कारण उसे दण्डस्वरूप चार-पाँच रुपए की नाहक चपत पड़ गई।

अब पानी कहाँ से लाऊँ? ये तीन अपरिहार्य संकट आए। अब फिर घर बदलने के सिवा दूसरा चारा न रहा। 'अब हम फर्ग्युसन गेट के कंपाउंड में चलेंगे।'

'वह कहाँ है?'

'यहाँ से नज़दीक ही है। वहाँ ईसाई लोग रहते हैं।'

'मैं उनके पड़ोस में नहीं रहूँगी।"

'तो फिर कहाँ जायँ? अभी तुमने देख ही लिया ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व! ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः! यह है उनका ब्रह्म! मैं तुम्हें कोई

तकलीफ़ नहीं देता। तुम्हारे ही लोग तुम्हें तंग कर रहे हैं। इसके लिए मैं क्या करूँ ?'

डॉक्टर ह्यूम साहब को मेरे घर की दुर्दशा का पता लगा। उसी तरह उन्हें यह भी मालूम हुआ कि मैं ईसाइयों के पड़ोस में रहने को तैयार नहीं हूँ। बरसात के दिन थे। फर्ग्युसन गेट के लोगों को हटाकर उन्हें वह कहाँ ले जाते ? एक-एक के घर में पाँच-पाँच, सात-सात बच्चे थे। फिर भी बेचारे सब लोग अन्यत्र रहने के लिए चले गए। समूचा कंपाउंड मेरे लिए खाली कर दिया गया। वहाँ कुल मिलाकर तीन मकान थे। मकान एक-दूसरे से सटे हुए और एक कतार में थे। हर मकान में चार कमरे थे। वे सब हमारे अधिकार में दे दिए गए। तिलक को अब रहने के लिए कहीं बाहर जाने की ज़रूरत ही न रही और ईसाइयों ने (मैं पसंद नहीं करती इसलिए) हमारे कंपाउंड में आना बंद कर दिया। हम बैलगाड़ी करके इस नये मकान में आए। एक शहर में एक महीने के भीतर तीन मकान लिये गए ! तीसरे मकान के दो हिस्सों में मैं और दत्तू रहने लगे और तिलक ने अपने रहने के लिए तीसरा हिस्सा ले लिया।

इसी मकान में डॉक्टर ज्युलिया विसेल और मिस एमेली विसेल मुझ-से मिलने आईं। इतनी सुंदर मराठी बोलने वाली मेमें मैंने कभी न देखी थीं। तिलक ने ईसाइयों से कह दिया था, इसलिए मेरे पास कोई नहीं आता था। परंतु धीरे-धीरे तिलक के घर में लोग आने-जाने लगे। तिलक के घर में रोज़ प्रार्थना, शास्त्र-पठन दोनों वक्त हुआ करते। मेरे घर में मेरे सारे देव, देवी, गणेशजी, तुलसी आदि का पूजन धड़ल्ले से होता रहता। उनके घर में नौकर-चाकर थे। मेरे घर में कोई न था। मराठे मिलते न थे और दूसरे रखे न जा सकते थे। मुझे सब काम हाथ से करने पड़ते। तिलक भोजन के लिए मेरे यहाँ आते।

उस मुहल्ले में पानी न था। मुझे कमेटी के बगीचे से पानी लाना पड़ता। वहाँ का नल सच्चे अर्थ में सार्वजनिक नल था अथवा यदि यह कहूँ कि पूर्णरूपेण अब्राह्मणों का था, तो अधिक उचित होगा। एक दिन मैं

वहाँ पानी भरने गई। उस समय दो औरतें नल पर थीं। वे दूसरी जाति की थीं और उनमें से एक के शरीर पर बहुत से पर इतस्ततः लगे हुए दिखाई दे रहे थे। मैंने कहा—'बाई ज़रा दूर हो जाओ। मुझे अपना घड़ा भर लेने दो।' उसने तुरंत मुझे जवाब दिया, 'अरी हट, भाग यहाँ से। बड़ी ब्राह्मणी हो, तो हमें क्या ? अगर ब्राह्मणी है, तो इस नल पर क्यों आई ?'

औरतें चली गईं। फिर घड़ा भरकर मैं घर आई। मैंने घर में चटनी पीसकर रखी थी। उस पर हवा से उड़कर दो पर गिर पड़े थे ! इन परों को देखकर सचमुच मेरे पागल होने की नौबत आ गई। फिर आँसुओं की गंगा-यमुना का आगमन हुआ। तिलक आए। उन्होंने कारण पूछा। नल से लेकर चटनी तक मैंने उनसे सब हाल कह सुनाया। वह बोले, 'मैं क्या करूँ ? वे हवा से उड़ आए होंगे !' बस, मैं चुप हो गई और और अधिक रोई।

तिलक हर रविवार को गिरजाघर जाया करते। उनके साथ दत्तू भी जाता। इसी तरह एक दिन गिरजे के बाद वह उनके साथ मालनबाई कुकड़े के घर गया। वहाँ एक ब्राह्मण महाशय भी थे। चाय और बिस्कुटों पर इन महाशय ने खूब हाथ साफ किया। दत्तू से भी उन्होंने आग्रह किया। परंतु दत्तू ने वहाँ कुछ नहीं खाया। आगे चलकर एक बार जब दत्तू पेंडसे के घर था, तब वहाँ यह महाशय भी आए। चाय आई। दत्तू दरी पर बैठा हुआ था। इसलिए यह महाशय दरी से उठकर दूर चले गए और वहाँ उन्होंने चाय गले के नीचे उतारी। फिर मुँह पोंछते-पोंछते वह दत्तू से बोले, 'क्यों रे, तेरा बाप धर्म-भ्रष्ट हो गया है न?' दत्तू ने झट उत्तर दिया, 'तुमसे उनका भ्रष्ट होना अच्छा। वह कम-से-कम खुल्लम-खुल्ला तो चाय-बिस्कुट खाते हैं। पर तुम तो चोरी से खाते-पीते हो।'

'कब खाया रे मैंने ?'

'रविवार को आपने उस बाई के यहाँ चाय पीकर कुछ खाया था न ? मुझे भी तुमने आग्रह किया था। पर मैंने नहीं खाया था !'

इस पर नाना साहब ने उसे चुप किया।

मेरे आने के बाद से भिकूताई ने बिस्तर पकड़ लिया था। उसका भतीजा उससे मिलने आया। बाद में वह मुझसे मिलने मेरे घर भी आया। मैं सोला पहने हुए रसोई बना रही थी। ठाकुरजी के पास दीप जल रहा था। उन पर उसे चंदन और फूल चढ़े हुए दिखाई दिए। वह हँसा। मैंने पूछा, 'क्यों, हँसे क्यों ?' वह बोला, 'उधर तुम्हारी बहन इसलिए बीमार पड़ी है कि तुम ईसाइन हो गई हो और यहाँ देखता हूँ तो कुछ और ही मामला है।'

कुछ मामलों में यद्यपि तकलीफ़ होती रही थी, फिर भी कुल मिलाकर महीना सुख में कटा। अब यह डर न रहा कि कोई ब्राह्मण आकर हमें तंग करेगा।

मकान छोड़ने को कहने के लिए यद्यपि ब्राह्मण नहीं आए, फिर भी घर में 'विघ्नहर्त्ता' गणेशजी विराजमान थे ही। उन्होंने अपने वाहन को आज्ञा दी कि इन्हें अब फिर यहाँ से निकालो। एक दिन दत्तू और मैं दोनों भोजन कर रहे थे कि एक बड़ा चूहा आया और दत्तू की थाली के पास की "चित्राहुति"[1] खाने लगा। 'लो, देखो, नगर के चूहे डरते तक नहीं', कहकर हम उठे ही थे कि दूसरा आया और वह भी चित्राहुति खाने लगा। थोड़ी ही देर में दोनों चूहे तेज़ी से चक्कर खाने लगे और झट मर गए। ऐसी बात मैंने सुनी बहुत थी, परंतु प्रत्यक्ष रूप में उसी दिन पहली बार देखी। तिलक आए। उन्होंने चूहों को देखकर कहा कि ये प्लेग के चूहे हैं। उन्हें जाँच के लिए भेजा गया और वहाँ से उत्तर आया कि प्लेग ही के चूहे हैं।

डॉक्टर ह्यूम साहब को ज्यों ही इस बात का पता चला, त्यों ही वह शीघ्र ही कुछ देर के लिए हमारे घर आए। उन्होंने हम सभीको अपने बँगले में रहने के लिए बुलाया। परंतु मैं वहाँ उनके बँगले में अपना

---

१. भोजन आरम्भ करने से पहले भोजन का कुछ भाग निकालकर किसी देवता के निमित्त अलग रख दिया जाता है।

"सोला-ओला" कैसे सँभाल सकती ? इसलिए तिलक उनके बँगले में रहने चले गए और मैं दत्तू को लेकर मालनबाई कुकड़े के घर रहने गई। मालन बाई जिस बाड़े में रहती थीं, वहाँ सब स्त्रियाँ ही थीं। मुझे एक तरफ एक स्वतंत्र कमरा दे दिया गया। उसमें मैं रहने लगी। वहीं राजसबाई थीं। हमने जब एक-दूसरी को देखा, तब हम दोनों की रेल की मुलाकात दोनों को याद हो आई और बड़ा आनंद आया। हम सब मिलकर एक महीने ही साथ रहे थे कि प्लेग महाराज ने हमें अलग कर दिया।

दोनों की एक गृहस्थी

नगर में प्लेग का ज़ोर वहुत वढ़ गया। राहुरी के मिशनरी रे० डॉक्टर वालंटाइन एम० डी० थे और उस समय वह एक अच्छे प्रख्यात डॉक्टर थे। सरकार ने उन्हें प्लेग-निवारण के काम पर नगर में नियुक्त कर दिया और मिशन ने उनके स्थान पर तिलक की राहुरी वदली कर दी।

अव मैं विलकुल पूरी तरह से ईसाइयों के वीच रहने को आ गई। राहुरी में गाँव के पश्चिम में ईसाइयों की वस्ती थी। इस वस्ती के उस पार एक फर्लांग की दूरी पर, डॉक्टर वालंटाइन साहव का वँगला थी। इस वँगले में हम सव एक साथ रहने लगे। मैं और दत्तू दोनों तिलक के साथ वँगले में रहते। परंतु कंपाउंड में एक अलग स्वतंत्र कमरा था और इस कमरे में मैं अपनी रसोई वनाती और ठाकुरजी की पूजा करती। मेरा 'सोला-ओला' विलकुल पहले-जैसा ही वड़ा कड़ा था।

इस कमरे के पड़ोस के कमरे में वालंटाइन साहव की लड़की की 'आया' रहा करती थी। उसे सव लोग 'आया वाई' कहते। आया वाई अशिक्षित थी। परंतु दूसरों की सुविधा-असुविधाओं का ख़याल रखने की लगन उसमें इतनी थी कि अव मैं उसके मूल्य को जान रही हूँ। नारायण-राव गोखले की मैं वेटी! मेरा 'सोला-ओला' कितना कड़ा होगा, इसकी कल्पना करने के लिए उनकी वह याद पर्याप्त है।

ऐसी यह कड़े 'सोले-ओले वाली' वाई ईसाइन के पड़ोस में थी इसलिए साधारणतः दोनों में झगड़ा होना चाहिए था। परंतु वैसा कभी नहीं हुआ।

उसने अपना खाना-पीना विलकुल नहीं छोड़ा, परंतु सव-कुछ वड़ी हिकमत से होता था। कभी-कभी वह तिलक को अपने घर खाने के लिए वुलाती। परंतु ये क्या खाते हैं, इसकी मुझे कभी कल्पना भी न हुआ करती। उन्हें जव खाने के लिए वुलाती, तो मुझे 'सीधा' दे देती। वह अपने कमरे में रस्सी पर हमेशा कुछ सुखाने को डालती। उससे मैं पूछती कि यह क्या है, तो वह कहती, 'अजी वाई ये प्लेग के दिन हैं। इसलिए कपड़ों को हवा लगनी चाहिए न ?' खाना खाते समय वह अपने घर का दरवाज़ा वंद कर लेती। इस पर भी मुझे आश्चर्य होता। 'क्योंजी आयावाई, तुम दरवाज़ा लगाकर क्यों खाती हो ?' वह कहती, 'अजी वाई, हमारा रिवाज़ ही है यह।' कभी-कभी जव वह खाना खाने वैठती, तव भीतर कुछ 'दन-दन' ठोकने की-सी आवाज़ आती। मैं पूछती, 'तुम खाते समय ठोकती क्या हो ?' तव वह उत्तर देती, 'अजी वाई, छछूंदर के विल वंद करती हूँ। इन छछूंदरों ने नाक में दम कर रखा है।' एक वार जव उसके घर का दरवाज़ा वंद था, तव उसके घर में से कुछ अजीव-सी वातें सुनाई पड़ने लगीं। कोई कहता, 'मैं टाँग लूंगा' कोई कहता, 'मैं सिर लूंगा।' आखिर यह मामला क्या है ! मुझे वड़ी चिन्ता होने लगी। मैंने कहा, 'आया वाई, तुम्हारे घर में ये क्या अजीव-अजीव वातें सुनाई पड़ रही हैं ?' उसने तुरंत जवाव दिया, 'अजी वाई, मैं राक्षस की कहानी कह रही थी। उसीकी वातें थीं वे।'

मेरे पास काम करने को कोई नौकरानी वगैरह न थी। आयावाई ने धीरे-धीरे मेरे सारे ऊपरी काम करना शुरू कर दिया। 'मैं झाड़ू लगा दूं, तो क्या हर्ज है वाई ?' वह मुझसे धीरे-से पूछती। उसके स्नेही स्वभाव के कारण मैं भी उसे अपने काम करने देती। परंतु पानी भरना और रसोई वनाना, ये दोनों काम मैं स्वयं ही करती।

इसी स्थान पर मेरे पहले ईसाई वंधु से मेरी भेंट हुई। उनका वर्ताव, कपड़े इत्यादि विलकुल पवित्र ब्राह्मण की तरह थे। उनका नाम था वापू नामाजी आढाव। मैंने तिलक से पूछा, 'ये कौन ब्राह्मण हैं जी ?' तिलक ने

कहा, 'ये 'गुडशस्त'[1] ब्राह्मण हैं!' मैंने देशस्थ, कोंकणस्थ और करहाडे इत्यादि ब्राह्मणों की उपजातियाँ सुनी थीं, परंतु गुडशस्त नाम की कोई जाति कभी न सुनी थी। मुझे तिलक की बात जँच गई। आगे कितने ही वर्षों के बाद गुडशस्त ब्राह्मण का अर्थ मेरी समझ में आया।

बापूराव हमारे घर दो-तीन दिन रहे थे। मुझे अपने रिश्तेदारों की याद आती और मैं हमेशा रोया करती। इतने दिन तिलक के लिए रोई, अब रिश्तेदारों के लिए रोने लगी। बापूराव मुझे बहुत समझाते रहते, 'तुम रोओ नहीं। मुझे अपना भाई समझो!' और अपने कहने के अनुसार अंत तक उन्होंने मुझसे भाई की तरह बर्ताव किया भी।

हमारे राहुरी जाने से पहले नगर में तिलक के घर एक आदमी आया। वह ईसाई होना चाहता था। वह तिलक को 'पपा' और मुझे 'माँ' कहने लगा। तिलक उससे बहुत प्रेम करते और उसे अपने बेटे की तरह मानते। वैसे देखा जाय, तो तिलक ने किससे प्रेम नहीं किया? जो भी उनसे मिलता, उस पर वह झट विश्वास कर लेते। उनका विश्वास था कि मनुष्य की सच्ची परीक्षा मैं कर सकता हूँ। इसके विपरीत मेरा खयाल था कि मनुष्य की सच्ची परीक्षा मैं कर सकती हूँ। मुझे वह आदमी लफंगा मालूम होता, पर तिलक को वह देवदूत लगता। वह मुझसे कहा करते, 'तुम साइकालाजी (मनोविज्ञान) नहीं समझतीं।' मैं कहती, 'वह चाहे मैं न समझती हूँ। परंतु मेरे पास व्यवहार-ज्ञान है और उसीके बल पर आपसे कहती हूँ कि यह आदमी लफंगा है, बदमाश है।' वह कहते, 'तुम बड़ी दुराग्रही हो। यह मनुष्य ईश्वर का एक बड़ा सेवक होने वाला है, तुम देख लोगी।' मैं उनसे कहती, 'मैं कहती हूँ, यह कुछ नहीं होगा। हाँ, एक दिन आपके सिर पर अच्छी तरह हाथ फेरकर चंपत ज़रूर हो जायगा।'

हमारे साथ वह राहुरी आया। वहाँ उसका बपतिस्मा हुआ। आगे चलकर कुछ दिनों के बाद, तिलक ने उसे विसापुर में कोई काम दिला

---

१. तिलक का बनाया हुआ शब्द, सिर्फ़ विनोद के लिए।

दिया। उसे मैंने पानी पीने के लिए बर्तन, कुछ नाश्ता और बिस्तर देकर रास्ते से लगा दिया। जाने के बाद उसके नियमित रूप से पत्र भी आते। यह कहकर कि बेचारे का हमारे सिवा और कौन है, तिलक उसे कभी-कभी मोमंबी फलों की पार्सलें भेजते।

एक दिन तिलक किसी काम से नगर गए। तिलक के जाने के दूसरे ही दिन उनका पत्र आया कि अपने घर में चोरी हो गई है। आश्चर्य है कि घर कहीं से भी फोड़ा नहीं गया है, ताले ज्यों-के-त्यों लगे हैं। सब दरवाज़े भी बंद हैं। लेकिन पाखाने के टीन-पॉट से लेकर एक-एक करके सब सामान चला गया है। बिस्तर, कंबल, चाँदी के बटन, शर्ट, कोट, शहद की बोतल, इनमें से एक भी चीज़ अपनी जगह पर नहीं है! पत्र पढ़ते ही मुझे तिलक के 'मानस-पुत्र' पर शक हुआ। मुझे निश्चय हो गया कि यह काम और किसी का नहीं, उसी बदमाश का है। तिलक शीघ्र ही लौट आए। उन्होंने भूमिका के रूप में पहले बहुत-सी झूठी गप्पें मारीं और फिर धीरे से कहा, 'अंत में चोर मिल गया।'

मैंने दृढ़ आशान्वित की तरह पूछा, 'क्या सामान मिल गया?'

'तुम इतनी उतावली न हो। मैं सब बताता हूँ।'

'अच्छा बताइए!'

'अजी, वह हमारा बेटा विसापुर में है न? वह था, इसलिए सब-कुछ मिल गया। वरना एक फूटा लोटा भी हाथ न लगता।'

'क्या मतलब? वह कोई पुलिस-बुलिस का सिपाही बन गया है क्या?'

'नहीं जी, चोर ने चोरी की और हमारे नाम के बर्तन ले गया बेचने के लिए बाज़ार में। वहाँ उसने उन्हें पहचान लिया। पकड़ा उसका हाथ और फिर कर दिया पुलिस के हवाले। कितना होशियार आदमी है!'

'आप कुछ भी कहें। परंतु चोर बेलन, चकला और टीन-पॉट ले जाकर क्या करेगा? यह कोई पहचान का ही बदमाश होना चाहिए। ये चीज़ें चोर के किस काम की?'

'तुम क्या जानो ? चोर इन्हें भी बेचकर पैसा पैदा करते हैं।'

'अच्छा, तो फिर आगे क्या हुआ ?'

'आगे क्या ? विसापुर से उसका पत्र आया है कि दस रुपये भेजिए। सामान अपने कब्ज़े में ले लिया है। रुपये आते ही लिये आता हूँ।'

'फिर अब उसे क्या रुपये भेजने हैं ?'

'नहीं तो क्या ? ये काम क्या कभी बिना पैसे के होते हैं ? चलो, नहीं तो मैं ही जाकर सामान लिये आता हूँ। लाओ, रुपये।'

मैं रुपये लाने के लिए भीतर के कमरे में गई। तिलक का इसी विषय पर वार्तालाप बाहर के लोगों से भी चल रहा था। हमारे घर में हमेशा बाहर के लोग बैठे बातें करते रहते और घर की बातें अलग और बाहर की बातें अलग, ऐसा कभी नहीं होता था। मेरे भीतर आने पर तिलक जो बातें कर रहे थे, वे मुझे साफ़ सुनाई पड़ रही थीं।

चोरी उसीने की। डॉक्टर ह्यूम से वह तालियाँ ले आया। चार गाड़ियाँ लाया। उनमें सब सामान भरा। लुहारिन ने पूछा, 'सामान कहाँ जा रहा है ?' तो उसने कहा कि, 'स्वयं तिलक ने मुझे राहुरी से सामान लेने भेजा है।'

मैं यह सब सुन रही थी। परन्तु व्यवहार-ज्ञान की मेरे पास बहुत पूँजी होने के कारण मैंने मन में कहा, 'कोई हर्ज नहीं। इतना सामान दस रुपये में वापस मिल रहा है न ? जाने दो, दस रुपये जायँ तो।' मैं बाहर आई और तिलक को दस रुपये दे दिए।

तिलक ने वे रुपए उस आदमी को ले जाकर दिए और उससे कहा, 'मैं आगे जाता हूँ, तुम सामान लेकर आओ !' तिलक वापस आए। मैंने कहा, 'सामान ?' वह बोले, 'आ रहा है पीछे।' मैंने कहा, 'आपने सारी गृहस्थी उसे दान में दे दी। उसकी दक्षिणा बची थी वह शायद अब दे आए ?'

परन्तु तिलक को बहुत दिनों तक यही विश्वास रहा कि वह सामान लेकर आयगा। पर वह कभी नहीं आया।

चार-पांच महीने के वाद प्लेग का ज़ोर कम हुआ और डॉक्टर वालंटा-इन राहुरी लौटे। ईसाई वनने के वाद से तिलक गर्मियों में महाबलेश्वर जाकर वहाँ के यूरोपियन और अमेरिकन मिशनरियों को मराठी पढ़ाया करते थे। इस पढ़ाई से उन्हें काफ़ी आय हो जाती थी। साल में तीन महीने महाबलेश्वर और नौ महीने नगर में वह रहते। डॉक्टर वालंटाइन जिस समय राहुरी आए उस समय तिलक महाबलेश्वर जाने की तैयारी ही में थे। इस साल उनके साथ मैं और दत्तू भी था।

तिलक ने वाई में अपनी माँ—यानी आशम्मावाई को पत्र लिखा कि हम आ रहे हैं और उन्हें हमारे साथ महाबलेश्वर चलने का निमंत्रण दिया। आशम्मावाई ने वह निमंत्रण तुरंत स्वीकार कर लिया। वाई में उनसे किसी ने कहा, 'तुम न जाओ। तिलक की पत्नी से तुम्हारी नहीं पटेगी। यदि न पटी, तो तुम क्या करोगी?' आशम्मावाई ने उनसे कहा, 'नहीं पटेगी, तो मैं लौट आऊँगी। मुझसे उनका यह वादा थोड़े ही हुआ है कि मुझे वहाँ रहना ही चाहिए।'

वाई में भी हमारा इंतजाम था। दत्तू के लिए पेड़े, आम, मेरे लिए अलग रसोई वनाने का प्रवन्ध। यहाँ भी मैंने अपने हाथ से रसोई वनाई। और हम सवने भोजन किया। वाद में आशम्मावाई ने अपने घर का इंतज़ाम करके अपना सामान आदि वाँधा और हम वैलगाड़ी से महाबलेश्वर के लिए रवाना हुए।

हम सवने टीके लगवा लिए थे। फिर भी, वैलगाड़ियों के मुसाफ़िरों को प्लेग का डर अधिक होने के कारण उन्हें वीच ही में दस दिन के लिए दांडेगर में झोंपड़ियों में रहना पड़ता था। हम भी वहाँ रहे। मेरा सोला, मेरे ठाकुरजी, ये सव साथ थे ही। आस-पास की झोंपड़ियों में रहने वाले लोगों को आश्चर्य होता था कि यह परिवार कैसा है भई! यह दाढ़ी वाला मनुष्य तो मुसलमान मालूम होता है। साथ में जो वुढ़िया है वह ईसाई जान पड़ती है। यह नौजवान औरत ब्राह्मणी दिखाई दे रही है और लड़का तो गले में जनेऊ लटकाए घूम रहा है।

यहाँ पानी की कठिनाई महसूस होने लगी। पानी दूर था। मशक का पानी मिला करता था। परंतु मशक रहती चमड़े की और पानी लाने वाला था मुसलमान ! मैं स्वयं सिर पर घड़ा लेकर अपने पीने और रसोई बनाने के लिए आवश्यक पानी ले आती। बाक़ी काम के लिए मशक ही का पानी चलने लगा। एक दिन कुछ भोजन बच गया था। वह मैं एक माँग (अंत्यज) जाति की स्त्री को देने लगी। वह उसे लेती न थी। वह बोली, 'बाई, हम ईसाइयों के हाथ का नहीं खाते।' मुझे यह सुनकर बहुत ही बुरा लगा। मैं फूट-फूटकर रोई। तिलक और आशम्माबाई ने मुझे समझाने की कोशिश की। परंतु मेरा रोना जारी रहा। 'जब ये लोग भी मेरे हाथ का नहीं खाते, तब मेरे रिश्तेदार तो मेरी छाया में भी खड़े न होंगे।' आशम्माबाई ने कहा, 'लक्ष्मीबाई। तुम रोओ नहीं। सब-कुछ ठीक होगा। तुम्हारे रिश्तेदार तुम्हारे पास आयँगे। तुम उनके पास जाओगी। परन्तु तुम्हें दो दिन बरदाश्त करना चाहिए।' इन प्रिय शब्दों का मेरी ओर से उत्तर यह था कि मैंने उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाईं। परंतु वह बेचारी बड़े अच्छे स्वभाव की थीं, इसलिए उन्होंने मेरी सारी भली-बुरी बातें चुपचाप सुन लीं।

दस दिन पूरे होने पर हमें वहाँ से जाने की इजाज़त मिल गई। फिर बैलगाड़ियाँ जोतकर सामान के साथ आशम्माबाई को लेकर हम महाबलेश्वर पहुँचे।

तिलक के नौकर-चाकर, मकान-मालिक वगैरह कभी बदला न करते थे। जब से वह महाबलेश्वर आने लगे थे, तब से अपने रहने के लिए वे सेदू मिस्त्री का घर लिया करते थे। इस बार भी उन्होंने मिस्त्रीजी को पहले से ही पत्र भेज दिया। मिस्त्री ने वहाँ सब तरह की पूरी तैयारी कर रखी थी। पलंग, बिस्तर, दूध, घी, दही, मक्खन, सब्ज़ी, ईंधन, यही नहीं, बल्कि इस 'दाढ़ी-दीक्षित'[1] ने पानी भरकर रख दिया था। सिर्फ़ रसोई बनाना ही बाक़ी रह गया था।

---

१. मुसलमान।

लगभग दस बजे हम महाबलेश्वर के अपने घर में पहुँचे। मकान-मालिक ने मकान खोल दिया। गाड़ी में से सामान वगैरह निकाला गया। हरएक अपने-अपने काम में लग गया। दत्तू खेलने लगा। तिलक लिखने लगे। आशम्माबाई ड्राइंग रूम को सजाने लगीं। मैंने चूल्हा सँभाला। कुआ घर के बाहर चार हाथ की दूरी पर सड़क के किनारे ही था। पानी का सुभीता देखकर मेरे मुँह में पानी भर आया। मैंने पानी खींचा। ठंडा पानी, ठंडी हवा और मधुर भोजन! मन भी शान्त था। तब हम बड़ी खुशी से भोजन के लिए बैठे। तिलक और आशम्माबाई एक पंक्ति में बैठे। उन्हें मैंने भोजन परोस दिया और फिर मैं और दत्तू उनके सामने ही दूसरी पंक्ति में बैठे।

बातों के सिलसिले में मैंने कुए के बारे में अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। इस विषय के छिड़ने के पहले हमारा भोजन बड़े सुख और शान्ति के बीच चल रहा था। परंतु पानी का विषय छिड़ते ही 'आँखों में पानी और अन्न में विष' जैसी स्थिति हुई। तिलक बोले, 'तुम पानी खींचकर न लाया करो। यह मुझे शोभा नहीं देता। मैं पानी भरने के लिए एक ब्राह्मण रखे देता हूँ।' मैं डर गई। नगर का अनुभव बिलकुल ताज़ा था। उस बेचारे ब्राह्मण को मेरे कारण दंड देकर भी जाति से बहिष्कृत होने की नौबत आ गई थी। हमारी थोड़ी बहस हुई। परंतु बहुत ही थोड़ी। आगे संपूर्ण भोजन समाप्त होने तक दोनों ओर चुप्पी थी।

आस-पास 'घावड़'[1] मुसलमानों की बस्ती थी। हम जाति के ब्राह्मण, हमारे परिजन मुसलमान ऐसी हमारी स्थिति थी। कल ब्राह्मण कहाँ से मिलेगा? और वहाँ ब्राह्मण खोजने के लिए तिलक को वक्त भी कहाँ था? सुबह छह बजे से लेकर शाम के छह तक उन्हें काम रहता।

फिर भी मुझे अभी आधार मालूम होता था। मेरे पास अभी दो घड़े भरे हुए थे। रात का भोजन हुआ। डेढ़ घड़ा पानी बच रहा। रात को मेरी

---

१. मुसलमानों की एक क़िस्म।

नींद पानी खोजने के लिए गई और सुबह चार बजे घर लौटकर आई। जागने पर सामने डेढ़ घड़ा पानी दिखाई देने लगा। सारे दिन बिलकुल कंजूसी करके भी शाम को मेरी और दत्तू की आवश्यकता-भर ही का पानी बचा। अब अलवत्ता मेरे छक्के छूट गए। आँखों से पानी बहुत बह रहा था, पर वह किस काम का?

तिलक कहते, 'आज तुम हमारा यह पानी पी लो। मैं कल से दूसरा इंतज़ाम किये देता हूँ।" मैं कहती, 'एक बार पी लिया कि फिर सब-कुछ हो चुका। फिर क्या रह गया?' नित्य की भाँति भोजन करने बैठी। गला रुँधा ही जा रहा था। जैसे-तैसे आधा भोजन समाप्त किया। कौर गले में अटक गया। तिलक बोले, जो शरीर की रक्षा करे वही धर्म है। इसके सिवा, पानी जब चार हाथ बह जाता है, तब उसकी छूत चली जाती है, ऐसा हिन्दू धर्म कहता है। तुम यह पानी पी लो!'

मैं मुसलमान के हाथ का पानी मुँह तक ले गई। 'हाँ-ना' करते-करते आँखें ज़ोर से मूँदकर एक घूँट पिया। वह भीतर बहुत देर तक रहा ही नहीं। तुरंत पेट के भीतर जो था और जो नहीं था, उस सबको साथ लेकर ज़ोर से बाहर आ गया। मेरी क़य के कारण भोजन वहीं समाप्त हो गया। मैं वहीं गिर पड़ी। मुझे ज़ोर का ज्वर चढ़ आया। तिलक को अब अपनी ज़िद के लिए बहुत दुःख होने लगा। आशम्माबाई उनसे कहने लगीं कि यदि इन्हें सामने ही से पानी लाने देते, तो कुछ न बिगड़ता। तिलक ने भी अपनी भूल स्वीकार की।

मैं बिस्तर पर पड़ी-पड़ी तकिए को नहला रही थी। तीन बजे तक मेरे पास कोई न आया। तिलक अब बहुत झेंप गए थे। मैं मन-ही-मन आक्रोश करके भगवान् से कह रही थी, 'ईश्वर, आज मैंने यह क्या किया? आज मेरे पूर्वज मुझे स्वर्ग में क्या कह रहे होंगे? इस पाप का मुझे कौन-सा प्रायश्चित्त भोगना पड़ेगा?' इस तरह एक नहीं, दो नहीं, बल्कि हज़ारों विचारों से मेरा मन व्यग्र हो उठा। उस समय मेरी आँखें बंद थीं, परंतु मुझे आभास हुआ जैसे एकदम प्रकाश आ गया है। जब मैं कहती हूँ कि प्रकाश

आ गया था, तव यह आलंकारिक भाषा में नहीं कहती हूँ। सचमुच सूर्य के स्वच्छ प्रकाश-जैसा मुझे आभास हुआ। मेरी बेचैनी जाती रही और पहले कभी दिमाग में न आए थे, ऐसे विचार अब मेरे दिमाग में कुहराम मचाने लगे। तिलक की ईश्वर पर महान् भक्ति थी। वह लगातार मेरे लिए प्रार्थना कर रहे थे। घर की इस भीषण शान्ति का अर्थ दत्तू की समझ में न आ रहा था परंतु थोड़ी देर के बाद उसने अपना धंधा—यानी खेलना शुरू कर दिया और उसे हम लोगों का पूर्ण रूप से विस्मरण हो गया।

तिलक की प्रार्थना का उत्तर आया। मेरे मन को कसकर बाँध देने वाली जाति-भेद की शृंखलाएँ तड़ातड़ टूट पड़ीं। निमिष-मात्र में यह हो गया। उस समय मेरे मन में आए हुए विचार इतने स्पष्ट थे कि उन्हें इस समय करीब-करीब ज्यों-के-त्यों मैं यहाँ लिख सकती हूँ। जातियाँ ईश्वर ने बनाई हैं या मनुष्य ने ? यदि ईश्वर ने बनाई होतीं, तो वह मनुष्य-मनुष्य में कुछ अंतर अवश्य रखता न ? जन्म-मृत्यु, हड्डियाँ-मांस, बुद्धि, भला-बुरा जानने की शक्ति, सुख-दुःख, ये सब मानव जाति के लिए एक सामान ही हैं न ? और यदि मनुष्य में ईश्वर ने जातियाँ बनाई हैं, तो उसी ईश्वर ने प्राणि-सृष्टि में भी भिन्न-भिन्न जातियाँ क्यों नहीं बनाईं ? ब्राह्मण बैल, शूद्र बैल, वैश्य कौआ, अतिशूद्र कौआ, ऐसे भेद पशु-पक्षियों में कहाँ हैं ? ब्राह्मण और शूद्र में कहाँ अंतर है ? शूद्र के सिर पर बैल का सींग नहीं है और न ब्राह्मण के सिर पर महादेव का लिंग है। स्त्री और पुरुष ये दो जातियाँ भिन्न-भिन्न हों, तो हैं। बस ! मेरा जाति-भेद विलुप्त हो गया। आज से मेरे अन्दर का जाति-भेद समूल नष्ट हो गया। भविष्य में, मैं सबके हाथ का खाऊँगी, सबके हाथ का पीऊँगी।

मेरी यह विचार-माला जारी ही थी कि इसी समय आशम्माबाई आकर मुझे समझाने लगीं, 'तुम अब उठो, पानी भरो और रसोई बनाने लगो।' मैंने कहा, 'मैं पानी नहीं लाऊँगी। रसोई नहीं बनाऊँगी। आप रसोई बनाएँ, मैं खाऊँगी।' वह मेरे कहने का आशय ही न समझ पाईं। उन्होंने जाकर तिलक से कहा। तिलक आए और वह भी मुझसे पानी भरने और

रसोई बनाने के बारे में कहने लगे। परंतु मैंने उनसे साफ़ कह दिया कि मैं रसोई नहीं बनाऊँगी। वह बोले, 'तुम व्यर्थ ही अपने-आपको कष्ट दे रही हो। मैं तुमसे भविष्य में पानी और रसोई के बारे में एक अक्षर भी नहीं कहूँगा। तुम जैसा मन में आवे, वैसा करो।' परंतु मैं बिलकुल निश्चय-पूर्वक कह रही थी। मैंने उनसे कहा, 'मैं बिलकुल हृदय से कह रही हूँ। क्रोध से नहीं कहती हूँ।'

तिलक को जब विश्वास हो गया कि मैं सचमुच हृदय से कह रही हूँ, तब उन्हें अत्यन्त आनंद हुआ। वह बोले, 'थैंक गॉड !' वहीं तिलक ने प्रार्थना की। आशम्माबाई ने खाना पकाया और सबने वह बड़ी खुशी से खाया। दूसरी जाति के हाथ का भोजन करने का मेरा वह पहला ही मौका था। पानी पीते समय मेरी जो स्थिति हो गई थी, वह अन्न-सेवन के समय न हुई।

आशम्माबाई कुछ दिन रहकर, बाई वापस अपने काम पर लौट गईं। वह गईं, उस समय मुझे बड़ा दुःख हुआ। असली सास के हाथ के नीचे रहने का मुझे कभी मौका न मिला था, क्योंकि मेरे विवाह से पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया था। राजनादगाँव में एक सास मिली थी। उसने मेरी कैसी दुर्दशा की, यह मैं पहले लिख ही चुकी हूँ। परंतु आशम्माबाई को सास कहने की अपेक्षा माँ कहना ही अधिक शोभा देगा।

तिलक की गृहस्थी फिर नए सिरे से शुरू हुई। अब खाने-पीने का सवाल ही न रह गया था। मैं यद्यपि ईसाई नहीं हुई थी और ईसाई होने का मेरा इरादा भी नहीं था, फिर भी मेरे भीतर का जाति-भेद संपूर्ण रूप से नष्ट हो गया था। इस कारण इतने दिनों तक हमारी जो दो अलग-अलग गृहस्थियाँ थीं, वे विलुप्त होकर, उनके स्थान पर अब दोनों की एक ही गृहस्थी हो गई। मेरी मूर्त्ति-पूजा में तिलक कोई बाधा न पहुँचाते और उनकी प्रार्थना के समय मैं वहाँ जाकर नियम पूर्वक बैठती।

नई गृहस्थी शुरू हो जाने पर रुपयों की ज़रूरत पड़ी, इसलिए तिलक जितना मिलता, उतना काम करने लगे। उन्हें हर घंटे के बीस-पच्चीस

रुपए मिलते और आठ-नौ घंटे काम वह सहज कर लेते।

तिलक की हविस कभी लज्जित नहीं हुई, कभी एक ओर नहीं बैठी। रुपए होने पर तुरंत ही वह चारों ओर फुदकने लगती। उन्होंने विवाह के समय चिंता की माला मेरे गले में पहना दी थी और मैंने बेफ़िक्री की माला उनके गले में पहना दी थी। जिस तरह बंबई का धन बंबई ही में रहता है अथवा लंका की सोने की ईटें हिन्दुस्तान में नहीं आतीं, उसी तरह महा-बलेश्वर में कमाए गए रुपए महाबलेश्वर ही में समाप्त करने की तिलक की इच्छा के पूर्व-चिन्ह दिखाई देने लगे।

बाजार से सामान लाने का उन्हें कभी-कभी बड़ा शौक चर्राता। वह समझते कि उनके समान व्यवहार-कुशल और कोई नहीं है और मेरा खयाल है कि उनमें व्यवहार-ज्ञान का इतना अभाव है कि उन्हें चाहे जो सहज में धोखा दे सकता है। वह कहते, 'मैं बहुत अच्छी खरीद करता हूँ। मुझे कोई धोखा नहीं देता।' और मैं कहती, 'आपको खरीद करना बिलकुल नहीं आता। आपको सब लूटते हैं।'

इस समय एक तो पत्नी और पुत्र दोनों आए हुए थे, दूसरे रुपये-पैसे भी हाथ में बहुत थे. इसलिए तिलक ने खरीद शुरू की। प्याले-तश्तरियाँ चम्मच, काँटे, छुरियाँ, शुगर-पॉट, मिल्क-पॉट, बटर-पॉट, केटलियाँ, सूप-प्लेटें, डिनर-प्लेटें, फ्लावर-पॉट, मुँह धोने का बरतन! सारा ठाठ नई किस्म का! इसी तरह बहुत-सा अन्य सामान भी उन्होंने खरीदा। मुझे यह भी न मालूम था कि किस चीज़ का क्या उपयोग किया जाता है और उन्होंने भी यह बात नहीं सोची थी। मुझे ये विचित्र वर्तन दृष्टि के सामने अच्छे नहीं लगते थे। मैं कहती, 'यह काँच क्यों घर में लाकर भर रहे हो?' परंतु वह मेरी बात पर बिगड़ उठते। वह कहते, 'तुम "एप्रीसिएशन" करना नहीं जानतीं।'

गृहस्थी की चीजें जमा देने पर उनकी नज़र कपड़ों की ओर मुड़ी। उन्होंने स्वयं अपने लिए चार नए सूट बनवाए। मेरे लिए भी दो गाउन ले आए। मैं कहती, 'अजी, यह क्या करते हो? इसकी अपेक्षा दो साड़ियाँ क्यों नहीं

ले आए ?' तिलक कहते, 'तुम "साइकालाजी" नहीं जानतीं। मनुष्य जब कोई काम शौक से करता है, तब कम-से-कम उस समय तो उसे निरुत्साहित न करना चाहिए। हमारी तुमसे न पटने का यही कारण है। मैं कुछ करूँ और वह तुम्हें पसंद आ जाय, ऐसा कभी होगा ही नहीं।'

हर एक के लिए तीन-तीन जोड़ी जूते बनवाए। मुझ अकेली के जूतों का बिल २४ रुपयों का हुआ। मैंने जन्म-भर कभी मामूली जूता भी न पहना था। 'साइकालाजी' और 'एप्रीसिएशन' के बारे में दो-तीन लैक्चर सुनने पर भी मैंने कह ही तो दिया, 'यह क्या फिजूल-खर्ची है। इससे तो घर में सोना लाते, तो वह मुसीबत के वक्त काम भी आता।' मुझे तीसरा लैक्चर पिलाया गया। उसका सारांश यह था—

तुम्हारी मूर्खता की हद हो गई। बदन पर सोना पहनकर धूप और काँटों में नंगे पैरों घूमना अच्छा या उसके बिना बूट और छाते का उपयोग करके शरीर की गरमी कम करना अच्छा, इत्यादि।

महाबलेश्वर छोड़ने तक जितना पैसा वहाँ मिला था, वह सब खर्च हो गया था। जो सामान खरीदा गया था, वह सब वहाँ से रवाना होते समय सैदू मिस्त्री को दान कर दिया गया। उसका मकान आगामी वर्ष के लिए पहले से 'फरनिश्ड' (फर्नीचर वाला) मिलेगा, इसलिए अगले साल से हमें उस घर का किराया भी अधिक देना पड़ा।

अस्तु, महाबलेश्वर के दिन बड़े सुख में बीते, मज़े से कटे। डबल-रोटी बनाना, मैंने वहाँ सीखा। किसी के यहाँ से आटा फुलाने के लिए 'हाफ की पत्तियाँ' लाकर रखी थीं। मुझे उदर-शूल की बीमारी बहुत सालों से है। एक दिन मेरे पेट में दर्द होने लगा। तिलक को सुबह ही काम पर जाना था। ऐसा कोई पड़ोसी न था, जो काम में आता। उन्होंने पूछा, 'तुम्हें क्या दूँ ?' मैंने कहा, 'अलमारी में सनाय की पत्तियाँ हैं। उन्हें निकालकर उनका काढ़ा बनाकर दे दो।' उन्होंने स्वयं अपने लिए चाय बनाई। चाय बनाने के बाद मेरे लिए काढ़ा बना दिया। मैंने काढ़ा पिया। वह काम पर चल दिए।

इधर मेरा पेट फूलने लगा। क्या करूँ, कुछ समझ न पाती थी। जी व्याकुल होने लगा। जैसे-जैसे दोपहर होने लगी, वैसे-वैसे लगने लगा कि अब मर जाऊँगी। घर में सिर्फ़ हम दो ही थे। मैं और दत्तू। अंत में दत्तू ने कहा, 'मैं डॉक्टर जुलिया विसेल को लिये आता हूँ।' वह कभी-कभी तिलक के साथ जाया करता था, इसलिए उसे डॉक्टर विसेल का घर मालूम था। वह जाकर डॉक्टर विसेल को ले आया।

डॉक्टर जुलिया वाई ने मेरे खाने-पीने के वारे में पूछताछ की। सनाय खाने से पेट कैसे फूलेगा ? वह वड़े विचार में पड़ गईं। अंत में उठकर रसोईघर में गईं। चूल्हे के पास सारा सामान फैला हुआ था। वहीं चाय और काढ़े के वर्तन पड़े थे। काढ़े के वर्तन को उठाकर मेरे पास लाईं और वोलीं, 'अजी लक्ष्मीवाई, आपके पेट में आटा फुलाने वाला पदार्थ चला गया है। ये "हाफ की पत्तियाँ" हैं। सनाय नहीं।' उन्होंने दवा दी। उससे मुझे तुरंत फायदा हुआ।

हमने जव महावलेश्वर छोड़ा, तव सामान वहुत कम और जितना आवश्यक था उतना ही साथ था। दो ट्रंक, दो वैग और एक विस्तर। जव हम महावलेश्वर आए थे, तव सिर्फ़ सामान ही के लिए एक अलग वैलगाड़ी की गई थी। परंतु वहाँ से लौटते समय एक ताँगे में हम सव अपने सारे सामान के साथ विलकुल अच्छी तरह समा गए। महावलेश्वर की आव-हवा हमारे शरीर और मन ही के लिए अनुकूल सिद्ध हुई, हमारे सामान के लिए नहीं। वह वहुत क्षीण हो गया था।

वाई में आशम्मावाई हमारी वाट ही जोह रही थीं। उन्होंने हमारे लिए सारी तैयारी पूर्ण कर रखी थी। वैसे अतिथि-सत्कार में वह हमेशा सिद्धहस्त रहती थीं। व्यवस्था, सफाई इत्यादि सव ठीक रखतीं। हमारा सामान देखकर वह ताज्जुव में पड़ गईं। मैंने शिकायत की। तिलक वोले, 'इस सामान का जितना किराया लग जाता, उतने में तो नगर में मैं नया सामान खरीद सकूँगा।' उनका भी कहना ठीक था। परंतु जो गलती हो गई थी, वह कहाँ थी और किसकी थी, यह अलवत्ता समझ में नहीं आता था।

वाई के गणेशजी के सामने ईसाई धर्म पर तिलक का व्याख्यान हुआ। लोगों की वड़ी भीड़ जमा हो गई थी। वाद में वहुत-से प्रश्नोत्तर हुए। तिलक की हाज़िर-जवावी ऐसे समय उनके लिए कितनी उपयोगी होती थी, इसका एक उदाहरण वताती हूँ। वहाँ के एक श्रोता ने उनसे पूछा, 'क्यों साहव, आप लोगों में वाप तीस और माँ एक होती है। है न?' 'वापतिस्मा' (ईसाई धर्म की दीक्षा-विधि) शब्द पर यह श्लेष था। जब कोई ऐसे ऊँटपटाँग और अश्लील प्रश्न पूछ वैठता, तव अन्य ईसाई उपदेशक घवरा जाते। परंतु तिलक ने वहाँ उनके द्वारा प्रकट की गई प्रत्येक सच्ची और झूठी शंका का उत्तर दिया था।

तिलक बोले, 'ईसाई ही के क्यों, मनुष्य-मात्र के तीस वाप होते हैं। इन वापों की एक माँ यानी हमारी और तुम्हारी दादी है। गिनो तीस वाप—

पंचमहाभूत (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश),
पंचप्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान),
पंच ज्ञानेन्द्रिय (जिह्वा, कर्ण, नेत्र, नासिका और त्वचा),
पंच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पैर इत्यादि),
चार अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त),
एक आत्मा
ये हो गए पच्चीस! अव तुम्हारे ही शास्त्र में कहा है —

"जनिता-चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पंचेते पितरः स्मृताः॥"

ये पाँच वाप इनमें और मिलाओ। अव हो गए न तीस वाप? परंतु सवकी जननी 'ईश्वरी कृपा' है। इसलिए, यह इन तीस वापों की माँ और हमारी-तुम्हारी दादी है।

पूछने वाला ठंडा हो गया! वपतिस्मा का तिलक का यह अर्थ ठीक नहीं था, परंतु वाई के उपदेशकों के पीछे पड़ा रहने वाला यह एक झंझट हमेशा के लिए वंद हो गया।

एक-दो दिन के बाद हमने बाई छोड़ा।

हम बातें करते-करते, विचार करते, इरादे करते 'वाठार' के निकट पहुँचे। वाठार तीन-चार मील रह गया। वहाँ एक पुल है। नीचे पानी होने के कारण वहाँ बैल-गाड़ियाँ और ताँगे खोल दिए जाते हैं। नज़दीक ही एक छोटा गाँव है। नाम है 'पिपुरडा'।

हम यहाँ उतरे और हमने नाश्ता निकाला। पेट-भर नाश्ता करने के बाद तिलक दत्तू को साथ लेकर इधर-उधर घूमने लगे। मैं नगर में जाकर क्या-क्या करूँगी। इस विचार में खोई हुई थी कि दो दिन रास्ते में पूना में ठहरने का निश्चय हुआ था।

मेरे आगे नाश्ते की दो-तीन टोकरियाँ देखकर धीरे-धीरे भिखारी इकट्ठे होने लगे। मैं भी चतुर थी। नाश्ते की अच्छी-अच्छी चीज़ें छाँटकर मैंने एक ओर रख दीं और बाकी बची हुई चीज़ें दान में देने लगी। उन भिखारियों में कुछ लड़कियाँ थीं। स्वभाव ही से मुझे बहुत बातें करने की इच्छा रहती है। इसलिए मैं उनसे बातें कर रही थी। उनके घर के बारे में पूछ रही थी। एक लड़की से मैंने पूछा, 'क्यों री, तू भीख क्यों माँगती है ?' वह बोली, 'बाई मेरे कोई नहीं है।'

'चल, चलती है मेरे साथ ?'

निमंत्रण मिलते ही वह तैयार हो गई। जितनी भीख उसके पास इकट्ठी हुई थी, उसने वह सब अपनी साथिन को दे डाली और उसके कान में कुछ कहकर वह मेरे पास आकर बैठ गई।

'तू रोएगी तो नहीं न ?'

'नहीं।'

"तो फिर जा, नहा ले, अपनी साड़ी उतार दे और यह साड़ी पहन ले। यह चोली भी ले !'

मेरे कहने के अनुसार करने पर उसमें बहुत फर्क दिखाई देने लगा। लड़की साँवले रंग की थी, परंतु नाक-नक्श सुंदर होने के कारण उसे

देखकर यह कोई न कह सकता था कि पाँच मिनट पहले वह यहीं भीख माँगती होगी। उसकी उम्र रही होगी यही कोई बारह-तेरह वर्ष की।

'तुम्हें मैं क्या कहकर पुकारा करूँ ?'

'मेरा नाम लक्ष्मी है। मेरा लड़का मुझे 'बाई' कहता है। तू जो चाहे मुझे कह सकती है।'

वह भी मुझे 'बाई' कहने लगी।

मैं ईसाई नहीं थी। फिर भी नज़दीक ही पड़ी हुई तिलक की बाइबल को मैंने हाथ में ले लिया और मन-ही-मन प्रार्थना की, 'भगवान् मैं जो कर रही हूँ, वह ठीक है या नहीं, यह तू ही बता।' इसके बाद मैंने बाइबल खोली। जो पृष्ठ खुला, उसमें मैंने यह मज़मून पढ़ा, 'जो वृक्ष पानी के प्रवाह के समीप लगाया जाता है, वह ठीक समय पर फल देता है और उसके पत्ते नहीं मुरझाते।' मेरे मन में यदि कोई शंकाएँ-कुशंकाएँ आई होंगीं, तो वे इस वाक्य से दूर हो गईं। मेरा विश्वास हो गया कि ईश्वर ही मुझसे यह करने को कह रहा है। लड़की की जाति के बारे में मैंने कोई पूछ-ताछ न की; क्योंकि मेरा जाति-भेद और सोला-ओला दोनों महाबलेश्वर ही में पड़े हवा खा रहे थे।

'तेरा नाम क्या है री ?'

'मेरा नाम नकुशी है।'

तू मुझे हवीशी (प्रिय) है, इसलिए तुझे हौशी कहा करूँगी।'

नामकरण होने तक तिलक दत्तू को साथ लिये लौट आए। हम दोनों माँ-बेटी बैठी बातें कर रही थीं। उन पिता-पुत्र ने समझा कि कोई पथिक होगी। परंतु मेरी ही साड़ी उसके शरीर पर देखकर और बात करने का ढंग देखकर तिलक ने पूछा, 'यह कौन है ?'

'यह लड़की है।'

'यह तो मालूम हुआ। पर, किसकी लड़की है यह ?'

'अपनी।'

'अपनी ? अपनी का क्या मतलब ? यह क्या गड़बड़ है ?'

'इसके कोई नहीं है। अकाल से इसकी बड़ी दुर्दशा हो गई है। इसी तरह भीख माँगकर यह लोगों के आश्रय में पड़ी रहती है। यह हमारे साथ चलना चाहती थी। मैंने इसे रख लिया।'

'अच्छा, अच्छा। कोई हर्ज़ नहीं।'

मेरा विश्वास था कि ऐसे काम के लिए वह कभी इन्कार न करेंगे। चाहे दूसरी बातों में हम दोनों एकमत न हों, परंतु ऐसे परोपकार के काम में हम दोनों हमेशा एकमत रहा करते।

हम 'पिपुरडा' से रवाना हुए। सामान ताँगे में रखा। हम ताँगे में बैठ गए। परंतु लड़की ताँगे में बैठने के लिए राज़ी न होती थी। वह ताँगे के पीछे-पीछे भागने लगी! हमें बहुत बुरा लगा। ताँगा धीरे-धीरे चला। जूते नीचे फेंके गए। उन्हें वह पहनती न थी। अंत में नंगे पैरों तीन मील ताँगे के पीछे भागती-भागती, वह हमारे साथ स्टेशन तक आई। हमारे स्टेशन पर कदम रखते ही गाड़ी छूटने की घंटी हुई। तिलक ने जल्दी-जल्दी से सबके टिकिट खरीदे।

इसी समय एक बूढ़ा आया। होशी उसके पास गई और उससे कुछ बातें करने लगी। वह कहने लगा, 'आप लोग मेरी लड़की को ले जा रहे हैं, तो मुझे रुपये दीजिए।' तिलक बोले, 'मैं कोई आदमी खरीदने नहीं आया हूँ। तुम अपनी लड़की को ले जाओ।' वह बोला, 'अब मैं इसे नहीं ले जा सकता। इसने आपके हाथ का खा लिया है। आपके कपड़े इसने पहन लिए। अब मैं इसे वापस कैसे ले जा सकता हूँ?' तिलक ने कहा, 'अगर नहीं ले जा सकते, तो छोड़ दो, हम चले।' इसी समय गाड़ी आई और होशी बाप को छोड़कर हमारे डिब्बे में आकर बैठ गई। गाड़ी चलने पर मैंने उससे कहा—

'क्यों री, तूने मुझसे झूठ बोला?'

'मैंने उस लड़की के हाथ संदेशा भेजकर अपने बाप को मिलने को बुलाया था। उसने फ़िज़ूल ही आपसे रुपये माँगे। मैंने उससे रुपये माँगने को नहीं कहा था। मेरी सौतेली माँ है। उसके छोटे-छोटे बच्चे हैं। गाँव में

वड़ी मँहगाई है और मैं दाने-दाने के लिए मोहताज़ रहती हूँ। इसलिए मैंने झूठ वोला।'

'खैर, कोई हर्ज नहीं। तू अकाल की मारी लड़की है। एकदम वहुत-सा मत खाया कर। पहले थोड़ा-थोड़ा खाना शुरू कर!'

लड़की वहुत ही अच्छी थी। वह मेरी वात सुनती, ध्यान में रखती और उसीके अनुसार वर्ताव करती।

जैसे-जैसे गाड़ी चली जा रही थी, वैसे-वैसे मेरी विचार-मालिका भी वढ़ रही थी। इस लड़की को रख तो लिया है। परंतु यह कैसा वर्ताव करेगी? कैसे रहेगी? कहीं वदन-भर में जूठन तो नहीं लगायगी? घर में कहीं इधर-उधर थूकती तो नहीं रहेगी? इस तरह एक नहीं, दो नहीं, किंतु हजारों विचारों से मेरा मन व्यग्र हो गया। एक वार मन में आया कि इसे किसी 'वोर्डिंग हाउस' में रख दूं। फिर वही मन कहता कि इसे पूना के स्टेशन पर छोड़ दिया जाय। लेकिन, फिर ख़याल आता कि यदि ऐसा कुछ करूँगी, तो इसके साथ कितना विश्वास-घात होगा! इसने मुझे अपना समझा और मुझ पर विश्वास रखकर यह मेरे साथ आई। यह मेरे लड़के की तरह मुझे 'वाई' कहकर संवोधित करने लगी और क्या अव मैं इसे अपने से अलग कर दूं? अंत में विचार पक्का हो गया कि चाहे जो हो, इसे अपने से हरगिज़ जुदा न करूँगी।

जैसा कि तय हुआ था, हम पूना में दो दिन रहने के लिए एक महाशय के घर उतरे। रात तक सव ठीक रहा। परंतु सोते समय उस रात मेरी नींद उड़ने का एक कारण उपस्थित हो गया। उन महाशय ने और उनकी पत्नी ने मुझसे कहा, 'जो लड़की आपके साथ है, उसे हम अपने घर के भीतर नहीं रख सकते।' तिलक को इसका पता न था और मैंने भी उनसे नहीं कहा था। तिलक ठहरे क्रोधी! अगर कहीं यह भेद-भाव उनके कानों में पड़ गया, तो वह जाने क्या कह उठें! इसलिए, वह वात मैंने अपने मन ही में रखी। मैंने अपनी दो साड़ियाँ उसे दे दीं और उससे वाहर सोने के लिए कह दिया और मैं भी सो गई। सो गई का मतलव है सिर्फ़ लेट

गई। मुझे नींद नहीं आई। मैंने सोचा कि यदि दत्तू को कोई इस तरह बाहर सुला देता, तो क्या मैं उस घर में पानी पीने के लिए भी ठहरती ? दूसरे के बच्चे को विश्वास से अपना बच्चा मानकर अपने साथ लाई हूँ। उसे इस तरह बाहर छोड़ देना क्या ठीक है ? यदि मैं दूसरे के बच्चे को अपना मानकर सँभाल नहीं सकती, तो फिर मुझे उस बच्चे को अपने पास रखना ही क्यों चाहिए ? लेकिन, फिर विचार आता कि यह घर दूसरे का है। यहाँ हम पराधीन हैं। यहाँ ऐसे विचार मन में लाना किस काम का ? फिर ख़याल आता कि आखिर यह घर भी तो एक ईसाई-परिवार ही का है न ? फिर उन्हें इस तरह भेद-भाव क्यों रखना चाहिए ? मैं जिस कमरे में सोई थी, उसी कमरे के बाहर हौशी सो रही थी। मैं बार-बार खिड़की में खड़ी होकर उस की ओर झाँककर देखती। उसे कोई कष्ट न था। वह बिलकुल शान्ति से सो रही थी। लेकिन मुझे वह रात बहुत लंबी प्रतीत हो रही थी। किसी भी तरह रात खत्म न होती थी, और दिन न निकलता था। मैंने अपने मन में निश्चय किया कि सुबह ही अपने दोनों बच्चों को लेकर नगर चली जाऊँगी। तिलक रोकेंगे नहीं। पर, रात की बात उनसे न कहूँगी। वरना, वह मेज़बान को कुछ उलटी-सीधी सुना देंगे।

मैंने सुबह चाय के वक्त तिलक से कहा, 'मैं बच्चों को लेकर आगे जाती हूँ। आप पीछे आइए!' तिलक ने यह बात तुरंत स्वीकार कर ली। हम अपने साथ बहुत थोड़े-से रुपये लाये थे। क्योंकि, जो कुछ रुपये हमें मिले थे, वे सब महाबलेश्वर में कपड़े वाले, जूते वाले आदि के यहाँ रख दिए गए थे। अब सिर्फ़ किराये के लायक और ऊपर एक रुपया, इतना ही ख़ज़ाना हमारे पास था। मैंने तिलक का किराया उन्हें दे दिया और अपना किराया और वह ऊपरी रुपया लेकर मैं बच्चों के साथ नगर की गाड़ी में बैठ गई।

हौशी के हाथों में चूड़ियाँ न थीं। वह बहुत पीछे पड़ी, 'बाई, मुझे चूड़ियाँ पहना दो।' नगर तक सँभालकर लाए हुए उस रुपये को देकर, मैंने उसे नौकरानी के साथ बाजार भेजा। हौशी चूड़ियाँ पहनकर हँसती-

हँसती घर आई और बड़े कौतूहल से मुझे दिखाने लगी।

'अरी हौशी, तूने इतनी सस्ती चूड़ियाँ क्यों पहनीं ?'

'क्यों ? हमें खर्च के लिए क्या पैसों की ज़रूरत न होगी ?'

मैंने मन-ही-मन उसकी बड़ी सराहना की। परंतु उसके आँचल में रखे हुए सब पैसे रास्ते में कहीं गिर पड़े थे। इधर-उधर टटोलकर देखने के बाद यह विश्वास होते ही कि वे गिर गए हैं, वह फूट-फूटकर रोने लगी। मैंने सोचा कि पैसे खो देने की अपेक्षा तो यही अच्छा होता कि वह सस्ती चूड़ियों के बदले अच्छी चूड़ियाँ पहन लेती। पैसों के लिए मुझे दुःख न हुआ; क्योंकि तिलक आते ही 'पेशगी' बैंक से रुपये ले ही आते। यह 'पेशगी' बैंक डॉक्टर ह्यूम के बँगले में था और प्रायः हर महीने उस बैंक से रुपये आते रहते। दूसरे दिन तिलक आए और पन्द्रह रुपये पेशगी ले आए।

तिलक के प्रायः सभी लोग निश्चित थे। एक नाई, एक धोबी, एक दर्जी। इसी तरह दूकानें भी उन्होंने कभी नहीं बदलीं। उनका यह पक्का विश्वास था कि उन्हें कभी कोई धोखा नहीं देता। हमारे महाबलेश्वर से लौटने पर इसी तरह की एक हमेशा की कपड़े की दूकान के सेठ ने तिलक को एक बिल थमा दिया, जिसमें यह लिखा था कि वह उसकी दूकान से बहुत-सा कपड़ा ले गए हैं और···धीरे से पैसे भी माँगे। तिलक ने कहा, 'भेज दूँगा।' घर आकर मुझसे पूछा, 'हौशी के लिए क्या तुम कुछ उधार लाई हो ?' मैं कुछ भी नहीं लाई थी। इसलिए, नौकर पर शक हुआ। हमारे आने के बाद से वह आया ही न था। बीमारी का बहाना करके अपने घर बैठा था। तिलक उसके घर गए। उसे पश्चात्ताप हुआ। वह रोया। तिलक से उसने माफी माँगी। तिलक ने दे दी! घर आकर मुझे समझाने लगे—

'मैंने उसे खूब धमकी दी है कि अगर फिर कभी ऐसा करोगे, तो जेल भिजवा दूँगा! फिर कभी ऐसी कोई बात मेरे कानों में पड़ी, तो बच्चाजी, याद रखना, मुझसे पाला पड़ा है!'

'क्यों, मैं कहती थी न कि इन लोगों पर इतना विश्वास नहीं करना चाहिए। उसे पुलिस के सुपुर्द क्यों नहीं कर दिया!'

'गरीबी के कारण उसका मोह में फँस जाना स्वाभाविक ही है। इसके अलावा, अब मैंने उसे खूब धमकी भी दे दी है। उसे पुलिस के हवाले कर देने से हमें क्या फ़ायदा? व्यर्थ ही रुपया और वक्त की बरबादी! वैसे भी हमारे पैसे कहाँ खर्च नहीं होते? उस बेचारे को क्यों व्यर्थ कहीं उलझा दें? दूसरी बात यह है कि वह उन सारे कपड़ों को बेचकर खा गया है। मैंने उसे खूब धमकी दी है।'

'मैंने उसे खूब धमकी दी है,' यह टेक जारी ही थी। परंतु वह यों ही दिखाने के लिए थी। सच बात यह थी कि वह रोया और यह पिघल गए।

हमारी बालू बाई धोबिन, महाबलेश्वर से आने के बाद, पहली ही खेप ले गई थी। इस खेप में महाबलेश्वर के सब नए कपड़े धोने के लिए दिये गए थे। वह एक दिन छाती पीटती हुई आई। उसके हाथ में एक कमीज़ थी। 'साहब मेरा सब-कुछ चला गया। सारे बर्तन चले गए। सब सोना और रुपया चला गया। उसीमें आपके सब कपड़े भी चले गए।'

हम सबको बहुत बुरा लगा। तिलक से वह कहने लगी, 'आप चलिए और मेरी तरफ से कहीं फ़रियाद करा दीजिए!' तिलक बोले, 'बालू बाई अब वह नहीं मिलेंगे। वह सब माल चला गया।' वह बोली, 'आपका नुक़सान मैं भर दूँगी।'

उसकी कुल तनख्वाह थी एक रुपया। उसमें वह क्या नुक़सान भरेगी? तिलक बोले, 'बालू बाई, तुम अगर ज़िन्दगी-भर भी मुफ़्त में काम करती रहीं, तो भी उन रुपयों को नहीं चुका सकोगी। तुम कोई चिन्ता न करो! मेरे कपड़े गए, पर उनके साथ तुम्हारा माल भी चला गया है। अब अगले महीने से तुम्हें हम दो रुपया तनख्वाह देंगे। जाओ! रोओ मत!'

और उसके बाद बालू बाई की दो रुपये तनख्वाह हो गई।

महाबलेश्वर से हमारे लौटने के एक-दो महीने बाद डॉक्टर वालंटाइन साहब के निमंत्रण पर चार दिन के लिए हम राहुरी गए थे। राहुरी में हमें

चार दिन रहने के लिए एक छोटा-सा घर दिया गया था। खाना डॉक्टर वालंटाइन के घर से आया करता था।

रोज सुवह-शाम हमारे घर शास्त्र-वाचन, पोथी-प्रार्थना और भजन होते। भजन में तिलक अपने भावमय पद्यों को तैयार करके सुनाते। प्रार्थना में हमेशा अड़ोस-पड़ोस के लोग इकट्ठे होते। एकत्रित लोग अपनी पसंद का शास्त्र-वचन यानी 'वाइवल वर्स' सुनाते। राहुरी आने पर भी यह नियम भंग न हुआ। मैं और दत्तू दोनों हिंदू थे। तो भी हम नियम से प्रार्थना में वैठा करते। मुझे प्रार्थना अच्छी लगने लगी। अपने हृदयस्थ पर ईश्वर से वातें करना एक नया आह्लाददायक अनुभव मुझे प्रतीत होने लगा। सुन-सुनकर वाइवल के वारे में भी मुझे वहुत-सी जानकारी हो गई। उस दिन शनिवार था। इसी तरह प्रार्थना के लिए लोग एकत्रित हुए थे। एकत्रित सव ईसाइयों ने शास्त्र-वचन कहे। दत्तू की वारी आई। उसने 'देव प्रीति है' यह शास्त्र-वचन कहा। मेरी वारी आई तो मैंने 'हे ईश्वर, मुझ पापी पर दया कर' यह शास्त्र-वचन कहा।

तिलक वोले, 'तुम पर ईश्वर कभी दया न करेगा।'

'क्यों नहीं करेगा ?'

'तुम मुझसे वचन-वद्ध हो। ऐसी हालत में यदि तुम मुझसे दूर रहने लगो तो मैं तुम्हारे वारे में क्या सोचूँगा ? उसी तरह ईसा के प्रति यदि तुम्हारी भक्ति हो और उसके होते हुए तुम उससे दूर रहने लगो, तो वह प्रतारणा ईश्वर को कैसे पसंद आयगी ? वह तुम पर किस तरह दया करेगा ?'

प्रार्थना होने पर मैं उठी और वाहर गई। यह मैंने घर में किसी से न कहा कि मैं कहाँ जा रही हूँ, मैं उठी और सीधी वालंटाइन साहव के वँगले पर गई और मैंने उनका दरवाज़ा खटखटाया। मुझे देखकर साहव चकित हो गए।

'क्यों लक्ष्मीवाई, आप अकेली आईं ?'

'साहव कल मुझे वपतिस्मा दे दीजिए।'

'अभी यह कैसे होगा ? आपको अभी धर्म-शास्त्र का ज्ञान नहीं। आपको अभी कम-से-कम पाँच-छ महीने ईसाई धर्म का अध्ययन करना चाहिए।'

'मुझे ईसाई धर्म की अब अच्छी जानकारी हो गई है। मेरा बपतिस्मा कल ही हो जाना चाहिए।'

'परंतु बाई, इतनी जल्दी क्यों ?'

'यह मैं कुछ नहीं सुनना चाहती। आप यदि मुझे बपतिस्मा न देना चाहते हों तो साफ़-साफ़ कह दीजिए।'

'लेकिन जब आपकी परीक्षा ली जायगी, उस समय आपको ठीक-ठीक' उत्तर देने होंगे।'

'मैं यह कुछ नहीं जानती। यह बताइए कि आप मुझे बपतिस्मा देंगे या नहीं। वरना मैं चली।'

'आप इस समय जाइए। मैं इस वक्त कोई जवाब न दे सकूँगा।'

'साहब कल रविवार है। मुझे, दत्तू को और हौशी को कल ही बपतिस्मा दे देना चाहिए। धर्म-शास्त्र की परीक्षा में चाहे मैं उत्तीर्ण न हूँ, फिर भी ईसा के प्रति मेरी भक्ति है। मैं क्या झूठ बोल रही हूँ ?' साहब ने और मैंने प्रार्थना की और दूसरे दिन हमें बपतिस्मा देना निश्चित हुआ।

दूसरे दिन बपतिस्मा देना तय हुआ था। मैं उस आनंद-सागर में तैरती हुई घर आई। साथ में बालंटाइन साहब ने लालटेन लेकर अपना नौकर भेजा था। वापस आने पर तिलक ने पूछा, 'कहाँ गई थीं ?' मेरे मुँह से सारा हाल सुनकर उन्हें अत्यानंद हुआ।

विदेशी मिशनरी के हाथ से बपतिस्मा लेने से मैंने इन्कार कर दिया था, इसलिए वह भारतीय पादरी के हाथ से दिया गया।

कुछ स्मरणीय बातें

उसी वर्ष की एक और स्मरणीय बात है। और वह है मेरा भाषण। हर दिवाली पर अहमदनगर में 'ऐक्य-सभा' नाम की एक बड़ी भारी सभा हुआ करती थी। उस सभा में नगर, सातारा, सोलापुर इत्यादि ज़िलों के ईसाई आते और उसे एक प्रकार के मेले का स्वरूप प्राप्त हो जाता। नगर का पुराना देवालय बिलकुल ठसाठस भर जाता था।

उस दिन तो दरवाज़ों और खिड़कियों में भी लोग बैठे थे। यह सुनकर हर एक को बड़ी उत्सुकता हो रही थी कि तिलक की पत्नी का भाषण होगा। तिलक की बड़ी चाह थी कि उनकी पत्नी कोई महान् हो। उसे लेखिका, कवयित्री, भाषण-कर्त्री बनना चाहिए और इस दिशा में वह हमेशा प्रयत्नशील रहते। पहले-पहल उन्हें पहली दो बातों के बारे में बिलकुल ही निराश होना पड़ा, परंतु फिर उन्हें मेरे बारे में बहुत आशा प्रतीत होने लगी। अस्तु! परंतु भाषण देने का मेरे लिए यह पहला ही अवसर था। जिस स्त्री ने दिया भी नहीं जलाया था वह आवाँ देखने जा रही थी। इससे पहले भाषण देना तो दरकिनार रहा, मैंने वह सुना भी न था। सिर्फ़ नाजनादगाँव के एक वक्तृत्व-समारोह ही की प्रत्यक्ष रूप से मुझे जानकारी थी, परंतु उसमें भी मेरे सुपुर्द काम था रसोई बनाने और परोसने का!

मेरे लिए तिलक ने भाषण लिख दिया था और वह मुझसे कंठाग्र भी करा लिया था। कितनी ही बार उन्होंने मुझसे दोहरवा लिया था। हम

दोनों जंगल में जाते। वहाँ मैंने उनके सामने ऊँचे स्वर में वह भाषण कितनी ही बार कह सुनाया था। इस प्रकार तैयारी तो बिलकुल पूरी तरह से हो गई थी। हर वक्ता को दस मिनट दिये गए थे। मेरे पहले दो-चार लोग भाषण दे चुके थे। मेरा नाम आते ही मैं भी बड़ी शान से मंच पर आकर खड़ी हो गई। सामने लोगों का विशाल समुदाय फैला हुआ था। पहली ही बेंच पर बिलकुल सामने डॉक्टर ह्यूम और तिलक बैठे थे। मेरी पोशाक जैसी रहा करती थी ठीक वैसी ही थी यानी नथ, कानों में जेवर, कुंकुम, नौ-गज़ी काँछदार साड़ी—ऐसा ठाठ था। ईसाइयों में स्त्रियों की पोशाक निश्चित हो चुकी है। इसलिए, उनकी नज़रों में यह एक निराला ही दृश्य था। फिर मैं हाल ही में ईसाई हुई थी।

अस्तु। मैं बड़ी शान से मंच पर जाकर खड़ी तो हो गई। परंतु दस मिनटों में से नौ मिनटों तक मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। लकड़ी के लट्ठे की तरह में खड़ी थी और चित्र के समान श्रोताओं का समुदाय बैठा था। मेरे लिए बहुत-से लोग प्रार्थना कर रहे थे कि, 'ईश्वर, इसके मुंह से कम-से-कम चार शब्द ही बाहर निकाल दे।' किसी ने पानी का गिलास लाकर मेरे पास रखा, किसी ने लौंग लाकर रख दी। परंतु मेरा गला तो सूखा नहीं था फिर मैं उन चीज़ों का उपयोग क्या करती ? कोई मन में कहता, 'इसके हाथ में कागज़ रखे हैं। कम-से-कम उन्हें पढ़ने की बुद्धि ही इसे प्राप्त हो जाय। दूसरे हाथ में रूमाल था। पर वह भी मुँह की तरफ न जाता था। रूमाल की आदत न थी और कागज पढ़ने की याद नहीं रही। मेरे बाद और भी बहुत-से लोगों को भाषण देने थे। इसलिए डॉक्टर ह्यूम मुझे धन्यवाद देने के लिए खड़े हुए। इसी समय मेरी वाचा फूटी। मैं इतने धड़ल्ले से और अस्खलित रूप में बोलने लगी कि मेरा भाषण सुनकर सब लोग चकित हो गए। भाषण समाप्त हुआ। परंतु मन कहता कि कुछ कहना भूल गई हूँ। कागज़ पर दाग पड़ गया था। मैंने सोचा कि उस स्थान का भाषण कहने को रह गया। अंत में कंठाग्र किये हुए भाषण के बाहर का भाषण मैंने दिया ! बड़ी तत्पर-बुद्धि रखी ! मैंने

कहा, 'मुझे जो कहना था, वह मैं कह चुकी। अव इस विषय में जो कुछ कहने को रह गया हो, वह हमारे प्रिय मिस्टर तिलकजी कहेंगे।'

मेरा भ्रम दूर हो गया। मैं अपनी जगह पर आ वैठी। मेरे स्थान पर मंच पर तिलक दिखाई देने लगे। वह वोले, 'मेरे कहने के लिए इन्होंने कुछ भी नहीं छोड़ा है।' घर आने पर मैं उन पर वहुत नाराज़ हुई। वह वोले, 'पानी में कूदे विना तैरना नहीं आता।' मैंने उनसे कहा, 'यदि आप आगे मुझसे कहीं भाषण दिलाना चाहते हों, तो मैं रटा हुआ भाषण हरगिज़ न दूंगी। जैसे विचार मेरे मन में आयँगे, वैसे मैं प्रकट करूँगी। दूसरे के लिखने से मेरे मन में गड़वड़ी हो जाती है।' इसके वाद आज तक मैंने वहुत-सी सभाओं में भाषण दिए, परंतु कभी कोई भाषण लिखकर और रटकर नहीं दिया।

मुझे यदि सभा-धृष्ट किसी ने वनाया है, तो ईसाई श्रोताओं ने। उस दिन मेरे पहले भाषण में नौ मिनट तक वह इतना विशाल जन-समुदाय जिस तरह शान्ति से वैठा रहा, उसीसे मेरा संकोच भाग गया। इस समाज के श्रोताओं का सभा में वर्ताव करने का अनुशासन वड़ा सहानुभूति-पूर्ण और शान्तिपूर्ण होता है।

महावलेश्वर से लौटने पर चार दिन के लिए वालंटाइना साहव ने हमें राहुरी वुलाया था। हम वहाँ गए थे और वहीं हमारा वपतिस्मा हुआ इत्यादि वृत्तान्त मैं पहले लिख ही चुकी हूँ। राहुरी जाते समय जव हम स्टेशन जा रहे थे, तव भिकूताई ने विस्तर पर पड़े-पड़े अपने वँगले से हमारा ताँगा देखा। तुरंत उसने हमारे पीछे अपना नौकर दौड़ाया। वह हमारे ताँगे के पीछे भाग रहा था।

तिलक ने टिकट कटाए, हमें ले जाकर डिव्वे में विठा दिया और स्वयं प्लेटफार्म पर खड़े-खड़े किसी से वातें करने लगे। इसी समय वह नौकर डिव्वे में आया और मुझसे वोला, 'वाई साहव ने कहा है कि पहले मेरे दो सौ रुपये चुका दो, तव आगे वढ़ो।' यह सुनकर मुझे ऐसा लगा, जैसे मैं मृत हो गई हूँ। मेरे पास उस वक्त रुपये होते, तो मैं तत्काल दे डालती।

परंतु 'दरिद्राणाम् मनोरथाः'-जैसी हमारी सदा की स्थिति थी। मैंने तिलक की ओर देखा। तिलक सिर्फ़ हँस दिए। गाड़ी चलने लगी। नौकर एकदम नीचे कूद पड़ा। उसकी धमकी गाड़ी के लिए ब्रेक का काम थोड़े ही करने वाली थी ?

राहुरी से लौटने पर तिलक अपने काम पर गए। उनका मुख्य काम था शिक्षक का। वहाँ एक 'ईश्वरविद्या' की पाठशाला थी। उसमें वह पढ़ाते थे। विद्यार्थी बड़े-बड़े गृहस्थ लोग रहा करते। कुछ महीने तक पढ़ाई हो जाने पर उन्हें लंबी छुट्टी मिलती और वह अपने-अपने वास-स्थान लौट जाते। उस समय हम उन्हें अपने घर सपरिवार चाय और नाश्ते के लिए आमंत्रित किया करते और उस वक्त मुझे बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ती। इस बार मैंने बहुत-सी पकौड़ियाँ बनाई थीं और उसी गड़बड़ में मुझे ज्वर आ गया था। फिर खसरा हो गया और मैं बहुत बीमार हो ही गई।

माँ के बाद मेरी बहन मेरे लिए माँ के स्थान पर थी। परंतु वह स्वभाव से जितनी स्नेहमयी थी, उतनी ही अभिमानिनी भी थी। हम दोनों एक ही शहर में रहती थीं, फिर भी, हम दोनों की कभी मुलाकात न होती थी। मैंने उसे दत्तू के यज्ञोपवीत में देखा था और उसके बाद उससे फिर कभी भेंट नहीं हुई। नगर आने पर उसके मुंह से 'उसे सोने को जीन दे दो', यही आखिरी शब्द मैंने सुने थे। उसके अभिमानी और स्नेहमय स्वभाव में संगति लाना बड़ा दुष्कर था। इन दो वृत्तियों का उसके अन्तरतम में तुमुल युद्ध हो रहा था, जिसके परिणामस्वरूप ही उसे यह बीमारी हुई थी।

नाना साहब मुझसे बेटी की तरह प्रेम करते थे। परंतु भिकूताई के कारण उन्होंने भी हमारा नाम लेना छोड़ दिया था। परंतु यह पता चलते ही कि मुझे खसरा हो गया है, नाना साहब से नहीं रहा गया। वह किसी से कुछ न कहकर, चोरी-चोरी मुझसे मिलने आए। एक-दूसरे को देखते ही हम दोनों को सुख और दुःख की बहुत-सी सिसकियाँ आईं। वह बहुत

देर तक बैठे रहे। मैंने उनसे कहा, 'मुझे अपनी बहन से मिलवा दीजिए!' 'मौसी, यह संभव नहीं। एक तो वह तुम्हारे कारण दुखी है ही, और अब घारूमाई की चिन्ता भी उस दुःख में शामिल हो गई है।'

मेरी स्मृति में, उस समय तक मेरी बहन को अपने जीवन में चिंताएँ कभी न करनी पड़ी थीं। परंतु अब दो चिन्ताएँ उसके पीछे पड़ गई थीं। सगी बहन, और अपनी बेटी, यही दो छुरियाँ उसके गले पर रखी गई थीं।

उसका दामाद एक औरत अपने घर में ले आया था। उसके रुपये कलारी में जाने लगे थे। नौकरी छूट गई थी। घारूमाई को बड़ी पीड़ा दी जाने लगी। उन दोनों के उदर-निर्वाह के लिए नाना साहब को हर महीने एक निश्चित लंबी रकम भेजने के लिए बाध्य होना पड़ा। इतना करने पर भी लड़की को कोई सुख न मिला। इन सारे संकटों के भँवर में फँसकर, मेरी बहन बिलकुल हक्की-बक्की हो गई। मेरे नगर आने पर वह बीमार पड़ गई, परंतु कम-से-कम घर में घूमती-फिरती तो थी। लेकिन, मेरे बपतिस्मा लेने का समाचार कानों में पड़ते ही उसने बिलकुल बिस्तर ही पकड़ लिया।

नाना साहब घर गए। खसरे से अच्छी हो जाने पर एक दिन मुझे ले जाने के लिए उनके घर से ताँगा आया। मैं गई। घारूमाई मेरी प्रतीक्षा कर ही रही थी। हमारी मुलाकात में सुख और दुःख का ज्वार आया। हमारा प्रेम ही ऐसा था। मैं थी मौसी और वह थी भानजी। प्यार के रिश्ते में मित्रता का पुट भी लग गया था। और अपने इस दुःख में वह अपने पास अपना कोई बिलकुल नज़दीकी व्यक्ति चाहती थी, जिसके आगे वह अपना हृदय उँडेल सके। ऐसा मुझे छोड़कर उसका और कोई न था। हँसने और रोने के सिवा कम-से-कम उस दिन तो हमसे और कुछ भी करते न बना। ऐसी स्थिति में बहुत-सा समय बिताने के बाद वह भीतर वाले कमरे में अपनी माँ के पास गई और उसे मेरे आने का समाचार दिया। यह मालूम होते ही कि मैं आई हूँ, भिकूताई ने दीवार की ओर मुँह फेर लिया। घारूमाई ने उसे मनाने की बहुत चेष्टा की, पर वह कुछ बोलती ही न थी। जिस अटारी में वह सोई थी, वहाँ दूसरे कमरे में घारूमाई मुझे ले गई।

मैंने वहाँ से झाँककर देखा। मैं क्या देख रही थी ? नाना साहव ने जो कहा था, वह विलकुल सच था। 'उसकी कल आने वाली मृत्यु को तुम आज वुलाओगी,' उनके ये शब्द मुझे लगातार डराने लगे। मैं पैरों से आवाज़ न करती हुई उसके पास गई और धीरे-से उसकी ओर झाँककर देखने लगी। घारू ने उससे कहा, 'मौसी आई है।' परंतु भिकूताई ने मुँह न फेरा। सिर्फ़ जाते समय इतना ही कहा, 'उस चांडालिनी के दामन में कुछ डाल दे !'

वे दिवाली के दिन थे और माँ के कहने से पहले ही टोकरी-भर पटाखे और वहुत-सा नाश्ता मुझे देने के लिए घारूभाई ने अलग निकालकर रखा था। उसने थाल भरकर वह सव मेरे आँचल में डाल दिया। प्रेम में लज्जा नहीं होती। जिसने दो सौ रुपये माँगने के लिए स्टेशन पर नौकर भेजा था, उसीने चांडालिनी को यह देने का हुक्म दिया था।

अव हर त्योहार को उसके घर से परोसा आने लगा और मैं भी करीव-करीव हर रोज़ भिकूताई के घर जाने लगी। दत्तू भी मेरे साथ जाता। कभी-कभी हौशी भी जाती। एक दिन दत्तू अकेला ही उसके कमरे में था। भिकूताई ने यह दिखाने की यद्यपि भरसक कोशिश की कि हमारे प्रति उसका प्रेम अव समाप्त हो गया है, फिर भी, अंत में वह उस समय प्रकट हो गया। उसे अकेला देखकर वह वोली, 'आओ वेटा, मेरे पास आओ !' वह उसके पास गया। "और पास आओ !" उसने अपना कंवल ऊपर उठाया और कहा, 'इधर आओ, मेरी छाती से चिपककर सो जाओ !'

'परंतु मौसी, तुम्हें मेरी छूत लग जायगी।'

'लग जाने दे' कहकर, उसने उसे उठाकर अपने हृदय से कसकर चिपका लिया। मैं वीच के द्वार से यह देख रही थी। हम दोनों फूट-फूटकर रोईं। परंतु वहन ने मुझे देखा नहीं।

'दत्तू, तुम और हौशी दोनों मुझसे मिलने रोज़ आया करो। यदि तुम्हारी माँ न आय, तो कोई हर्ज नहीं।'

'अच्छा मौसी, आया करूँगा।'

और उसके बाद वे दोनों रोज़ उससे मिलने जाने लगे।

आगे चलकर मैं भी उसे अपनी आँखों के सामने सहन होने लगी। और कुछ दिनों के बाद तो ऐसा हो गया कि यदि मैं न जाती, तो वह व्याकुल हो जाती। यह जानने के लिए कि मनी कब आयगी, वह पड़ी-पड़ी लगातार बाहर देखती रहती। मैं अब कभी-कभी रात-दिन उसके यहाँ रहने लगी। तिलक भी रोज़ जाकर उससे मिल लेते।

जिस बहन को उसने ज़ीन देने के लिए कहा था, उसी बहन को अब यदि सिर्फ़ जाजिम सोने को दी जाती, तो उसे अच्छा न लगता। वह कहती, 'क्यों, क्या वह रास्ते-चलती चोर है ? उसे अच्छा बिस्तर दो सोने को।' मेरे बारे में कोई अगर भला-बुरा कुछ कह देता, तो उसे बहुत बुरा लगता। वह उसे अच्छी तरह डाटती-फटकारती। एक स्त्री ने एक दिन उससे कहा, 'क्यों, इतना करने पर भी आखिर तुम्हारी बहन चल ही दी न ?' उसने झट उसे चुप कर दिया, 'चल दी का क्या मतलब ! क्या किसी और का हाथ पकड़कर चली गई मेरी बहन ?'

बेबी को मैं उसके घर ले जाया करती। उसको भी वह बड़ा लाड़ करती। एक दिन उसे उसने उठा लिया। 'अरी, कितनी भारी है तेरी बिटिया ? मुझसे उठाते नहीं बनती।'

लेकिन, असल में बात यह थी कि वह स्वयं अत्यन्त क्षीण हो गई थी। उस लड़की को उठाना उसकी शक्ति के बाहर का काम था। मेरे प्रति आगे चलकर उसके मन में ज़रा-सा भी कल्मष न रहा। वह कहती, 'मनू, बहुत अच्छा हुआ कि तू चली गई। अब मेरी एक बड़ी चिन्ता दूर हो गई।' तिलक अब पहले-जैसे अस्थिर न रहे थे, इसलिए उसे हमारी नई गृहस्थी देखकर खुशी होती थी। मेरे विषय में उसके मन में अब कुछ भी न रहा। लेकिन, एक चीज़ अलबत्ता वापस न मिली। वह था उसका सुदृढ़ स्वास्थ्य। वह अधिकाधिक क्षीण होती गई। अंत में यह सोचकर कि शायद उसे अपनी जन्म-भूमि में आराम मिले, उसे नासिक ले जाने का निश्चय हुआ। मैं उसे पहुँचाने स्टेशन पर गई थी। उस समय उसने यही कहा, 'मनू, तूने

बहुत अच्छा किया, जो अपने पति के पास चली गई।'

गरमी के दिन आए। तिलक की महाबलेश्वर-यात्रा का समय आया। परंतु इस वर्ष महाबलेश्वर न जाने का उन्होंने निश्चय किया, क्योंकि उनके सामने काम के पहाड़ खड़े थे। काम मिशन का न था। बल्कि जनता का था। अकाल के कारण लोगों के रोज़गार बिलकुल नष्ट हो गए थे। उन्हें मदद देने के प्रयत्न में वह उलझे हुए थे। किसी को तकावी दिला दी, किसी को करघे ला दिए, किसी को कपड़े दिए और इसके लिए सारा रुपया उन्होंने स्वयं द्वार-द्वार घूमकर एकत्र किया था। उनका काम देखकर सरकार से भी उन्हें कुछ सहायता मिली थी। फेरी वाले, सब्जी वाले इत्यादि लोगों को चार, छै, दस रुपयों तक देकर उनके रोज़गार उन्हें शुरू कराए। उनके ज़िम्मे साड़ियाँ बाँटने का काम भी था। एक-एक औरत रोज़-रोज़ भिन्न-भिन्न पोशाक में आकर चार-चार साड़ियाँ ऐंठने लगी। जब इस बात का पता चला तब पुरानी साड़ियाँ रख लेने का काम मेरे सुपुर्द किया गया। रुपयों-पैसों और कपड़ों का यह ज़िम्मेदारी का काम तिलक के ऊपर पड़ने और मेरी यह पक्की धारणा होने के कारण कि तिलक रुपयों-पैसों को ठीक से नहीं सँभाल सकते, मैं बन गई थी खज़ाञ्ची। और इस कारण मैं भी घर को छोड़कर बाहर नहीं जा सकती थी। इस अग्नि-परीक्षा से बाहर निकलने में तीन-चार महीने लग गए। इस अवधि में मुझे बहन के घर जाने की बिलकुल फ़ुरसत ही न मिली। फिर वह नासिक चली गई, पर उसके आगे का कोई समाचार न मिलता था। अकाल का ज़ोर कम होते ही मेरे मन में अपनी बहन की चिन्ता जोर पकड़ने लगी। तिलक से मैं पत्र-पर-पत्र भिजवाने लगी। परंतु पेंडसे का कोई जवाब न आता। जो मिलता उससे मैं पगली की तरह अपनी बहन के बारे में पूछती। एक दिन एक महाशय यों ही हमारे यहाँ आए और इसी तरह उनसे भी मैंने अपनी बहन के बारे में पूछा। वह बोले, 'क्या आप नहीं जानतीं ?' 'नहीं तो। क्यों, क्या बात है ? मैं उसके लिए बड़ी चिन्तित हो रही हूँ।'

'अजी, उन्हें तो दस-बारह दिन हो गए।'

मेरे हाथ-पाँव शिथिल हो गए। मुझ पर वज्रपात हो गया। मेरे कारण भिकूताई को कष्ट और बीमारी हुई और अंत में उनकी मृत्यु हो गई। इसलिए मुझे उस समाचार को सुनकर कैसा लगा होगा, यह शब्द की अपेक्षा कल्पना ही से अच्छी तरह जाना जा सकता है।

तिलक ने पेंडसे को तार भेजा। उसका उत्तर पत्र द्वारा आया, मेरी छुट्टी पूरी हो गई है। मैं दो-तीन दिन में आता हूँ। नासिक में रूढ़िग्रस्तता अधिक है, इसलिए जान-बूझकर मनी को पहले खबर नहीं भेजी। अगर खबर भेज देता और वह नासिक आ जाती, तो उस शोक के अवसर पर छुआछूत की और गड़बड़ मच जाती।'

पेंडसे वापस आए। मैं उनसे मिलने गई। एक-दूसरे को देखकर हमें जो अनुभव हुआ, उसका वर्णन करना संभव ही नहीं है।

पेंडसे को भोजन करने अन्यत्र जाना था। परंतु भोजन कराए बग़ैर वह घर नहीं जाने दे रहे थे। 'मौसी, समझो कि तुम्हारा जीजा मर गया और बहन ज़िंदा है। मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगा। यों कहकर मेरा भोजन पूरा होने तक वह मेरे पास बैठे रहे।

उस साल हमारी महाबलेश्वर की यात्रा चूक गई। क्योंकि, बेबी नन्ही थी। आठ महीने की बेबी से महाबलेश्वर की ठंड और नगर की गरमी बरदाश्त न होती, इसलिए हमने बीच का मार्ग खोज निकाला और वाई जाने का निश्चय किया। वाई में आशम्माबाई थीं ही। उन्होंने हमारे लिए मकान, नौकर, दूध वाला वगैरह सबका प्रबंध कर रखा था।

एक दिन एक स्त्री आई। ईसाइयों के बीच मैं अब एक साल से अधिक रह चुकी थी, इसलिए उस समाज के बहुत-से रीति-रिवाज़ मैं जान गई थी। उस औरत के आते ही मैंने उठकर उसका स्वागत किया। 'शेक-हैण्ड' करने (हाथ मिलाने) के लिए हाथ आगे बढ़ाया। कुर्सी आगे खींची। परंतु उस महिला ने अपना हाथ आगे न बढ़ाया और न वह घर के भीतर आई। उसने पूछा, 'साहब कहाँ हैं?' मैंने कहा, 'वह बाहर गए

हैं।' 'उन्होंने मुझे काम के लिए बुलाया है।'

मैंने कहा, 'हमारे यहाँ कोई काम नहीं है।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। यह औरत क्या काम करेगी ? घर के काम के लिए दो आदमी हम नगर से ही अपने साथ ले आए थे। औरत चली गई।

मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। औरत भी क्या अजीब है ? घर में आई नहीं। 'शेकहेंड' किया नहीं। बदन पर जेवर कितने पहने थी ? हँसली, कंगन, पुतलियों का हार, नाक और कानों के जेवर। जो साड़ी पहने थी, वह भी ज़रूर होगी कम-से कम पन्द्रह-बीस रुपयों की। यह औरत हमारे घर आखिर काम भी क्या करेगी ? होगा शायद कुछ लिखने-पढ़ने का काम। इस तरह मैंने अपने मन को समझा लिया।

शाम को घर आने पर तिलक पूछने लगे, 'भंगिन आई थी क्या ? बेबी के गंदे कपड़े धोने के लिए मैंने उसे कल से बुलाया है।' मेरे मन का भ्रम दूर हो गया।

'क्या वह भंगिन थी ?'

'हाँ। क्यों ?'

'मैंने उसे बैठने के लिए कुर्सी दी और 'शेकहेंड' के लिए हाथ आगे बढ़ाया। पर वह चुप रही। पाँच-गज़ी साड़ी पहने थी, काँछ लगाए न थी, इसलिए मैं समझी कि वह कोई ईसाई महिला ही है। अच्छा, और हाथ में मुहर की अँगूठी पहने थी, इसलिए लगता था कि वह हिंदू है। इसी-लिए मैं बड़े असमंजस में पड़ गई।'

'तुम यह क्या सोचती हो कि साफ-सुथरे रहने का सारा ठेका तुम्हारे ही लोगों ने ले रखा है ?'

दूसरे दिन से वह काम पर आने लगी। आँगन बुहारना, बच्चों के गंदे कपड़े धोना इत्यादि काम वह करने लगी। मैंने एक दिन उससे पूछा—

'क्यों री, तू इतनी साफ-सुथरी और ठीक-ठाक दिखाई देती है। क्या तेरा घर भी ऐसा साफ-सुथरा है ?

'मालकिन, अभी चलेंगी क्या मेरे घर ? नहीं तो, आप कहेंगी कि मैंने

पहले से लीप-पोतकर और साफ़ करके तुम्हें दिखाया है। बस, अभी ऐसी ही चली चलिए !'

मैं उसके साथ उसके घर गई।

वह मुहल्ला किन लोगों का था, इसकी मैंने कोई पूछ-ताछ न की। परंतु वहाँ के घर, आंगन रास्ते बिलकुल साफ़ थे। उसके घर के दरवाज़े बड़े थे। भीतर थालियाँ, कटोरियाँ, पानी पीने के बर्तन चमक रहे थे। घर साफ़-सुथरा, बुहारा हुआ तथा लिपा-पुता था। चूल्हे पर चढ़ाए जाने वाले बर्तनों की पेंदियाँ राख से पुती थीं, जिससे बर्तन जलें नहीं। आँगन में पानी का छिड़काव किया गया था। द्वार के सामने तुलसी-वृन्दावन था। यह सब देखकर मैं आश्चर्य से दंग ही रह गई। मेरा जो यह मत बन रहा था कि स्वच्छता और टीप-टाप किसी जाति-विशेष की चीज़ नहीं, किन्तु व्यक्ति की चीज़ है, वह अब अधिक दृढ़ हो गया।

इस क्षेत्र में कोयना और कृष्णा नदियों का संगम होता है। वैसा ही मेरा हाल हुआ। मैंने उस भंगिन के गले में बाँहें डालकर पूछा, 'क्यों री, हमारे हाथ का क्यों नहीं खातीं तुम लोग ?' वह बोली, 'बाई, ऐसा करने पर जाति बदनाम करेगी हमें।' मैंने कहा, 'तूने मेरा घर देख लिया है। मुझे भी देखा है। अब क्या हर्ज है ?' वह बोली, 'क्या आप खा लेंगी हमारे हाथ का ?' मैंने कहा, 'हाँ, न खाने की क्या बात है ?'

बस, फिर क्या था ? भंगिन चटपट नाश्ता बनाकर ले आई। तिलक डॉक्टर ह्यूम से मिलने महाबलेश्वर गए थे। मैंने वह नाश्ता ले लिया। घर के नौकर-चाकर हिचकिचाने लगे। मैंने उनसे कहा, 'तुम्हें न खाना हो, तो मैं कोई आग्रह नहीं करती। मैं और मेरे बच्चे खायँगे।' और दत्तू, हौशी और मैं, तीनों ने वह नाश्ता किया। यह देखकर कि मैंने उसके हाथ का नाश्ता इतने प्रेम से खाया, भंगिन को भी बड़ी खुशी हुई।

तिलक दूसरे दिन वापस आए। जब उन्हें यह बात मालूम हुई, तब वह बोले, 'तुम तो मुझसे भी आगे बढ़ गईं !'

वाई से लौटने पर मैंने हौशी-जैसी एक और लड़की रख ली। अब परिवार बहुत बढ़ गया। हौशी, दया, तारा, बेबी और दत्तू इतने बच्चे घर में थे।

अकाल ने उग्र रूप धारण कर लिया था। मिशन को न जाने क्या घाटा आ गया था, या क्या हुआ था, उन्होंने बाईस लड़के बोर्डिंग-हाउस से निकाल दिए थे। तिलक को जब इसका पता लगा, तब उनका हृदय तिलमिला उठा। वह मेरे पास आए और बोले, 'मिशन ने बाईस लड़कों को बोर्डिंग-हाउस से निकाल दिया है। वे भूखों मर जायँगे। अब क्या करना चाहिए ?'

उस दिन हमारे घर में सवा रुपया बाकी था और सवा सेर ज्वार भंडार में रखी थी। परंतु हमारा सबसे बड़ा धन था ईश्वर के प्रति हमारा विश्वास और वह हमारे पास भरपूर था। हम दोनों ने धरती पर अपने मस्तक टेककर लगन के साथ ईश्वर की प्रार्थना की। बाद में दोनों ने एक-दूसरे को वचन दिया कि हम अपने और इन लड़कों के भोजन में कोई फर्क न करेंगे। जो कुछ ज्वार या बाजरे की रोटी इन लड़कों को मिलेगी, वही हम भी खायँगे और उन लड़कों को अपने घर ले आयँगे।

दत्तू को बुलाकर हमने गोद में बिठाया। उससे कहा, 'बेटा, देखो, आज तुम्हारे भाई खाली-पेट जंगलों की खाक छान रहे हैं। हम उन्हें अपने घर लाने वाले हैं। वे जो खायँगे, वही तुम्हें भी खाना होगा। खाओगे न ?' दत्तू बोला, 'हाँ, मैं उनके साथ खाऊँगा, उनसे कभी न लड़ूँगा।' और आगे जब हम उन लड़कों को अपने घर ले आए और जब तक वे हमारे घर रहे, तब तक दत्तू ने वही खाना खाया, जो उन लड़कों को मिलता था और अपने वचन का पालन किया।

लड़के आ गए। अब हमारे सामने एक बड़ा प्रश्न आकर खड़ा हो गया और वह था हौशी और दया का। उन्हें कहाँ रखा जाय ? तिलक ने पूना की सुंदराबाई पोवार से पूछा कि क्या वह इन लड़कियों को पाठशाला में भरती कर लेंगी और उन्होंने वापसी डाक से उत्तर दिया कि लड़कियों को

तुरंत भेज दिया जाय। दोनों लड़कियाँ तुरन्त पूना भेज दी गईं और वे लड़के घर आए। इसी समय के लगभग खारें करजुण्या में तिलक ने भिक्या को ले लिया।

भिक्या बहुत छोटा था। वह सबको अत्यन्त प्रिय लगता। तिलक कहते कि उसे हम एक शास्त्री बनायँगे। परन्तु वह अत्यन्त मंद था। उसकी बेवकूफी से तंग आकर तिलक उसे रोज़ पीटते। उससे 'रामः रामौ' भी कहते न बनता। रोज़ सुबह चार-पाँच बजे उठकर तिलक उसे अध्ययन के लिए पाठ देते, परन्तु उसका कोई उपयोग न होता।

अकाल का स्वरूप अब और भी अधिक भीषण दिखाई देने लगा। खाने को अन्न के दाने तो थे ही नहीं, पीने के लिए पानी प्राप्त होना भी कठिन हो गया। सन् १८९५ से तिलक के जो निश्चित नौकर-चाकर थे, उन्हींमें एक भिश्ती था। उसने कहा,—'मैं बाजार में एक मश्क-भर पानी एक रुपए में बेचता हूँ, फिर भी आपको हमेशा के भाव से दूँगा। परन्तु मुझे अपनी फुरसत से पानी लाने की सहूलियत मिलनी चाहिए। वह रात को एक-दो बजे पानी लाने लगा। पिछवाड़े के द्वार में ताला लगाकर उसकी ताली भिश्ती को दे दी गई थी। वह बड़े विश्वास के साथ लबालब भरी हुई मशकें लाता और घर में पानी भर जाता। घर के सब बर्तनों में यहाँ तक कि पानी पीने के लोटों और गिलासों में भी, वह पानी भर देता। उधार-खाते के कारण, उस भिश्ती को सहूलियत देने के कारण और तिलक के उदार अन्तःकरण के कारण इतना बड़ा अकाल घर में किसी को भी कभी महसूस न हुआ।

तिलक ने इन बाईस लड़कों में से कुछ लड़कों को पाठशाला में भरती कराया, किसी को छापेखाने में नौकरी दिला दी और कुछ लड़कों को इसी तरह कुछ अन्य काम सीखने के लिए भेज दिया। लड़के अब अपनी नई परिस्थिति में अधिक आनन्द और शान्ति से रहने के कारण अच्छे दिखाई देने लगे। ये लड़के हमारे घर बहुत अच्छी तरह रहे। उन्होंने कभी चोरी-चालाकी वगैरह न की। उन्हीं में दत्तू भी था।

काम के लिए दो नौकरानियाँ थीं। परन्तु उनसे सब काम पूरा न हो पाता। मैं उनकी बराबरी से काम करती। परन्तु पिसाई में बड़ी तकलीफ़ होने लगी। यदि पीसने के लिए अन्न बाहर भेजें, तो खर्च बढ़ता था। इसलिए, मैंने अपने लड़कों की सभा बुलाई और उनके सामने यह विषय रखा। काम पर एक नौकरानी और रखनी होगी। मतलब यह कि तुममें से एक लड़के को निकालना होगा। पिसान तो हम लोगों से पूरा नहीं होता। हमें रोज़ तीन 'पायली' (अन्न का एक दक्षिणी पैमाना) पिसान की जरूरत होती है। इसलिए यदि नौकरानी नहीं रखनी है, तो छोटे लड़कों को एक 'पायली' अन्न पीसना चाहिए और बड़े लड़के हमारे लिए दो 'पायली' पीस दें। लड़कों को यह बात जँच गई। उतना ही हमारा खर्च बच गया। कभी लड़के बीमार पड़ जाते, तो उनके गंदे कपड़े मैं धोया करती, क्योंकि यदि भंगिन को इस काम में लगाती, तो उसे पैसे देने पड़ते। उन्हीं पैसों से मैं सब्ज़ी खरीद लेती थी।

हमारी और लड़कों की गृहस्थी इस तरह अत्यन्त प्रेमपूर्वक और सुख, संतोष तथा शान्ति से चल रही थी कि बीच ही में एक संकट उपस्थित हो गया। मुझे तिलक के बारे में रुपये-पैसे की जो शिकायत थी, वही डॉक्टर ह्यूम को हम दोनों के बारे में और विशेषतः मेरे बारे में थी। वह समझते थे कि मैं व्यर्थ पैसे खर्च करती हूँ और तिलक की गृहस्थी के प्रति मुझे इतने दिनों तक जैसी चिन्ता और लगन अनुभव होती थी, वैसी हम दोनों की गृहस्थी के प्रति डॉक्टर ह्यूम को महसूस होती। हमारा लड़कों को रख लेना उन्हें बिलकुल अच्छा न लगा। उनका खयाल भी ठीक ही था। हर महीने की बिलकुल पहली तारीख ही को हमारा आगामी महीने का वेतन खत्म हो चुकता। उनका खयाल था कि रुपयों-पैसों की इतनी खींचातानी करके परोपकार करते रहना अंत में अपने हाथों से अपने ऊपर मुसीबत ले आना है। यह चिन्ता तिलक के प्रति उनके निष्कपट प्रेम के कारण थी। हमारी गृहस्थी में उनका इस तरह दखल देना हमें नागवार गुज़रता और हम उन पर यद्यपि नाराज़ भी हो जाते, फिर भी हमारा यह गुस्सा अधिक

देर तक न टिकता।

अब ह्यूम साहब का हमसे यह तकाज़ा शुरू हुआ कि हम उन लड़कों को भगा दें। 'तुम्हारा वेतन तुम्हारी ही गृहस्थी के लिए पर्याप्त नहीं होता—'वह कहते। हम कहते— 'हम उन्हें नहीं छोड़ेंगे। जब तक कहीं अन्यत्र उनका प्रबन्ध नहीं हो जाता, तब तक हम उन्हें सँभालेंगे।'

'पर भाई, तुम्हारा खर्च बहुत हो रहा है।'

'हमें जो रुपया मिलता है, वह सिर्फ़ अपने ही शौक पूरे करने के लिए नहीं। ईश्वर ने उसमें बहुतों का हिस्सा रख दिया है।'

'पर भाई, तुम्हें मुश्किल हो जायगी।'

मैंने कहा, 'साहब, यह आप क्या कर रहे हैं ? माँ खाने के लिए नहीं देती और बाप भीख नहीं माँगने देता !'

'बहन जी, आप क्या कह रही हैं, मैं समझ नहीं पाया।'

'मेरा मतलब यह है कि आप स्वयं उनका कोई प्रबन्ध नहीं करते, और हमें उनको सँभालने नहीं देते ! यह क्या न्याय हुआ ?'

'अच्छा भाई, अब मैं जाता हूँ। आप लोग इस बात पर खूब विचार करें। मैं भी सोचता हूँ।' कहकर ह्यूम साहब चल दिए।

हमने खूब सोचा। तिलक बोले—'हमारे लोगों को इन मिशनरियों ने कितना कमजोर बना दिया है। जैसे सहायता करने का सारा ठेका मिशनरियों ही ने ले लिया है। किसी की सहायता करनी हो, तो दिखाओ मिशनरी का बंगला। भारतीय ईसाई बस यही सहायता करते हैं। उनकी यह आदत ही पड़ गई है। कुछ भी हो, जब तक लड़कों का कहीं अन्यत्र ठीक प्रबन्ध न हो, तब तक हम उन्हें नहीं छोड़ेंगे।

जैसे-तैसे ग्यारह महीनों तक हमने उन लड़कों को सँभाला। मुझे तो लड़कों को सँभालने की अब जैसे धुन लग ही गई थी। मैंने इन बड़े लड़कों की गड़बड़ ही में दो महीने का एक लड़का और एक पन्द्रह दिन का एक लड़का भी सँभाला। बेबी भी छोटी ही थी। इन तीन बच्चों के पलनों की डोरियाँ और उनके दूध की बोतलें लगातार मेरे हाथ में रहतीं।

डॉक्टर ह्यूम मेरे सामने औंधा टोप पकड़कर खड़े हो जाते। कहते—'बहनजी, अब मेरे इस टोप में अपने बच्चे डाल दीजिए। मुझे भीख दीजिए।' मैं कहती, 'नहीं देती।' हमारा यह नाटक रोज़ होता। अहाते के बाहर ही से जब तिलक द्वारा रचित **'भय काय आहे त्या ज्याचा प्रभू रे'**[1] गीत के उलटे-सुलटे शब्द मेरे कानों में पड़ते, तब मैं समझ जाती कि साहब आ गए।

एक दिन बिलकुल ऊबकर, डॉक्टर ह्यूम बोले, 'देखो भाई, तुम इस तरह लड़कों को पालते हो। तुम्हें रुपयों-पैसों की अड़चन होती है। अंत में इस पर तुम दोनों में लड़ाई होगी और फिर उसे लेकर मेरे बंगले पर आओगे।'

मैंने कहा, 'साहब, हमारा विवाह आपके बँगले पर तय नहीं हुआ। इसलिए अपने झगड़े मिटाने का कष्ट भी हम आपको न देंगे।'

'अब बहनजी, यह बताइए कि आपके लिए मैं क्या करूँ?'

'साहब, आप हमारे लिए परमेश्वर से प्रार्थना करें।'

ये लड़के लड़कों की 'डार्मेटरी' से निकले थे। एक दिन डॉक्टर ह्यूम साहब का पत्र आया कि आपके सब लड़कों का मैंने अपने बोर्डिंग-हाउस में प्रबंध कर दिया है। वे 'डार्मेटरी' में नहीं जायँगे, फिर वहाँ से निकलने का उन्हें भय नहीं रहेगा और अपने यहाँ से मैं उन्हें नहीं निकालूँगा।'

जब पत्र आया तब हम दोनों को बहुत बुरा लगा। आनंद भी हुआ। लड़के चले जायँगे, इसका दुःख था और उनका अच्छा प्रबंध हो गया, इसकी खुशी हुई।

उस दिन लड़के हमारे यहाँ से जाने वाले थे, इसलिए मैंने उनके लिए केसर डालकर मीठा भात बनाया। आधी रात के बाद तक हम बातें करते रहे। बोलते-बोलते हम सभी से मिलने आँखों की गंगा-यमुना भी आ रही थी। अंत में तिलक ने प्रार्थना की और हम सब अपने-अपने

---

१. उसे किसका भय है, जिसका ईश्वर है।

बिस्तरों पर जाकर सो रहे। हमारा यह बड़ा परिवार दूसरे दिन टूटने वाला था। सबको एक-दूसरे के प्रति प्रेम हो गया था।

लड़कों के कारण हम पर पाँच सौ रुपयों का कर्ज हो गया था। उसका हिसाब उसी दिन लगाया गया था। तिलक बोले, 'लड़को, मैं सोच रहा था कि तुम लोगों के कारण मुझ पर बहुत अधिक कर्ज हो गया होगा, परंतु ईश्वर की कृपा से विशेष कर्ज़ नहीं हुआ। सिर्फ़ पाँच सौ ही का कर्ज़ हुआ है। हमने यह सब बिलकुल निःस्वार्थ बुद्धि से किया है और हमें दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर इसे अदा करने में हमारी ज़रूर सहायता करेगा, और सचमुच तिलक का विश्वास सफल हुआ। दूसरे ही दिन किसी अमेरिकन सज्जन ने तिलक को पाँच सौ रुपयों का चैक भेजा। लड़कों के कदम घर से बाहर निकलने से पहले ही कपड़े वाले और अनाज वाले के रुपये चुकाकर हम ऋण-मुक्त हो गए। लड़के गए। कर्ज़ अदा हुआ।

नगर में दूसरी बार प्लेग आया। चूहों ने विज्ञापन किया। टीके लगने शुरू हुए। लोग नगर छोड़ने लगे। तिलक दत्तू को राहुरी में एक मित्र के घर छोड़ आए। इसी समय बेबी काँपने लगी। उसको तेज़ बुखार चढ़ा। तिलक टीका लगाने के खिलाफ़ थे। परंतु उनके राहुरी जाने पर बेबी को छोड़कर, मैंने सबको टीके लगवा दिए।

टीका लगवाना नई बात थी। लोगों को आदत न थी। हम सबके हाथ सूज गए और हमें बुखार भी आया। हममें बिना टीके की बेबी ही थी। उसका खाना-पीना आदि हमारे साथ ही होता था। एक दिन बुखार ही में उसके बिस्तर पर प्लेग का एक चूहा घूमने लगा और वहीं सिरहाने के पास गिरकर वह मर गया। मैं बाहर गई थी।

घर आई, तो सगुणाबाई कहने लगी कि बेबी दौड़ने लगती है और कहती है, 'मुझे मंदिर में ले चलो। अच्छे कपड़े पहनाओ!' जाकर देखा, तो उसे बहुत तेज़ बुखार चढ़ा था। उससे कुछ पूछती, तो वह बोलती ही न थी।

नौकर को दवा लाने भेजा, तो वह वहीं से कहीं भाग गया। घर में एक पाई न थी। पड़ोसी को बुलाया और उससे सोने की अँगूठी बेचकर रुपए लाने को कहा। वह हाथ हिलाता लौट आया। बोला, 'कोई भी सोना खरीदने की बात नहीं करता। हर एक कहता है कि हम अपनी जान लेकर भागें या तुम्हारा सोना खरीदें। अब क्या करें? मुल्ला की दौड़ मसजिद तक! इसी समय कंपाउंड के उस पार एक आदमी को जल्दी-जल्दी में कदम बढ़ाए जाते हुए मैंने देखा। यह खबर सब तरफ फैल चुकी थी कि बेबी को प्लेग हो गया है। इस कारण हमारे घर पर कोई फटकता न था। इस आदमी को किसी समय मैंने तीन रुपये उधार दिए थे। मैं दौड़ती हुई गई और मैंने कंपाउंड की दीवार के पास जाकर, उस आदमी को रोका। उससे मैंने अपने तीन रुपये माँगे। उसने झट पाँच रुपयों का एक नोट निकालकर मेरे हवाले किया और वहाँ से एकदम सटक गया। मैं आखिर और क्या चाहती थी?

बारह बजे तिलक राहुरी से वापस आए। जब उन्हें यह हाल मालूम हुआ, तब वह बोले, 'अच्छा तो यह हो कि कोई हमें यहाँ से जाने के लिए कहे उसके पहले ही हम यह जगह छोड़ दें।' हमने प्रार्थना की। तिलक बोले, 'इसमें भी परमेश्वर की कोई विशेष योजना है।'

हमने प्लेग कैम्प में जाने का निश्चय किया। वहाँ इंतज़ाम करने के लिए तिलक पहले चले गए।

मैं तो इस तरह तैयार हुई, जैसे वायु-परिवर्तन के लिए किसी दूसरे शहर ही को जा रही थी। सिल-लोढ़े से लेकर सब सामान बाँधा। एक गाड़ी भरी और उसे 'सग्रीगेशन कैम्प' भेज दिया। यह सब करते-करते करीब चार बज गए। सगुणाबाई को ताँगा लाने भेजा। परंतु ताँगा मिला नहीं। इसी समय सामान की गाड़ी वापिस आई। इतना सामान वहाँ रखने नहीं देते थे। आवश्यकता-भर का सामान निकाल लिया और बाकी यहाँ भेज दिया। फिर सामान निकालकर, ठीक से जमाकर रखना पड़ा।

अँधेरा हो गया। तिलक लालटेन जलाकर अँधेरे ही में कुछ लिखने

लगे। हम नौकरों का रास्ता देख रहे थे। सगुणाबाई से मैंने कहा, 'नौकर भाग गए हैं। तुम्हें यदि डर लग रहा हो, तो तुम भी जाओ।' वह बोली, 'बाई, मौत से कोई नहीं बचता। अकाल में आपने मुझे और मेरी बेटी को जो सहारा दिया, वह मैं कभी नहीं भूलूँगी। मैं कैसे बेईमान हो सकती हूँ?' एक अशिक्षित स्त्री का कितना बड़ा मन है! हमने जिन लड़कों को रखा था, उनके कानों में जब हमारी कठिनाई का समाचार पड़ा, तब वे बोले, 'अकाल में जिन्होंने अपने मुँह का कौर निकालकर हमें दिया, उन पर यह कठिनाई आ पड़ी है। हमारा कर्तव्य है कि हम उनकी सहायता करें।' यह निश्चय करके बोर्डिंग-हाउस के मास्टर की इज़ाज़त न होने पर भी वे हमारी मदद के लिए दौड़कर आए। हम रात को घना अँधेरा होने पर कैम्प पहुँचे। डॉक्टर ने बेबी की जाँच की। उसे १०५ डिग्री बुखार था। 'बाई, आप लड़की के पास न रहें। आपको प्लेग हो जायगा। यह औरत उसके पास बैठेगी।' मैंने कहा, 'क्यों? क्या इसे प्लेग इसलिए हुआ कि यह किसी के पास बैठी थी? मैं कहीं दूसरी जगह रहने चली भी गई, तो तुम यह कैसे कह सकते हो कि वहाँ मुझे प्लेग नहीं होगा? और अगर मुझे इससे दूर रहना है, तो यह बेचारी ही उसके पास क्यों रहे?

डॉक्टर चुप रहे। लड़के और दया चले गए। झोंपड़ी में मैं, सगुणाबाई और बेबी थे। तिलक ने उन लोगों को खाने के लिए ला दिया और कुछ हमें भी ला दिया। परंतु कहाँ का खाना और कहाँ का पीना? पौष का महीना था। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। सुबह की सूखी रोटी और वहाँ के मिट्टी के बर्तन का बर्फ़-जैसा ठंडा पानी, मन में नाना प्रकार की चिन्ताएँ! गाड़ी का दो रुपया किराया दिया। अब पास में एक कौड़ी भी नहीं रही। झोंपड़ी नीचे और ऊपर हाथ-हाथ भर खुली थी। उसमें ठंडी हवा सरसर आ रही थी। कहते थे कि यह 'वेंटीलेशन' है! क्या खूब! सब झोपड़ियाँ टीन की थीं। रात को वे इतनी ठंडी हो जातीं कि उनके भीतर रहने वाले रोगियों और निरोगियों पर सच्चे अर्थ में 'ठंडे पड़ जाने' की नौबत आ जाती। तीन तरफ़ बीमार पड़े हुए थे। उनका चिल्लाना,

टीनों की आवाज़, इतना ही नहीं, बल्कि कोई रोगी टीन पर चढ़कर, दूसरे की झोंपड़ी में धम-से कूद पड़ता। नीचे फर्श नहीं बनाया गया था। धरती पर कंकड़-पत्थर पड़े हुए थे, जो बुरी तरह पैरों में चुभते थे। पेट में अन्न नहीं, आँखों से नींद नदारद! बच्ची चीख रही थी—चिल्ला रही थी। मैंने अनुभव किया कि नरक यदि सचमुच कहीं है, तो वह यही है। वह स्थान डरावना था। रात भयानक थी। आस-पास का वातावरण कलेजे को कँपा देने वाला था और परिस्थिति के प्रभाव के कारण खुद के मन की स्थिति भी भीषण! रोगियों के साथ उनके साथ के लोग भी चिल्लाते और लड़ते। 'अजी, तुम्हारा रोगी बहुत चिल्लाता है, उसे चुप करो। हमारे रोगी की बड़ी मुश्किल से हाल ही में कुछ आँख लग पाई है।' कुछ सचमुच बीमार थे, तो कुछ घबराहट के कारण ही चिल्ला रहे थे।

दूसरे दिन जब डॉक्टर आए तब मैंने उनसे कहा—'अजी डॉक्टर साहब, आप तो घर जाकर आराम से सो जाते हैं, परंतु यहाँ क्या होता है, इसकी कोई कल्पना है? मैंने सारे दृश्यों का वर्णन उन्हें सुनाया और कम-से-कम नींद आने की कोई दवा देने का सुझाव दिया। मेरे सुझाव के अनुसार डॉक्टर ने दूसरे दिन से दवा बदली और फिर रातें शान्ति से कटने लगीं।

दवाखाना वहीं था। दवा थी 'बेलाडोना'। वह दवा, थर्मामीटर और दवा का गिलास सब रोगियों के लिए एक ही रहता। मैंने अलबत्ता बेबी के लिए इन सब चीज़ों को अलग रख लिया था और मैं खुद जाकर दवा लाती थी। झोंपड़ी के भीतर अँगीठी रखी थी और गरम कपड़े से मैं बेबी को सेंका करती थी। सगुणाबाई या मैं उसे लगातार गोद में लिये बैठी रहतीं। वहाँ रोगी और रोगी के साथ के लोगों को दस दिन तक वहीं का पकाया हुआ खाना मिला करता था। हमें दाल-आटा आदि मिलता और दया रसोई बनाती। हम लोग कुल मिलाकर दस आदमी थे। दया अकेली इन सब लोगों के लिए रसोई बनाती। हमारे यहाँ आने की किसी को

इजाज़त न थी। परंतु यह देखकर कि कोई नहीं है, लड़के धीरे-से तार के भीतर घुसकर हमारी झोंपड़ी में आ जाते और हमसे मिलकर लौट जाते।

चौदह दिन हो गए। सिविल सर्जन आए। उन्होंने और एक दूसरे डॉक्टर ने वेवी की जाँच करके कहा कि अव इसकी कोई आशा नहीं।

तिलक रो पड़े। सगुणावाई दूर एक कोने में जाकर रोने लगी। वह वेवी से वहुत प्यार करती थी। उसकी उसने खूव सेवा की थी।

मेरा स्वभाव ज़रूरत से अधिक प्रवंध करने का है। कपड़े वनवाने होते हैं, तो मैं उन्हें कुछ ढीले वनवाती हूँ। लोमड़ी के शिकार को जाना हो तो शेर के शिकार की तैयारी से जाती हूँ। मैं घर से निकलते समय चुपचाप एक सेर अलसी का आटा, 'केस्टर आइल', कोयला, आदि अनेक उपयोगी चीज़ें वाँध लाई थी।

मैं भी निराश हो गई। दस-पन्द्रह दिन से वेवी की पीठ ज़मीन से न लगी थी। आज मैंने उसे नीचे सुलाया। वह शान्त पड़ी थी। सिगड़ी जल ही रही थी। मैंने अलसी का वह सारा आटा पकाया। गले से लेकर पूरी छाती और पूरे पेट तक वेवी को उसक़ी पुलटिस वाँधी। अंडी का तेल, दूध और शक्कर गरम करके किसी तरह उसे पिला दिया। पैरों के पास अँगीठी रख दी। कंवल से उसे अच्छी तरह लपेट दिया और फिर उससे कहा, 'अव तू आराम से मर! मुझे यह नहीं लगना चाहिए कि मैंने उपाय करने में कोई कसर रखी।'

फिर दरवाज़ा लगाकर, उसे वहाँ अकेली ही छोड़कर मैं दूर जंगल में चली गई। जव विलकुल एकान्त स्थान मिला, तव वहाँ घुटने टेककर, ज़ोर से चिल्लाकर, मैंने ईश्वर से प्रार्थना की, 'हे ईश्वर, इस लड़की को जिंदा रहने दे। यह मेरी नहीं, तेरी है। तूने ही यह मुझे दी थी और मैंने उसका लालन-पालन किया। तेरी यदि इच्छा होगी, तो तू उसे ले ही जायगा। इसे यदि आराम हो गया, तो मैं यहीं रोगियों की सेवा करूँगी।' वह कहकर, मैं दिल खोलकर फूट-फूटकर रोई।

थोड़ी देर के बाद मैं लौटी। कमरे का दरवाज़ा खोलने की मुझे हिम्मत न होती थी। घुटने टेककर इस तरह की प्रार्थना मैंने पहले कभी न की थी। छाती में धड़कन हो रही थी। जैसे-तैसे मैंने दरवाज़ा खोला। परंतु मेरे दरवाज़ा खोलते ही उसने पुकारकर पूछा, 'ममी, तुम कहाँ थीं? पपा कहाँ हैं?' बचपन में वह मुझे 'ममी' और उन्हें 'पपा' कहती थी। मुझे इतना आनंद हुआ कि उसे एकदम उठाकर, हृदय से लगा लेने की इच्छा हुई। लेकिन तुरंत मेरे ध्यान में आया कि यदि ऐसा कुछ करूँगी, तो उसके हार्ट (हृदय) पर एकदम बुरा असर होगा। इसलिए, मैंने फिर दरवाज़ा लगा दिया और दौड़ती हुई तिलक के कमरे की ओर गई। वहाँ तिलक अन्य लोगों के साथ बैठे हुए प्रार्थना कर रहे थे।

मुझे देखकर उन्हें लगा कि मैं शायद बेबी की मृत्यु का समाचार लेकर आई हूँ। मैंने उनसे हँसते-हँसते कहा, 'बेबी आपको बुला रही है।' परंतु उन्हें यह सच न लगा। मेरा हँसना और बोलना उन्हें पागल-जैसा लगा। मैं बहुत ज़्यादा हँस रही थी और बार-बार उनसे कह रही थी, 'चलिए, बेबी बुला रही है।' अंत में हम दोनों उसकी झोंपड़ी में आए। उन्हें देखते ही वह बोली, 'पपा, तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले गए थे? मुझे आम ला दो!'

तिलक ने एक रुपया देकर लड़कों को मोसंबियाँ लाने बाज़ार भेजा। परंतु बाज़ार में सब तरफ सन्नाटा था। बड़ी मुश्किल से उन्हें बिलकुल छोटी-छोटी और सूखी हुई पाँच-सात मोसंबियाँ मिलीं।

दूसरे दिन डॉक्टर आए। उन्हें भी बड़ा आश्चर्य हुआ।

अठारह दिन के बाद हमने वह झोंपड़ी छोड़ी। लड़की को प्लेग क्यों हुआ? तिलक को इसका जो उत्तर मिला, वह इस प्रकार था—

एक दिन कैम्प में दूध को लेकर कुछ झगड़ा हो गया था। यह गड़बड़ सुनकर तिलक वहाँ गए। वे बोले, 'बताओ अपनी कापी।' उन्हें उत्तर मिला, 'साहब, उसमें लिखा हुआ आप समझ न सकेंगे।' उन्होंने एकदम कापी छीन ली और देखा तो कापी में दूध लिखा तो अधिक था, पर प्रत्यक्ष

रूप में वह कम था। तिलक ने आकर मुझसे कहा, 'मेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया। वेवी को प्लेग क्यों हुआ, यह मेरी समझ में आ गया। हमारे यहाँ विश्वसनीय लोग ही कम हैं। दो रुपए से लेकर सौ रुपए तक की बेई-मानी करते हैं। एक पर देख-रेख करने के लिए दूसरे की ज़रूरत होती है। उसी तरह यहाँ है। रोगियों की ठीक व्यवस्था हो जाय और उन्हें खाना-पीना ठीक ढंग से मिले, तो रोगी नहीं मर सकते। अभी देख लिया न ? दूध कागज़ में तिगुना लिखा था और प्रत्यक्ष रूप में था एक गुना ! नाइयों और पंडों के लिए जिस तरह "सिंहस्थ" का पर्व होता है, उसी तरह इन बदमाशों के लिए यह प्लेग का पर्व आया है। मैंने निश्चय किया है कि यहाँ रहकर, जितनी वन सकेगी रोगियों की सेवा करूँगा। बोलो, तुम तैयार हो ? मैंने कहा, 'हाँ, मैं बिलकुल तैयार हूँ। परमेश्वर ने हम दोनों को उस समय वड़ा धीरज दिया और वहुत वड़ा मन भी दिया। जिसे किसी भी रोग का भय नहीं, किसी भी प्रकार की गंदगी से घृणा नहीं यानी भंगी का मन उसने हमें उस समय दिया। माँ भी जिस काम को करने में झिझकेगी, नफ़रत करेगी, वह काम भी यह गरीव मनुष्य अपने कृतघ्न वंधुओं के लिए करता है।

हम लोग अपना काम मन से करने लगे। कैम्प के नज़दीक ही हमारे लिए एक झोंपड़ी वना दी गई। परंतु अव सीधा (विना पका अन्न) मिलना वंद हो गया था। पानी मशक से मिल ही रहा था। लड़कों को साहव वापस ले गए थे। सगुणावाई लड़की से मिलने अपने गाँव चली गई। तिलक ने उसे जाते वक्त एक साड़ी और चोली दिला दी, खर्च के लिए चार रुपये नकद दिए। वेतन आठ आने था। उसे वढ़ाकर दो रुपए कर दिया और चार महीने की वेतन-सहित छुट्टी दे दी।

अव परिवार में हम चार व्यक्ति रह गए। परंतु वहाँ भी मैंने, हाँ-ना करते-करते, दो लड़कियाँ सँभालने के लिए रख लीं। दोनों की माताएँ वहीं थीं, पर वे प्लेग की शिकार हो गई थीं।

हम दोनों, रोगियों की आवश्यकतानुसार सेवा करते थे। उन्हें

खिलाना-पिलाना, दवा देना, उनके मुँह धो देना, उन्हें "स्पंज-बाथ" देना और वक्त पड़ जाय तो उनका मल-मूत्र भी साफ़ कर देना ये सब काम हमारे ज़िम्मे थे। वहाँ सब धर्मों और जातियों के लोग आते और यह मालूम होने पर कि हम वहाँ हैं, उस कैम्प के प्रति लोगों को जो आशंका थी, वह कम हो जाती। वहाँ रोगियों की संख्या बढ़ने लगी। वे हमारा ही नाम लेते और रात को किसी भी समय आ जाते।

तिलक के एक उधार-वस्त्र-व्यवसायी थे। उन्होंने बिना माँगे ही हमारे लिए गरम कपड़े बनवाकर भेज दिए।

उस कैम्प में एक तेली को बिलकुल ताले के भीतर बंद कर रखा गया था। उसे जाकर पानी पिलाने की भी किसी की हिम्मत न होती थी। जब से कैम्प का इंतज़ाम हमारे हाथ में आया, तब से हमने एक नई नर्स रख ली थी। वह ईसाई थी और बड़ी लगन से काम करती थी। पहले दिन मैं और नर्स जाईबाई उस तेली की झोंपड़ी की तरफ जाने लगीं, तो वहाँ द्वार ही पर एक सिपाही डटा हुआ दिखाई दिया! वह बोला, 'बाई, भीतर न जाइए, वह मनुष्य बड़ा खतरनाक है।' मैंने कहा, 'खतरनाक हो या कैसा ही हो। उसे दूध देना, दवा देना हमारा काम है। ताला खोलो।' उसने ताला खोल दिया।

'सँभलकर जाना, बाई साहब! एकदम आदमी पर टूट पड़ता है।'

और दरवाज़ा खुलते ही वह सचमुच हम लोगों की तरफ एकदम दौड़ पड़ा। उसके दौड़कर हमारे पास आते ही मैंने उसके गाल पर एक ज़ोर का चाँटा मारा। क्या हुआ कह नहीं सकती, परंतु वह एकदम मेरे पैर पड़ने लगा। मैंने कहा, 'दूध पी।' और उसने चुपचाप दूध पी लिया। दवा देते ही दवा भी पी ली!

एक नाना सुनार था। वह मुझसे कहता, 'बाई, मुझे अच्छा हो जाने दीजिए मैं आपको सोने से मढ़ दूंगा। हम आखिर सुनार हैं। हमारा एक एक हाथ सोने का और दूसरा हाथ चाँदी का होता है।' मैं कहती, 'ठीक है बाबा, मढ़ देना मुझे सोने से। लेकिन, अभी तो अपने द्वारा सोने से मढ़ी

हुई दीवारें तुम मुझसे धुलवा रहे हो।' (शौच से रँगी हुई दीवारें)।

अड़चन के वक्त नौकर अकड़ जाते हैं और हमारे कार्य में बाधा उपस्थित कर देते हैं। 'तनख्वाह बढ़ाओ' कहकर एक दिन भंगियों ने हड़ताल कर दी। वे बैठ रहे आराम से, हाथ पर हाथ धरे। दो दिन तिलक और मैंने भंगियों का काम किया। वैसे उस सुनार ने हमें उसकी 'ट्रेनिंग' दे ही दी थी। तीसरे दिन लाशों को उठाने की बारी आई। तिलक ने अपनी कमर कसी। मैंने भी आँचल बाँधा। दो लाशें उठाकर हमने गाड़ी में चढ़ाईं। अब अवश्य भंगी झेंपे। वे तुरंत दौड़कर आए और कहने लगे, 'साहब, हमारी पीठ पर लात मारिए, पर हमारे पेट पर न मारिए।' तिलक ने कहा, 'मैं यह नहीं कहता कि तुम्हारी तनख्वाह नहीं बढ़नी चाहिए। परंतु ऐसे संकट के समय में रोगियों को कठिनाई में डाल देना तुम्हारी इन्सानियत को शोभा नहीं देता। तुम्हारी तनख्वाह बढ़े, इसके लिए हम ज़रूर कोशिश करेंगे।' अब सब रोगी जल्दी-जल्दी से अच्छे होने लगे। हमारे वहाँ जाने से पहले १० प्रति सैंकड़ा रोगी अच्छे होते थे और अब ६० प्रति सैंकड़ा अच्छे होने लगे। डॉक्टर को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने सबका फ़ोटो खींचा। हमारी खूब प्रशंसा करके हमें धन्यवाद दिए और एक सर्टिफ़िकेट ज़बरदस्ती तिलक को दिया। उस समय तिलक ने कहा, 'हमें आपके सर्टिफ़िकेट की क्या ज़रूरत है?' तिलक कहा करते—

निंदास्तुतिचा जगीं तमाशा।
फंदी तूं त्या पडूं नको।।
मान घडो अपमान घडो तव।
हसूं नको तूं रडूं नको।।[1]

तिलक के जीवन में मुझे दो बातें दिखाई दीं। एक तो यह है कि काम की रुचि के आगे उन्हें मान और अपमान की परवाह न होती। उसी तरह

१. निंदा और स्तुति का दुनिया में जो तमाशा हो रहा है, तू उसके फंदे में न पड़। तेरा सम्मान हो या अपमान हो, इस पर न तू हँस, और न रो!

वह कीर्ति की भी परवाह न करते। उन्होंने कहा है कि मेरा जीवन-चरित ठीक उसी तरह लिखा जाय, जिस तरह मैंने जीवन विताया है। यह कहने में उन्हें यही सुझाना था कि मेरे दोषों को विलकुल न छिपाया जाय। दूसरी वात यह कि उच्च आदर्शों से परिपूर्ण उनके जीवन का प्रभाव दूसरों पर वहुत जल्द पड़ जाता। वरना, यह कभी संभव ही न था कि नारायण-राव गोखले की वेटी भंगी का काम इतने आनन्द और उत्साह से करने को तैयार हो जाती। सिर्फ़ यह आभास-मात्र हो जाने से कि शरीर पर कहीं महार नामक अस्पृश्य-जाति के किसी व्यक्ति के पानी का छींटा तो नहीं पड़ गया, अपने को और अपने घर के सव लोगों को मेरे पिता ने खूव घिस-घिसकर पोंछ डाला था। क्या यह आश्चर्य की वात नहीं कि उसी पिता की कन्या होते हुए भी मैंने वाई में भंगिन के हाथ का खाना खाया और नगर के दवाखाने में गंदे माने जाने वाले काम वड़े उत्साह से किए। परंतु यदि इसके लिए प्रशंसा करनी हो, तो तिलक ही की करनी चाहिए। वह इस वात में मेरे गुरु थे। उनका काम था मार्ग दिखाना और जव वह मार्ग दिखा देते, तव उस मार्ग पर आँखें मूँदकर वेधड़क दौड़ने का काम मेरा रहता। मेरे हिस्से में इतना ही यश का अंश आ सकता है कि उनके द्वारा मार्ग दिखाए जाने के वाद, विना हिचकिचाए, मैं उस पर वेधड़क चली। वस, इससे अधिक कुछ नहीं।

राहुरी का घर

मैं वड़ी व्यवहार-कुशल और वड़ी अजीव संग्रह-वृत्ति की हूँ। आज भी इन सद्‌गुणों ने मुझे नहीं छोड़ा है। तिलक हर जगह विलकुल सफ़ाई चाहते थे। यहाँ तक कि पैसों की थैली और संदूक को भी वह झाड़-पोंछकर साफ़ रखते। इसके विपरीत मैं सारे सामान को जतन करके रखना चाहती। मैं धन के साँप की तरह हमेशा घर में वैठी रहती। तिलक सोचते कि मैं कव वाहर जाऊँ और वह घर की सफ़ाई का काम शुरू करें। मैं वाहर जाती तो उनकी 'दिवाली' होती और फिर मेरी 'होली' शुरू हो जाती। मेरा एक 'स्टोर' था। इसका कोई हिसाव नहीं था कि उसमें कौन-कौन-सा सामान मिलेगा। फेरी वाले की तरह चीथड़ों की गठरियाँ, वोतलें, फटे जूते, टूटी चप्पलें, टूटा हुआ सूप, चूहों द्वारा कुतरी गई टोकरी, जंग चढ़े टीन के डिव्वे, सुतली के टुकड़े, रस्से, टूटा छींका, टूटी हुई निवाड़, गाड़ी के छोटे-छोटे चाक, हँसिए, कीलें, यही नहीं वल्कि फूटा हुआ मिट्टी का घड़ा और उसके टुकड़े भी मेरे उस 'स्टोर' में मिलते।

मैं इन चीज़ों को इसलिए नहीं रखती थी कि उन्हें वेचकर उनसे कुछ पैसे कमाऊँ। वल्कि, इसलिए रखती थी कि आड़े वक्त पर कौन चीज़ कव किस तरह काम आ जाय, इसका कोई ठिकाना नहीं रहता।

लड़के चले गए थे। उनके लिए जो वाईस गद्दे वनवाए गए थे, उनकी नारियल की जटाएँ, कपास निकलवा ली गई थीं। उनके खोल धोविन को देने थे। उस जटाओं का पहाड़ सामने खड़ा था। उस पहाड़ को अपने

स्टोर में कैसे घुसेड़ूं, इस विचार में डूबी, कमर पर हाथ रखे, मैं उसकी ओर देखती हुई खड़ी थी। आस-पास के लोग आकर इकठ्ठे हो गए थे। इसी समय तिलक वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने नीलाम की बोली बोली, 'दो हाथों में, दो खेपों में जो जितना ले जा सके, वह ले जाय। बिलकुल मुफ़्त में!' देखते-देखते इतना बड़ा पहाड़ विलीन होने लगा। यह देखकर कि अपना काम पूरा हो गया, तिलक हाथ झटकारकर अपने ऑफ़िस को चल दिए। खलिहानों मे रखा हुआ माल उठ जाने पर, जिस तरह भिखारी बचे-खुचे दानों को बीन लेते हैं, उसी तरह जो कुछ थोड़ा-बहुत हाथ लगा, उसे बटोरकर मैंने उसकी एक गठरी बाँधी और ले जाकर उसे अपने स्टोर में डाल दिया।

इसके बाद हम महाबलेश्वर गए। इस समय हमारी गृहस्थी बहुत बड़ी थी। बाईस लड़कों में से एक-दो हमारे साथ थे। इसके अतिरिक्त लड़कियाँ थी। परंतु वहाँ नजदीक ही एक युवक की मृत्यु हो जाने के कारण इन सब लोगों को महाबलेश्वर का 'सीज़न' समाप्त होने से पहले ही वापस लौटा दिया और हम साँगली तथा मिरज की तरफ़ यों ही घूमने निकल पड़े।

मिरज में अस्पताल का काम देखकर, मेरे मन में आया कि मैं भी नर्सिंग का काम सीखूं। परंतु बेबी हाल ही में प्लेग से अच्छी हुई थी। दत्तू भी कमजोर दिखाई दे रहा था और मुझे अपने स्टोर की भी चिन्ता थी। तिलक को भी मेरा विचार पसंद आया वह बोले, 'तुम कोई चिन्ता न करो। मैं सब सँभाल लूँगा और तुम्हें रुपए भी भेजूँगा।' डॉक्टर वान्लेस से तिलक मिले और सब बात पक्की हो गई।

मुझे अँग्रेजी नहीं आती थी, इसलिए यह तय हुआ कि मैं सिर्फ़ 'प्रैक्टिकल' सीखूं। मैं मिरज ही में रह गई और तिलक लड़कों को लेकर नगर चले गए।

चार महीने हो गए। मुझे लड़कों की रट लगी थी, इसलिए मैं उनसे मिलने नगर आई। मुझे देखकर सबको अचंभा हुआ।

दूसरे दिन डॉक्टर ह्यूम भी मुझ से मिलने आए।

डॉक्टर ह्यूम बोले, 'वहनजी, अपने पति और बच्चों को सँभालना ही अब आपकी सच्ची शिक्षा है। मेरा ख़याल है कि अब आप मिरज न जायँ।'

'साहब आपकी वात मुझे जँचती है। इन्हें छोड़कर मिरज रहने में क्या खुशी होती है ? परंतु कब कैसा समय आ जाय, इसका कोई ठिकाना नहीं रहता। इसलिए मनुष्य को हर प्रकार की परिस्थिति का सामना करने के लिए अपने-आपको तैयार कर लेना चाहिए।'

'अच्छा भाई साहब, आप बताइए, आपकी राय क्या है ?'

'मेरी राय भी वही है, जो इसकी है।'

'साहब, मैं पढ़ी-लिखी नहीं। इसलिए अपना पेट भरने और जन-सेवा करने के लिए मेरे पास क्या कोई साधन नहीं होना चाहिए ?'

'अच्छा, ठीक है भाई, खूब सोच लो ! आप लोग रुपये-पैसों से हमेशा तंग रहते हैं। वच्चों के स्वास्थ्य भी ठीक नहीं दिखाई रहे हैं।' सुवह सात वजे की गाड़ी से मैं जाने वाली थी। स्टेशन पर ह्यूम साहब हमसे पहले ही पहुँच चुके थे। गाड़ी चलते-चलते उन्होंने मुझे दस रुपये का एक नोट थमा दिया।

'आप अच्छी तरह शिक्षा ग्रहण करें। उसके वाद अपने पति और बच्चों को अच्छी तरह सँभालें। मेरी तरफ़ से यह फूल नहीं, फूल की पंखुड़ी है।'

'पर साहव मेरे पास रुपये हैं। मुझे इनकी ज़रूरत नहीं। ज़रूरत होगी तव माँग लूँगी।'

'परंतु वहनजी, यह भाई की तरफ़ से एक विनम्र भेंट है।'

वच्चे यद्यपि कमजोर दिखाई दे रहे थे, फिर भी मेरा और तिलक का निश्चय पक्का हो चुका था कि मुझे अपनी शिक्षा पूरी कर लेनी चाहिए। स्टेशन पर तिलक मुझे पहुँचाने आए। मैं रोने लगी। तिलक वोले, 'तुम कोई चिन्ता न करो। तुम जिस तरह वच्चों की माँ हो, उसी तरह मैं

उनका उतना ही प्रिय पिता हूँ। मैं उन्हें अच्छी तरह रखूँगा।' गाड़ी चली। मैं मिरज गई।

मिरज पहुँचने पर दो दिन तक सब काम बड़े सुचारु रूप से चलते रहे। तीसरे दिन डॉक्टर वान्लेस साहब ने कहा, 'बाई हमें इस कमरे की ज़रूरत है। इसे खाली कर दीजिए और आप नगर लौट जाइए। आप बड़े-बडे रोगियों को नहीं उठा सकतीं।'

'परंतु डॉक्टर साहब, मुझे तो शिक्षा लेनी है।'

'नहीं, आपसे यह काम नहीं हो सकेगा।'

'क्यों नहीं हो सकेगा? मैं मनुष्य हूँ।'

'मुझे आपसे बातें करने के लिए वक्त नहीं है। आज ही यह कमरा खाली कर दें।'

मेरी स्थिति बड़ी विचित्र हो गई। क्या करूँ, कुछ सूझता नहीं था। मैंने अपना सामान कमरे से बाहर निकाला, अहाते में रखा और उस पर बैठ गई। नगर के एक सज्जन वहीं मेरे पड़ोस में रहते थे। वह बाहर से आए। उन्होंने यह हाल देखकर पूछा,—

'भाभी, यह क्या किया? सामान बाहर क्यों निकाला? क्या खटमल हो गए हैं?'

'नहीं भैया, साहब ने मुझे बाहर निकाल दिया है।'

'यह क्यों? आप तो अपने खर्च से सीख रही हैं। फिर साहब ने आपको क्यों निकाला?'

'कारण कुछ भी समझ में नहीं आता। मेरे हाथ से एक बार उनका थरमामीटर अलबत्ता टूट गया था। पर उसके बदले एक नया थरमामीटर लाकर मैं बहुत पहले ही उन्हें दे चुकी हूँ। वह कहते हैं कि उनका यह पक्का विश्वास हो गया है कि मैं काम नहीं कर सकती। मुझसे बड़े रोगी उठाने नहीं बनते।'

मैं लगातार रो रही थी। मैं कहती, 'यदि मैं रोगी को नहीं उठा सकती, तो इसमें मेरा क्या दोष?' प्रसादराव ने भोजन करने के लिए

मुझसे बहुत आग्रह किया। मैंने कहा, 'मैं भोजन नहीं करूँगी। मुझे यह मालूम होना चाहिए कि आखिर मेरा वास्तविक दोष क्या है। मैं यहीं बैठी रहूँगी।' प्रसादराव डॉक्टर साहब के पास गए। डॉक्टर उनसे लगातार यही कह रहे थे कि यह बाई काम नहीं कर सकेगी। प्रसादराव ने कहा, 'बाई कहती हैं कि जब तक उन्हें अपना वास्तविक दोष न बताया जायगा, वह वहाँ से उठेंगी नहीं।' तब डॉक्टर वान्लेस साहब ने डॉक्टर ह्यूम का पत्र निकालकर प्रसादराव को दिखाया।' यह देखो, डॉक्टर ह्यूम कहते हैं कि बाई को तुरंत वापस भेज दो। यहाँ उसके पति और बच्चों का बुरा हाल हो रहा है। बाई का कोई दोष नहीं। ऊपर से यह भी देखिए कि डॉक्टर ह्यूम ने और क्या लिखा है? वह लिखते हैं कि बाई को यह पता न लगने देना कि मैंने यह पत्र भेजा है। बताइए, अब मैं क्या करूँ?

प्रसादराव ने आकर यह सब हाल मुझे कह सुनाया। अब मेरे दिमाग में डॉक्टर ह्यूम के द्वारा दिये गए दस रुपए की आवाज एकदम झनझना उठी। उन्होंने ये दस रुपए मेरे वापसी किराए के लिए मुझे दे रखे थे। मुझे मृत्यु-जैसा दुःख हुआ। अब नगर को मैं कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ? लोग क्या कहेंगे? इच्छा हुई कि किसी कुएं में जाकर जान दे दूँ। नगर के विद्यार्थियों की पत्नियों ने मुझे समझाया। उन्होंने मेरी काफी सहायता भी की और मुझे गाड़ी में बिठा दिया।

मैं जब नगर पहुँची, तब तिलक हाल ही में चाय से निबटकर बाहर बैठे थे। इसी समय मेरा ताँगा द्वार के सामने जाकर खड़ा हुआ।

'क्यों, कैसे आ गईं?'

'इसलिए कि मैं सीख नहीं सकूँगी।' मैंने उन्हें सारा हाल कह सुनाया। विद्यार्थी फेल होने पर आत्म-हत्या क्यों करते हैं, यह अब मेरी समझ में आया। परीक्षा, शिक्षा इत्यादि क्या बातें हैं, यह भी अब मुझे मालूम हो गया।

मेरे आने का डॉक्टर ह्यूम को भी पता लगा। पर, वह मिलने नहीं आए!

घर आने पर मैंने अपने द्वार के सामने एक सुन्दर बगीचा लगाया। पचास गमले लाई। परन्तु डॉक्टर वालंटाइन की छुट्टी शुरू हो गई और हमारा राहुरी को तबादला हो गया। तिलक ने वे गमले दान में दे डाले और हम राहुरी आए।

राहुरी गाँव हमें बहुत पसन्द आया। तिलक कहते, 'ऐसे गाँव के जंगल में कहीं दूर एकान्त में एक मकान बनवाकर मैं वहाँ रह सकूँ, तो न जाने कितने ग्रंथ लिखडालूं। एक बार डॉक्टर हेनरी फेअरबेंक नामक एक मिशनरी हमारे घर आए। तिलक ने मकान के बारे में अपने विचार उन पर भी प्रकट किए। फेअरब्रेंक साहब ने कहा, 'मिस्टर तिलक, मुझे कुछ रुपए मिलने हैं, परन्तु, मैंने उनकी आशा छोड़ दी है। यदि वे रुपए मिल गए, तो मैं आपकी इच्छानुसार जंगल में आपके लिए एक मकान बनवा दूंगा। फिर आप वहाँ चाहे जितने ग्रंथ लिखते रहना।' इसके बाद तिलक और डॉक्टर फेअरबेंक दोनों ने एक साथ बैठकर, ईश्वर की प्रार्थना की और वह विषय वहीं खत्म हो गया।

तीसरे ही दिन फेअरबेंक साहब फिर आए और कहने लगे, 'मिस्टर तिलक, आपका मकान बन गया। मेरे रुपए आज आ गए हैं। चलिए, बताइए आपको कौन-सा स्थान पसन्द है?' दोनों राहुरी से मील-डेढ़ मील दूर गए। वहाँ डॉक्टर वालंटाइन का एक खेत था। मकान के लिए यही खेत तय हुआ। डॉक्टर वालंटाइन की सम्मति प्राप्त की और दो-ढाई सौ रुपये में यह खेत खरीद लिया गया।

जब मुझे इसका पता चला, तो हम दोनों में खूब खटकी। 'मकान ही बनाना है, तो गाँव के भीतर बनाना चाहिए या दूर जंगल में जाकर? वहाँ कोई साथ नहीं, पड़ोस नहीं, पानी नहीं। कभी वक्त-जरूरत पर किसी को पुकारें, तो कोई जवाब देने वाला नहीं।' तिलक कहते, 'तुम समझती तो खाक नहीं हो और मैं जब कुछ करने लगता हूँ, तो उसमें मीन-मेख निकालने का तुमने जैसे बीड़ा ही उठा लिया है। पानी बहाकर लाया जा सकता है। साथ के लिए कुत्ते रखे जा सकते हैं। मनुष्यों की क्या जरूरत है?

तुम मुझे पुकारा करो, मैं तुम्हें पुकारा करूँगा।'

इधर मकान बनने भी लगा। साहब ने स्वयं इस गृहनिर्माण का काम अन्य मजदूरों के साथ किया! पानी के लिए मशक, खाने के लिए डवल-रोटी, सिर पर छाया के लिए छाता, इस ठाठ से फेअरवेंक साहब वहाँ जाकर काम करते। उन्होंने एक मिनट भी फ़िजूल खर्च नहीं किया। वहाँ पानी की एक बूँद न थी और छाया के लिए एक पेड़ न था। धूप चिल-चिलाती थी। छाता भी हवा से उलट जाता। मैं कहती, 'साहब कितनी तकलीफ़ आप उठा रहे हैं?' वह कहते, 'बाई, कोई हर्ज़ नहीं। यह सब मुझीको करना चाहिए। इन चीज़ों के बारे में तिलक कुछ नहीं जानते।' मकान बनाने में पाँच सौ रुपयों के बदले एक हज़ार रुपए खर्च हो गए और अपनी मेहनत का पैसा जोड़ा जाय, तो मकान दो हज़ार में पड़ा। जिसका काम वही करे, यह सच है। एक महीने में मकान तैयार हो गया। परन्तु, वास्तुशान्ति-समारोह के लिए हमारे पास क्या धरा था? साहब ने मकान बनाकर हमारे सुपुर्द कर दिया। फिर उधार रुपए लाकर हमने उक्त समारोह किया और नए घर में रहने लगे।

यहाँ श्री राजाराम जी चाँदेकर और भास्करराव भांवल से हमारा परिचय हुआ। ये दोनों महाशय राहुरी में हमारे हितचिंतक थे। राजा-रामजी दत्तू के पहले महत्त्वपूर्ण शिक्षक थे। पहली अंग्रेज़ी कक्षा से लेकर सातवीं अंग्रेज़ी तक उनकी प्रत्यक्ष शिक्षा और सलाह हमारे बड़े काम आई। दत्तू के पहली अंग्रेजी कक्षा उत्तीर्ण हो जाने पर उन्हींकी सलाह से हमने पढ़ने के लिए उसे पूना में रखा। पूना के नूतन मराठी विद्यालय का वह पहला ईसाई विद्यार्थी था।

जंगल में घर बनाने का मूल उद्देश्य यह था कि वहाँ रहने पर, वालंटा-इन साहब का काम करने के बाद, बचा हुआ समय ग्रंथ लिखने में व्यतीत किया जायगा। परन्तु, तिलक यह उद्देश्य भूल गए। अब उन्होंने वहाँ खेती शुरू की। मैं किसान की बेटी हूँ! मुझे खेती की जानकारी है! परन्तु, तिलक ने मुझे बिठा दिया ताक में कल्पना के तोते उड़ाने के लिए और खुद

ही खेती करने लगे।

ज़मीन जोत ली गई। एक ने कहा, 'साहब, यहाँ कपास अच्छी होगी।' कपास बो दी गई। पौधे एक-एक बलिश्त बढ़ गए। चार दिन पानी न बरसा। दूसरे ने आकर कहा, 'अजी साहब, यह क्या किया आपने ? बारिश नहीं, पानी नहीं। कपास कैसे होगी ? इसमें चना बोइए।' बस, दूसरे दिन मज़दूर लगाकर कपास उखड़वा डाली और फिर से जमीन जोती गई ! वहाँ आठ सेर चना बो दिया गया।

चने की फसल अच्छी हुई। बूट आए। मित्रगण तिलक से मिलने आने लगे। जो आता वही कहता, 'साहब, बड़ा सुन्दर चना आया है। थोड़े बूट ले लूं क्या ?' साहब बड़ी खुशी से इजाजत दे देते और काफी हरा चना देते। यह अच्छा ही हुआ। फ़सल काटने की मज़दूरों की तकलीफ़ बची ! आठ सेर चने के दो सेर चने घर में आए।

इस मकान में आने के बाद से तिलक सोचने लगे कि मिशन की वेतन वाली नौकरी छोड़ दी जाय। उन्होंने निश्चय किया कि ईश्वर के घर का काम तनख्वाह लेकर नहीं करूँगा। अब उन्होंने 'वालंटियर्स' इकट्ठा करके एक संघ की स्थापना करने का निश्चय किया। उन्होंने मिशन की नौकरी से इस्तीफा दे दिया और अब उनके आस-पास 'वालंटियर्स' एकत्रित होने लगे। एक वालंटियर ने तो सपरिवार ही आकर हमारे घर डेरा डाल दिया। परिवार छह व्यक्तियों ही का था। खेती के लिए चार नौकर, एक चौकीदार, उसकी तीन औरतें, इस प्रकार उस जंगल में बड़ा भारी जन-समूह इकट्ठा हो गया था। दत्तू दूसरे शहर में था। उसे दस रुपए भेजने पड़ते। डॉक्टर ह्यूम ने तिलक की इस नई प्रवृत्ति को रोका नहीं। लेकिन 'बाबा की ऊँची शान और बाई का बुरा हाल'-जैसी हमारी स्थिति उन्हें मालूम होने पर उन्होंने चुपचाप 'ट्रैक्ट सोसाइटी' में कोशिश करके उस सोसायटी से १०० रुपए माहवार का संपादकीय काम उन्हें प्राप्त करा दिया। मतलब यह कि इधर वह मुफ़्त में काम करते और उपजीविका के लिए 'ट्रैक्ट सोसाइटी' के काम के लिए उन्हें सौ रुपए मिलते। फिर हमारी

गृहस्थी थोड़ी सुचारु रूप से चलने लगी। परन्तु, सौ रुपए के जाने के लिए सौ रास्ते थे ही। तिलक ने अपने वालंटियर की एक ज़रूरी बैठक बुलाई। एक बार नगर के चार वालंटियर्स की गाड़ी चूकी—या उन्होंने खुद चुका दी भगवान् जाने। उन्होंने फ़ी साइकल चार आने घंटे के हिसाब से चार साइकलें किराए पर लीं, वे साइकलों पर राहुरी आए और जाते समय मेरे पास तनख्वाह के जो पन्द्रह-बीस रुपए बचे थे, वे सब साइकलों के किराए के लिए मुझसे ले गए।

घर में जो वालंटियर सपरिवार रहता था, वह तिलक की हजामत बनाया करता था। इसके लिए तिलक उसे चार आने देते। आगे चलकर वह स्वयं अपने लड़कों के बाल बनाने के भी तिलक से पैसे माँगने लगा और तिलक उसे देने भी लगे। एक दिन मैंने उनसे साफ़-साफ़ कह दिया कि 'मैं ये पैसे नहीं दूंगी। यह कैसा वालंटियर है, जो अपने खुद के लड़कों की हजामत के पैसे भी आपसे ऐंठता है। इस बात पर हम दोनों में बड़ा झगड़ा हुआ। वह कहते, 'तुममें अक्ल नहीं है। अपनी इस कंजूसी ही से तुम अच्छे कामों में रुकावट पैदा करती हो। यह तुम नहीं जानतीं कि सारी दुनिया तुम्हें बदनाम करती है।' मैंने कहा, 'बदनाम करते हैं, तो करने दो। परन्तु, आपकी तरह मैं इन लुच्चों के चकमे में न आऊँगी। जो आदमी निपट आलसी है, जो चार बच्चों को पालने की शक्ति न होने पर भी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह करता है, गप्पें हाँकने में जिसका पहला नम्बर है, वह आपसे कहता है और आप उसकी मान लेते हैं।

हमारी वह रात बड़ी बुरी तरह गुज़री। तिलक लिख रहे थे। मैं रो रही थी। सुबह की चाय भी चुपचाप पी गई। और तिलक साइकल लेकर बाहर चल दिए। शहर में उन्होंने घर-घर जाकर औरतों को मेरी तरफ से चाय का निमंत्रण दिया और फिर वह न जाने कहाँ गायब हो गए।

मैं दोपहर को सोई थी। इसी समय से बाहर चार बजे तक एक-एक मेहमान आता गया। मैं भीतर खर्राटे ही भर रही थी। थोड़ी देर बाद बाहर आई तो देखा कि वहाँ औरतों का जमघट है। औरतें मेरे हमुं की

तरफ देख रही हैं। मैं उनके मुँह की ओर ताक रही हूँ। दोनों अपनी-अपनी तरफ से अचम्भे में डूबी जा रही हैं। ऐसा वह अजीब दृश्य था। मेरे बंधु बापू नामाजी अढाव की पत्नी सावित्री बाई और लड़कियाँ सरू और बारू भी आई थीं। वह धीरे-से मेरे पास आकर कान में कहने लगीं, 'ननदजी, यह क्या मामला है? हमें तो साहब ने चाय के लिए बुलाया है और यहाँ तो सब कारोबार ठंडा दिखाई दे रहा है।"

अब मेरे मस्तिष्क में प्रकाश पड़ा। मैंने कहा, 'भाभी, अब तुम सारू और बारू की मदद से चाय बनाओ।' सावित्री बाई ने चाय के लिए चूल्हे पर पानी उबलने को रखा। सारू और बारू ने चाय की तैयारी की। आटे को तलकर और उसमें गुड़ डालकर एक पकवान बनाया। पास में बचा हुआ इकलौता एक रुपया देकर नौकर को शहर भेजा। वह तरबूज़ और खरबूज़े ले आया और हमारी चाय-पार्टी सम्पन्न हुई। औरतें चली गईं। तिलक आए।

'औरतों को क्यों बुलाया था?'

'तुमने मौन व्रत जो धारण कर लिया था! तुम्हारा मौन कैसे भंग करता?'

हम दोनों का मौन भंग हो गया।

तिलक पहले श्रीयुत थे, अब रेवरेंड हुए। वह ऐसे हुआ—उनके वालंटियर्स-आंदोलन आरम्भ करने के बाद उनके पास बहुत-से धर्म-समीक्षक आने लगे। तिलक कहने लगे कि यदि किसी को बपतिस्मा देना हो, तो जिसे ईश्वरीय आदेश हो, वह खुशी से उसका बपतिस्मा दे सकता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि दूसरे को बपतिस्मा देने वाला दीक्षा ले ही चुका हो और उन्होंने रेवरेंड यानी दीक्षित न होते हुए भी कुछ लोगों को बपतिस्मा दे दिया।

तिलक के इस कृत्य के कारण कुछ लोगों को बड़ा 'शॉक' आघात लगा। मुश्किल यह थी कि जब किसी बात पर उनके मन का विश्वास हो

जाता, तव उससे उन्हें परावृत्त करने की ब्रह्मदेव की भी हिम्मत न थी, इसलिए बहुत-से लोग इस चक्कर में पड़ गए कि अब क्या किया जाय। तिलक को इसकी परवाह थोड़े ही हो सकती थी कि लोग क्या सोचते हैं। कोई बपतिस्मा लेने उनके पास आता, तो वह उसे किसी रेवरेंड के पास भेजने के बदले स्वयं ही उसे बपतिस्मा देकर छुट्टी पा जाते। पर इतने पर भी वह चुप न बैठते, वह इस विषय पर बहस भी करते। राहुरी में उनके हाथ से इस तरह दो-तीन बपतिस्मे हुए। फिर रेवरेंड लोगों ने आपस में न जाने क्या तय किया, पर यह सुना जाने लगा कि तिलक को दीक्षा दी जायगी।

मिशन की वार्षिक सभा उस साल राहुरी में आयोजित होने वाली थी और उस सभा ही में तिलक को दीक्षा देने का निश्चय किया गया।

पहली तारीख थी। दीक्षा शायद आगे पन्द्रह दिन के बाद होने वाली थी। अब डॉक्टर ह्यूम की तनख्वाह न थी। जब थी, तब चाहे जब उनके यहाँ जाकर, उनसे रुपये-पैसे लाए जा सकते थे। वह यद्यपि हमारी फ़िजूल-खर्ची पर नाराज़ हो जाते थे, फिर भी दो-दो महीने की तनख्वाह पेशगी दे देते थे। परंतु अब पहली तारीख बीत जाने पर भी पाँच-पाँच, छह-छह दिन तक तनख्वाह न आती थी। सभा के लिए बाहर से जितने लोग आने वाले थे, उन सबको तिलक ने अपने घर तीन बार भोजन करने और चाय पीने का निमंत्रण पहले ही से दे डाला। मुझे सिर्फ़ सूचना-भर दी। मुझे चिन्ता हो गई। अब इंतज़ाम कैसे करूँ? मेरे पास तो कुछ भी न था। रुपयों-पैसों का पता न होने पर अन्न देवता कहाँ से आयँगे? तिलक के द्वारा निमंत्रण की सूचना मिलते ही मैं किसी कंजूस की तरह कह उठी—

'परंतु पैसों का क्या इंतज़ाम?'

'उँह! पैसों की क्या चिन्ता ले बैठी हो? सब ठीक हो जायगा।'

'आपकी बात ठीक है। देखना तो मुझे पड़ेगा।'

'तुम्हें बड़ी जल्दी रहती है। अभी आठ दिन हैं। आगे देखेंगे।'

'आप तो बस ऐसा ही किया करते हैं। गाड़ी आने पर भी कह देते हैं

कि देखा जायगा और चली जाने पर भी कह देते हैं कि देखा जायगा। फिर देखने से क्या फायदा ?'

'दुनिया में मेरी कितनी इज्ज़त है, परंतु तुम्हें उस पर कोई अभिमान नहीं।'

'मुझे अभिमान कैसे नहीं है ? वरना, मैं मेहमानों को खिलाने-पिलाने की इतनी चिन्ता क्यों करती ? सब लोग यही कहेंगे कि बाबा अच्छे हैं, बाई खराब है। काफ़ी-पानी भी पीने को नहीं है। मैं पहले ही से कह रही थी कि जंगल में घर न बनाओ।'

'पानी को क्या लिये बैठी हो ? एक मशक की जगह दश मशकें ले लेंगे।'

'लेकिन, दस मशकों का पानी भरकर किसमें रखेंगे ?'

'मेरे पास इतना वक्त नहीं कि तुमसे बहस करता रहूँ। मौके पर सब हो जायगा।'

यह कहकर तिलक अपने काम पर चले गए और शाम को छह-सात दिन के लिए सोलापुर चल दिए। उनके जाने के बाद चोरों ने बड़ा ऊधम मचाया। उनके कारण हम सबका नाक में दम आ गया। पर, चोरी में अलबत्ता कुछ नहीं गया। मैं राजारामजी चांदेकर और भास्करराव भांबल के घर गई और मैंने उनसे कहा—'देखो भैया, अब मेरी लाज तुम्हारे हाथ है। उसे बचाना। तुम्हारे जो रुपये खर्च होंगे, तनख्वाह मिलने पर, मैं सब तुम्हें लौटा दूंगी। सारी सच्ची स्थिति ऐसी है।' उन्होंने कहा, 'बाई, आप बिलकुल चिन्ता न करें। हम सब प्रबंध किये देते हैं।' और उन्होंने सचमुच अपने वचन के अनुसार सब प्रबंध कर दिया।

तिलक के पीछे गोस्वामी, वैरागी, और बगुला भगत संन्यासी हमेशा लगे रहते थे। तिलक से वे अपनी कठिनाइयाँ कहते और तिलक उनकी बातों पर विश्वास कर लेते। परंतु इनमें बहुत-से ढोंगी और बदमाश होते। ये लोग कुछ दिन हमारे घर रहते, खाते-पीते, कपड़ा-लत्ता ऐंठते और फिर धीरे-धीरे से अपना रास्ता नापते। कुछ लोग यह सब करके मुझे

और मेरे बच्चों को भी तंग करते। फिर भी यह तिलक के ध्यान में कभी न आता। वह हमेशा उन्हींका पक्ष लेकर मुझसे लड़ते। ऐसा ही एक संन्यासी आया। तिलक ने उसे आश्रय दिया। आगे चलकर उन्होंने उसे बपतिस्मा भी दिया। उसे कहीं काम भी दिला दिया।

तिलक की दीक्षा के समय यह महाराज अपने साथ चार साधुओं को और लेकर पधारे थे। साथ में एक बोतल भी लाए थे। उस बोतल को मेरे हवाले करके वह महाराज बोले—'माताजी, यह मेरी दवा है। अच्छी तरह रख दीजिए।' मैंने वह बोतल ताले के अंदर बंद करके रख दी। तिलक गिरजाघर गए थे। लड़कियाँ छोटे-मोटे ऊपरी काम निपटा रही थीं। स्त्रियाँ रसोई बना रही थीं। मैं कमर में तालियों का गुच्छा खोंसे, इधर-उधर जो हाथ पड़ जाता, वह काम पूरा कर रही थी। करीब एक बजा था। महाराज का दवा लेने का वक्त हो गया। 'माताजी, ज़रा ताली दे दीजिए।' मैंने ताली दे दी। दवा लेकर महाराज चूल्हे के पास पहुँचे। वहाँ बैठकर वह सने हुए आटे की कैथ के बराबर गेंदें बना-बनाकर उनका चूल्हे में पिंडदान करने लगे। स्त्रियाँ ज़ोर-जोर से चिल्लाने लगीं। लड़कियाँ घबरा गईं। महाराज उठकर लड़कियों पर टूट पड़े।

इसी समय नीलकंठराव मामा गिरजे से घर आए। उनका आज बपतिस्मा होने वाला था। तिलक की दीक्षा के बाद वही मामा को बपतिस्मा देने वाले थे। इधर महाराज की इस गड़बड़ की ओर मेरा ध्यान गया और उधर मामा आए, ये दोनों बातें एक साथ हुईं। मैंने कहा—'मामा यह क्या गड़बड़ है? कम-से-कम तुम्हीं जाकर उसे बाहर निकालो।' ज्यों ही मामा उसे पकड़ने को गए, त्यों ही वही उनकी ओर छुरी लेकर झपटा। 'तू बदमाश है। देखता हूँ आज कैसे तेरा बपतिस्मा होता है?' संन्यासी ने कहा और फिर दोनों की उठा-पटक शुरू हो गई यदि मामा के पेट में छुरी घुस जाती, तो बड़ा अनर्थ हो जाता। मैंने धीरे-से महाराज के हाथ से छुरी छीन ली। फिर मामा को एक कमरे में चले जाने का इशारा किया। उन्होंने वही किया और कमरा भीतर से बंद

कर लिया। मैंने महाराज से कहा—'महाराज, मैं भी उस पर विश्वास नहीं करती। बहुत बुरा आदमी है वह। चलिए, आप दवा चाहते हैं न ?' महाराज खिल उठे। मैं उन्हें उस कमरे में ले गई, जहाँ उनकी दवा रखी थी और वहाँ उनके मुँह पर इतने ज़ोर से दो थप्पड़ मारे कि उनकी आँखों के सामने चिनगारियाँ उड़ने लगी होंगी। वह एकदम मेरे पैरों पर गिर पड़े। उनका सारा नशा हिरन हो गया। 'माताजी, आपके पैर पड़ता हूँ! पपा से यह न कहिएगा!' कहकर, वह पुनः मेरे पैर पड़ने लगा। उसे इस तरह शरण में आया देखकर मुझे और अधिक जोश आया। मैंने उसे एक कोने में बैठने को कहा और यह देखकर कि वह मेरी आज्ञानुसार चुपचाप बैठ गया है, मैं झट कमरे के बाहर गई और मैंने उसका दरवाज़ा बाहर से बंद कर लिया। बाहर आने पर फिर मामा को मुक्त किया।

'चर्च' की दीक्षा-विधि आदि संपन्न करके तिलक घर आए। भोजन के समय उन्हें महाराज की याद आई। मैंने सब हाल कह सुनाया। तिलक के पैरों में बिलकुल नए, कोरे चप्पल थे। उन्हींसे तिलक ने उन महाराज की यथेच्छ मरम्मत की और तुरंत ताँगे में बिठाकर उनके शिष्यों सहित उन्हें स्टेशन रवाना कर दिया। दो साल के बाद महाराज का पत्र आया। उसमें उन्होंने लिखा था कि मैं अब बहुत सुधर गया हूँ। किंतु आगे चलकर फिर उनका कोई समाचार सुनने को नहीं मिला।

दीक्षा के मेहमानों का प्रबंध तिलक ने अपने कहने के अनुसार बिना चिंता के पूरा किया। संत काका आए थे। वह अपने साथ तीस रुपये ले आए थे। वह सामान लाकर संग्रह में न रखते, बल्कि उसे आवश्यकतानुसार लाते रहते। वह कहते—'आप कोई चिन्ता न करें। मैं बाज़ार जाने में बड़ा पक्का हूँ। सामान समाप्त होने पर मुझसे कह दिया करें।' और वह सचमुच बाज़ार के लगातार चक्कर लगाते रहे। राजारामजी और भास्कररावजी की मदद पहले से थी ही। इसके सिवा बापू नामाजी आढाव का पूरा परिवार हमारे घर में हमारी मदद कर रहा था। फिर भी, इस सारी मेहमानदारी में, बापू नामाजी के कुछ कह देने पर कुछ

लोग रूठ गए ! मुझे बड़ा क्रोध आ गया था। ये लोग रूठकर नदी-किनारे जाकर बैठ गए थे। उन्हें मनाने के लिए मैं जल्दी-जल्दी वहाँ जा रही थी। सामने से डॉक्टर फेयरबेंक आए। उन्होंने पूछा, 'आप इतनी जल्दी-जल्दी में कहाँ जा रही हैं ?' मैंने कहा, 'मेरे समधी और दामाद रूठ गए हैं। उन्हें मनाने जा रही हूँ।' साहब ने कहा—'अच्छा, आप न जाइए। मैं उन्हें मनाकर लिये आता हूँ।' रात को करीब आठ बजे आखिरी भोजन हुआ। राजारामजी चाँदेकर, कांवले आदि लोग परोसने के लिए थे। भोजन समाप्त होने पर मैंने आँचल खोंसा। मेहमानों को रोककर कहा—"आप सब लोग नेता हैं। नेतापन ऐसा नहीं होता। आप मंच से गला फाड़कर यह कहते हैं कि ईसा सेवा करने के लिए आया है, सेवा कराने के लिए नहीं, और इधर अकारण मुझपर रूठ बैठे। उलटे आप लोगों को मेरी मदद करनी चाहिए थी। अपने भाषणों में आप कहते हो कि हम सब ईश्वर के बच्चे हैं, सब एक-दूसरे के भाई-बहन हैं। मैं अगर आपके घर मेहमान होकर गई, तो घर में जाकर अपनी भौजाई की मदद करूँगी। यह उससे पूछूंगी कि क्या करूँ और क्या न करूँ। और इधर आपने मुझे अपने पीछे दौड़ने के लिए बाध्य किया।'

मेरे श्रोता बोले—'बाई, हम आपसे नहीं रूठे थे।'

'तो फिर आढाव से तो रूठे थे न ? क्योंजी, उन्होंने ऐसी कौन-सी बात कह दी थी जिससे आप लोग उनसे इतना रूठ गए। उन्होंने यही कहा था न कि आराम से नहाकर आओ। यही न ? फिर अभी भोजन करते समय जब उन्होंने कहा कि आराम से भोजन कीजिए, तब आप क्यों नहीं रूठे ? उसमें रूठने की क्या बात थी ? अच्छा, अब तो आपका गुस्सा जाता रहा न ? तो फिर जिनका गुस्सा जाता रहा हो, वे हाथ ऊपर उठायँ !'

सबने हाथ उठाए।

इधर मेरा 'लेक्चर' हो रहा था और उधर बचा हुआ अन्न चोरी जा रहा था। मेहमानों के जाने पर जब हमने बचा हुआ अन्न देखा, तो सब भात चोरी चला गया था ! हम भूखे रहे।

जंगल में घर बनाने के विषय को लेकर दूसरे दिन तिलक में और मुझमें फिर खटकी।

'देखिए, पहले से प्रबंध होने पर इसी तरह तकलीफ़ होती है।'

'कौन-सी तकलीफ़ होती है? मुझे तो कोई खास तकलीफ़ नहीं होती।'

'आपको तो कोई तकलीफ़ ही नहीं हुई। पर, हमें देखिए न, कितनी तकलीफ़ हुई?'

'तुम खुद अपने-आपको तकलीफ़ देती हो, तो इसका क्या इलाज? अपने-आपको यदि तकलीफ़ न दो, तो क्या कुछ काम रह जाता है? वक्त पर सब-कुछ हो जाता है।'

'सब-कुछ क्या हो जाता है? पानी का भी इंतज़ाम न था। पानी की कितनी कमी पड़ गई थी। मैं पहले ही से कह रही थी कि ऐसी जगह घर न बनाइए। चोरों का भय, मनुष्यों का अभाव, पानी का अकाल!'

'पानी का अकाल! चिमबाबा, लाओ तो गेंती और फावड़ा। हम कुआ खोदेंगे।'

चिमबाबा पहले ही बूढ़ा था, उस पर तीन जगह झुका हुआ। वह कमर पर हाथ रखे उनके सामने मुँह खोलकर खड़ा हो गया।

'साहब, यहाँ कहीं पानी नहीं निकलता।'

'नहीं निकलता का क्या मतलब है रे? चल, मैं कहता हूँ वहाँ चला कुदाली!'

चिमबाबा का क्या, वह बेचारा ठहरा नौकर, हुक्म का ताबेदार। वह गेंती और फावड़ा ले आया और तिलक उसे साथ लेकर कुआ खोदने चले! घर से तीन-चार सौ हाथ की दूरी पर कुआ खोदने का काम शुरू हुआ। तिलक और चिमबाबा खुदाई करते थे। मैं, दत्तू और तारा मिट्टी ढोने लगे। मेहमान वगैरह कमर पर हाथ रखकर हमारा तमाशा देख रहे थे। रोज़ थोड़ा-थोड़ा करके कमर के बराबर कुआ खोदा गया। हमारे कुए का समाचार बात-की-बात में चारों ओर फैल गया। एक दिन बेलदार

आए। उन्होंने तिलक से दस आना फी "रूमाल"[1] तय किया और आगे इस दर से वे काम करने लगे। चादेकर को इसका पता लगते ही वह दौड़-कर आए। उन्होंने तिलक से कहा, 'आप धोखा खा रहे हैं। ऐसा ऊटपटाँग ठेका न दीजिए।' परंतु तिलक ने उनकी न सुनी। भास्करराव भांवल बीमार थे। मालूम होते ही वे भी बुखार ही में दौड़ते हुए आए और उन्होंने मज़दूरों को काम करने से रोक दिया। उस समय तक वे मज़दूर घुटने तक कुआ खोद भी चुके थे। परंतु जब उतनी खुदाई की रकम 'रूमाल' के हिसाब से निकाली गई, तब तिलक को अपनी भूल का पता चला। उन्होंने सोचा था कि जब पूरा कुआ एक 'रूमाल'-भर गहरा खुदेगा, तब दस आने होंगे। परंतु एक रूमाल यानी एक घन-फुट का वह हिसाब था। उस हिसाब से बहुत दाम लगने लगे। उसी दिन तनख्वाह मिली थी। उन बेलदारों को जैसे-तैसे समझाया-मनाया गया। फिर भी वे चार घंटे के काम के लिए पैंतालीस रुपए ले गए! फिर भास्करराव दूसरे मजदूर ले आए। एक पुरुस (आदमी के कद के बराबर) खोदने पर दस रुपया, दो पुरुस अंदर जाने पर पन्द्रह रुपया, ऐसा उनका चढ़ता हुआ, किन्तु सीमा के भीतर हिसाब था। पाँच पुरुस गहरा खुदने पर कुए में पानी दिखाई दिया और वह काफी मीठा था।

राहुरी ही में तिलक ने बहुत-से भजन और "अभंग"[2] लिखे। एक दिन तिलक कुछ ईसाइयों के साथ घूमने गए थे। वहाँ एक "दंडी"[3] आई। तिलक ने सोचा कि ईसाइयों की उपासना-पद्धति में पाश्चात्य संगीत की प्रधानता कम होनी चाहिए, और उन्होंने उसी दिन "तुज सोडूनी ख्रिस्ताँ जाउँ कुठे?"[4] ख्रिस्त गुरु माऊली"[5] वगैरह बहुत-से प्रसिद्ध भजनों की

---

१. रूमाल—एक स्थानीय नाप।

२. एक मात्रिक छंद। संत तुकाराम ने अपनी कविताएँ इसी छंद में लिखी हैं।

३. धार्मिक उत्सव की यात्रा।

४. हे ईसा मसीह, तुझे छोड़कर कहाँ जाऊँ?

५. हे ईसा गुरु, तू हमारी माँ है।

रचना की। भक्ति-भाव से ओत-प्रोत उनके बहुत-से अभंग भी वहीं लिखे गए।

सन् १९०५ और सन् १९०६ में उन्होंने धार्मिक कविताएँ बहुत लिखीं। 'उपासना-संगीत' के ६८२ गीतों में २५४ गीत उनके हैं। इसके सिवा उनकी 'प्रभुची प्रार्थना'[1] और 'भजन-संग्रह' ये दो पुस्तकें भी इसी ढंग की हैं। इनके प्राय: सभी भजन और गीत इसी काल के हैं। उन कविताओं को पढ़ने से उस समय की तिलक की मन:स्थिति का पता चलता है।

तिलक कहते हैं कि मैं बुद्धि से पहले ईसाई हुआ, परंतु मन से ईसाई होने के लिए मुझे आगे दस-बारह वर्ष का समय लगा और यह कहने में हर्ज नहीं कि इस समय के लगभग वह दूसरा परिवर्तन उनमें होने लगा था। उनके अन्तरतम की लगन के दर्शन इस समय की कविताओं में होते हैं। उनके भीतर जो अभिमान था, वह इस समय विलुप्त हो गया और ईश्वर की शरण जाने की प्रवृत्ति उनमें अधिकाधिक दिखाई देने लगी।

तिलक ईसाइयों के किसी सम्मेलन के लिए जालना गए थे। घर के मेहमान भी सब चले गए थे। केवल दत्तू पूना से छुट्टियों में घर आया था। नीलकंठराव मामा, उनकी पत्नी, दो लड़के, चिमबाबा, मैं और बेबी, इतने ही लोग घर में थे।

तिलक ने जाने से पहले शहाजी भील को नौकरी से अलग कर दिया था। परंतु उसके काम से अलग होते ही घर पर पत्थर बरसने लगे। एक दिन चोर घर के बिलकुल नज़दीक आ गए। नीलकंठराव मामा ने उनका पीछा किया। ज्वार की फसल गले तक थी। ये लोग पीछा करते-करते ही न जाने कहाँ, किसी कोने में लुप्त हो गए। हम सब लोग लालटेन, लाठियाँ आदि हथियार लिये उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। नज़दीक ही ज्वार के डंठलों की सर-सर आवाज़ आ रही थी। उसके सहारे हम चल पड़े। मामा के हाथ की कड़ी मार खाकर पड़ा हुआ चोर हमें मिला। अच्छा हुआ।

---

१. ईश्वर की प्रार्थना।

हमने सोचा कि अब चोरों को दहशत हो जायगी। हमने भी साहस बटोर-कर उसे मारने के लिए लाठियाँ उठाईं। तभी मामा कराहकर कहने लगे, 'मैं चोर नहीं हूँ। चोर भाग गया। मैं मामा हूँ! सच कहता हूँ, मैं मामा हूँ!' सबने मिलकर उन्हें उठाया और घर लाए। मामा बहुत कहा करते थे कि मेरे चंगुल से चोर कभी नहीं छूट सकेगा। परंतु उस दिन तो चोरों के चंगुल से वही न छूटे। फिर शहाजी भील की चौकीदारी बहाल की गई और बाद में चोरी का कष्ट कभी न हुआ।

यहाँ आने पर मेरे स्वास्थ्य में काफ़ी सुधार हुआ। मैं इतनी फूलने लगी कि कुछ न पूछो। हाथों की चूड़ियाँ और गले की हँसली तंग होने लगीं। संक्षेप में, राहुरी जाने पर मैं काफ़ी वज़नदार औरत हो गई थी। क्यों न होती? निजी मकान था, सर्वत्र मनोनुकूल सारी व्यवस्था थी। मकान के सामने एक सुंदर बगीचा लगा लिया गया था। उसमें कुछ अंडी के पेड़ थे। जब अंडी फली, तब उसके बीज निकालकर एक घड़े में भरकर रख लिए। इसके बाद मेरे मस्तिष्क में अंडी के बारे में तरह-तरह के और लंबे-चौड़े विचार आने शुरू हुए। हर चीज़ का कुछ-न-कुछ उपयोग होना ही चाहिए! सब चीज़ें स्वयं बनानी चाहिए और सब चीज़ों को काम में लाना चाहिए, इस दिशा में मेरे विचार दौड़ रहे थे। फिर इस काम के लिए मेरे ही जैसे स्वभाव का चिमबाबा मुझे मिल गया था। हम दोनों ने रेहट के रस्से आदि चीज़ें, लड़कों के गद्दों का दान-धर्म कर देने के बाद बचे हुए कपास के बनाए थे। दवाएँ आदि बनाने का भी शौक मुझे था ही। घड़ा-भर अंडी देखकर, मेरे मस्तिष्क में उसका सदुपयोग करने का विचार आया। मैंने चिमबाबा से कहा, 'चिमबाबा, एक प्याला अंडी छीलो तो।' छिल जाने के बाद मैंने उसे महीन पीस डाला, उसमें दालचीनी और सोंठ मिलाईं। फिर गाय के घी में भून डाला। फिर चीनी का पाक बनाकर अंडी की बरफ़ी बनाई! वह स्वाद में बड़ी अच्छी लगी। कोई चीज़ बना-कर मैं उसे अकेली ही खा लूँ, यह मुझसे कभी नहीं होता। परंतु इस बर्फी के तैयार होने तक सब लोग सो गए थे। सिर्फ़ दत्तू जाग रहा था। दत्तू ने

थोड़ी वर्फी खाईं। मैंने भी वची हुई वर्फ़ी सव खाकर खत्म कर डाली। बेवी उसे खाती न थी। उसे नींद आ रही थी। फिर हम सो गए।

सुवह दत्तू को जगाकर पढ़ने के लिए विठाया। परंतु वह वैठता न था। मैंने डाटना शुरू किया, 'तू कभी नहीं पढ़ता। क्या आगे चलकर भीख माँगनी है तुझे? चाँदेकर हमेशा कहते हैं कि तू कभी नहीं पढ़ता। दत्तू वोला, 'माँ मैं सच कहता हूँ। मेरा सिर घूम रहा है।'

'पढ़ाई के वक्त ही तेरा सिर कैसे घूमने लगता है रे?'

मेरी यह वात सुनकर वह ज़वरदस्ती उठकर वैठा और घड़ाम से नीचे गिर पड़ा। मैं उसे उठाने गई, तो मुझे भी लगा कि जैसे सव-कुछ घूम रहा है और फिर हम दोनों की दुर्दशा का श्रीगणेश हुआ। दूसरे दिन शाम तक हमारी हालत ऐसी हो गई, जैसे हमें हैज़ा हो गया हो। चिमवावा के छक्के छूट गए। वह कह रहा था कि तिलक को तार देता हूँ। अंत में मैंने उसे डॉक्टर वालंटाइन के पास भेजा। चिमवावा ने वालंटाइन से सव हाल कहा। साहव वहुत नाराज़ हुए। वह वोले, 'अरे वावा, वह औरत वहुत खराव है। वह हमेशा इसी तरह कुछ-न-कुछ ऊटपटाँग वनाकर खाती है, पति को खिलाती है, वच्चे को देती है और मेरे लिए भेजती है। उसीने इसी तरह का कुछ खिलाकर अपने पति की आँखें खराव कर डालीं।'

वालंटाइन साहव ने यह सोचा कि मैंने कोई पकवान वनाकर खाया है। हाल ही में एक-दो वार मैंने उसके लिए पूरन की रोटियाँ और लड्डू भेजे थे। उनका तव से यही मत हो गया था कि मैं हर रोज़ पकवान वनाती हूँ और दूसरों को खिलाती हूँ।

अस्तु। परन्तु, यह साहव यद्यपि भड़क उठे थे, तथापि वड़े दयालु थे। उन्होंने तुरन्त हमें दवा दी और केवल मोसंवियों पर हमें रखा। फिर हमें आराम पड़ा। यह वात शुक्रवार को हुई। मैं रविवार को चर्च गई। मुझमें इतना फ़र्क दिखाई दिया कि किसी ने मुझे पहचाना ही नहीं।

हरएक मुझसे पूछने लगा कि वाई, वताइए आपने दुवली होने के लिए क्या उपाय किया? परन्तु, मैंने कभी किसी को अपना उपाय न वताया.

और न वह वर्फ़ी ही किसी के हाथ लगने दी। चिमवावा ने बड़े विश्वास के साथ उसे जमीन में अच्छी तरह गहराई में गाड़ दिया।

तिलक ने जालना से लौटने के बाद जब मुझे देखा, तब मेरे शरीर में एकदम फ़र्क पड़ा देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने यह मत व्यक्त किया, 'तुम अघोर-पंथी हो।'

जब हम राहुरी आये थे उसी समय सखाराम लालाजी भी राहुरी आकर वहाँ वकालत करने लगे थे। जालना जाते समय तिलक उनके घर उनसे मिलने गए थे। तिलक की भौजाई ने उनसे तवा, कढ़ाई आदि चीज़ें ला देने को कहा था। तिलक विना भूले उन सव चीज़ों को ले आए और स्वयं उनके घर जाकर उन्हें दे आए। उस समय रखमाई ने तिलक से उन चीज़ों की कीमत पूछी। इस कारण तिलक अपनी भौजाई पर बहुत नाराज़ हुए और दोनों में कुछ झगड़ा हो गया। इसके वाद तिलक घर आए और उस झगड़े को भूल गए।

रात को भोजन आदि से निवटकर तिलक जाकर सो गए। इसी समय दरवाज़े पर एक ताँगा आकर खड़ा हुआ। उसमें से देवरजी उतरे। वह पसीने से बिलकुल तर-ब-तर हो गए थे। उनका चेहरा ऐसा दिखाई दे रहा था, जैसे छह महीनों से बीमार हों। उन्हें देखकर मेरे छक्के छूट गए। मैंने कहा।

'लालाजी, क्या हुआ ? घर में सव कुशल तो हैं न ?'

'हाँ, परन्तु नाना (तिलक) कैसे हैं ?'

'क्या मतलव ? वह खाना खाकर अभी जाकर सोये हैं। कुशल से हैं वह।'

'यह देखिए उनका पत्र। मैं जब घर आया तब मुझे यह मिला। वह कहते हैं कि यही तुम्हें मेरा अंतिम पत्र है। इसके वाद तुम्हें मेरा मुँह नज़र न आयगा।'

अब सब वात मेरी समझ में आई। मैंने उनसे सब कह दिया। लाला की जान में जान आई और वह घर चले गए।

राहुरी में रहते समय हमारे घर एक कवि आए थे। उन्होंने हाल ही में पुलिस की नौकरी से इस्तीफा दिया था। आगे क्या करना है, यह उन्होंने तय नहीं किया था। परन्तु, उन्होंने बहुत-सी कविताएँ लिखी थीं, और भी बहुत-सी लिखने का उनका इरादा था। उनकी कविताओं में एक कविता का आरंभ **'नको ही पोलिसची चाकरी'**[1] था। पुलिस-विभाग के अपने मज़ेदार अनुभव भी वह बहुत सुनाया करते। उनके मन में आया कि अपना शेष जीवन अब नाटक लिखने में बिताऊँ और तुरन्त ही वह एक नाटक लिखने लगे। उनका मुंशी दत्तू था। वह बोलते जाते और यह जल्दी-जल्दी लिखता जाता। वह कविता तो इतनी जल्दी बनाते कि लगता कि जैसे किसी रटी हुई कविता को दोहरा रहे हैं। प्राचीन हिन्दुस्तान की किसी ऐतिहासिक कथा-वस्तु पर उन्होंने वह नाटक लिखा था। उसमें **'कोणि कोणि चंदनाचि उटणि लाविती'**[2] वाला एक गीत था। यह नाटक एकाध अंक के बाद समाप्त हो गया! कविराज अपने साथ एक औरत भी ले आए थे! परन्तु, ब्रह्मण की औरत हमारे घर में कैसे रहती? इसलिए वह रहती पड़ोस के बिरोबा के मन्दिर में—वहीं रसोई बनती। हमारे सामने अधिक आती ही न थी। मैं कहती—'कविराज, यह ब्रह्मण की औरत है। फिर इसके गले में मंगल-सूत्र क्यों नहीं है?' वह कहते—'अजी बाई, यह बचपन से मराठों के साथ रही है, इसलिए शायद न पहनती होगी।'

यह दिखाने के लिए कि औरत को उससे बहुत तकलीफ़ है और वह उसे बहुत तंग करता है, वह भीतर जाकर उसे मारने का नाटक किया करता। वह झूठ-मूठ ही रोया करती। परन्तु, कभी-कभी रोने की आवाज़ के बीच-बीच में उन दोनों के हँसने की आवाज भी मेरे कानों में पड़ जाती। इससे मैं समझ गई कि यह सब नाटक है। परन्तु, मैंने उसे यह कभी मालूम न होने दिया कि मैं इस रहस्य को जानती हूँ।

---

१. पुलिस की नौकरी से भगवान् बचाये!

२. कोई-कोई चंदन का लेप लगाते हैं।

अस्तु। उस समय उन कवि की यह बात चाहे-जैसी लगी हो, परन्तु आगे चलकर वह एक प्रसिद्ध भगवद्-भक्त हुए और उनकी वह ख्याति उचित ही थी।

तिलक को फिर नगर से निमंत्रण मिला। नगर में डॉक्टर ह्यूम की 'ईश्वर विद्या' का एक क्लास था। तिलक उसमें शिक्षक का काम करते थे। परन्तु, बीच में उन्होंने मिशन का काम छोड़ दिया था और वह राहुरी में आकर रहने लगे थे। अब डॉक्टर ह्यूम ने फिर बड़े आग्रह से उन्हें बुलाया और तिलक भी राज़ी हो गए। हम फिर नगर में अपने पुराने घर में रहने को आ गए। राहुरी का घर, खेत, कुआ इत्यादि शहाजी भील के हवाले करके हम सब फिर नगर आए।

नगर के वे दिन

राहुरी छोड़कर हम नगर आए और फर्ग्युसन गेट के अपने पुराने घर में रहने लगे। अपने चिमबाबा को भी हम साथ ले आए थे। वह बड़ा सज्जन, सीधा और ईमानदार था। शहाजी भील छह रुपये माहवार पर हमारे राहुरी के घर को सँभाल ही रहा था।

नगर पहुँचने पर हमारे घर एक साधु आया। वह हमारे घर में रहने लगा। वह हमेशा वैराग्य की बातें करता। कहता, 'ईश्वर सच्चिदानंद है। वही एक सत्य है। शेष सब मिथ्या है। संसार माया है। उसमें प्राणी डूब रहा है। हम कहाँ से आए और कहाँ जा रहे हैं, इसका उसे कोई ज्ञान नहीं। यह सारा आभास है, परंतु उस आभास ही में लिप्त होकर मनुष्य ईश्वर को छोड़कर भटक रहा है। किसकी पत्नी, किसके बच्चे, धन किसका, घर किसका ? सर्व-संग-परित्याग करना चाहिए।

'गुरुजी, हम दोनों मिलकर कुछ सेवा करें। हमारे पीछे कोई बखेड़ा नहीं होना चाहिए। कोई व्याधि-उपाधि नहीं होनी चाहिए। मैं सोचता हूँ कि अपना राहुरी का घर बेचकर जो कुछ रुपया मिले, उस पूँजी से हम एक दूकान खोलें और उस दूकान से जो लाभ हो, वह जन-सेवा में खर्च करें। फिर अगर कोई मुसीबत का मारा आ जाय तो उसे कोई अड़चन न हो।' साधुजी की ऐसी गप्पें चला करतीं। उन्हें मैं ध्यान देकर सुनती। तिलक को भी घर की चिंता लग ही रही थी। वह भी कहने लगे कि अगर घर बेच दिया जाय, तो उससे जो पैसा मिलेगा उससे बहुत-से जनोपयोगी

कामों में हाथ बँटा सकते हैं और बहुत-से काम कर सकते हैं।

एक दिन घर में पानी की एक बूँद भी न थी। नगर में पानी का पहले से ही अकाल था। तिलक लेटे थे। उनके पास साधु महाराज बैठे हुए थे। मैंने पानी का एक बड़ा-सा खाली हंडा ले जाकर उनके सामने रख दिया।

'यह लो महाराज! आप सेवा करना चाहते हैं न? घर में आज पानी की एक बूँद भी नहीं है। चलिए, आप, दत्तू और बेबी आज पानी भरिए। यह सारा स्वप्न है, माया है। इसलिए इसका बुरा मानने की ज़रूरत नहीं है।'

साधुजी पानी भरकर लाने में हिचकिचाने लगे। मैंने दूसरा 'डोज़' पिलाया।

'यह देखिए महाराज! मैं जब रोटियाँ सेंकती हूँ, तब मेरे हाथ जलते हैं। इसके कारण हाथ पर जो फफोले हो जाते हैं, वह मुझे माया के फफोले नहीं मालूम होते। मुझसे वह पीड़ा सहन नहीं होती। परंतु आपके लिए सब-कुछ माया ही होने के कारण आपको कोई बात नहीं। आपको इसमें बुरे-भले का विचार क्यों करना चाहिए?'

यह देखकर कि तिलक को भी मेरी बात जँच रही हैं, महाराज पानी लाने के लिए उठे। कराहते-हाँफ़ते एक-दो हंडे पानी जब वह भरकर लाए, तब मैंने उनसे साफ़-साफ़ कहा, 'महाराज तुम्हारी यह माया हमारे राहुरी के घर पर मँडरा रही है। यह झूठी माया है, इसलिए कल आप अपना रास्ता नापिए!'

दूसरे दिन साधुजी चले गए, लेकिन सिर्फ़ इतने ही से घर के पीछे लगी हुई ग्रहदशा नहीं छूटी।

एक ईसाई पर इतना कर्ज़ हो गया था कि वह बिलकुल तंग आ गया था। अमेरिकन मिशन का एक ऐसा नियम था कि जिस आदमी पर कर्ज़ हो, उसे जहाँ तक हो सके मिशन की कोई नौकरी न दी जाय। यह सोचकर तिलक का मन दुखी होने लगा कि यदि इस आदमी की नौकरी चली जायगी, तो इस बेचारे की बड़ी बुरी हालत हो जायगी। परंतु मन के

दुखी होने से लाभ क्या ? उसे देने के लिए घर में क्या रखा था ? तिलक की आँखों के सामने फिर राहुरी का मकान घूमने लगा। परंतु मैं !

अंत में एक दिन यह कहकर कि राहुरी जा रहा हूँ, तिलक चल दिए। दो-तीन दिन के वाद वह लौटकर आए। आने के वाद दूसरे दिन उन्होंने मुझे छह सौ रुपए रखने के लिए दिए और कहा, 'ये रुपए ह्यूम साहव के हैं। कल अमुक महाशय आयेंगे, उनसे ऋण-पत्र लिखाकर, पाँच सौ रुपए उन्हें दे देना !' मैं पक्की थी ! मैंने कहा, 'रुपए तो ह्यूम साहव के हैं और उनके लिए ऋण-पत्र हम लिखाएँ ? यह क्या मामला है ?'

'देखो, साहव को ये रुपए मिसेज़ ह्यूम को विना वताए देने हैं।' यह वात मुझे जँच गई। मैंने सोचा कि जिस तरह तिलक मुझसे डरते हैं, उसी तरह ह्यूम साहव भी अपनी मेम साहव से डरते होंगे।

दूसरे दिन वह महाशय आए। उन्हें मैंने रुपए दिये और उनसे ऋण-पत्र लिखा लिया। शेष रुपए अलग रख दिए।

धीरे-धीरे घर के वेच दिए जाने की ख़वर मेरे कानों तक पहुँची। और वह ऐसे वेचा गया था, जैसे कोई आभूषण-सहित कन्या-दान करे। मतलव यह कि घर, घर का सामान, कुर्सियाँ, वेञ्चें, पटे, घिड़ौचियाँ, दिये, पलंग, पलना, और चिमवावा और मैंने जो रस्से वटे थे वे सव भी विक गए थे। 'रोटियों के साथ डिव्वा भी चला गया था।'

सिर्फ़ कुआ खुदवाने ही में पाँच सौ रुपए लग गए थे। परंतु कुए के साथ खेत गया और खेत के साथ घर भी गया। परंतु सौ रुपए अधिक आए। इसके सिवा हर महीने शहाजी भील को जो छह रुपए देने पड़ते थे, वे वच गए। यही क्या कम लाभ हुआ ?

मैंने तिलक से कहा, 'आपने मकान वेच दिया, तो वे रुपए कहाँ हैं ?'

'विलकुल सुरक्षित हैं। डॉक्टर ह्यूम के पास रखे हैं। फ़िज़ूल सिर मत खाओ !'

'और घर का सामान ?'

'अजी, जव घर ही नहीं तो फिर सामान कहाँ रखेंगे ?'

'तो क्या दिये और पलना भी वेचने की नौवत आ गई थी ? मैं कुछ नहीं जानती। दिये और पलने की ज़रूरत है। यह क्या असगुन कर बैठे आप ?'

'तुम्हारे ये विचार मूर्खतापूर्ण हैं।'

'परंतु यह सब बेचने की क्या कोई बड़ी ज़रूरत आ पड़ी थी आपको ?'

'मैं जो कह रहा हूँ, वह तो तुम समझती नहीं हो। उस घर के लिए व्यर्थ ही हमें छह रुपए माहवार देने पड़ रहे थे न ?'

दो-तीन दिन के बाद मिसेज़ ह्यू म मुझसे मिलने आईं। उनसे मैंने पूछा—

'क्यों मेम साहव, हमारे छह सौ रुपए आपके घर रखे हैं न ?'

'कहाँ कें रुपए ?'

'राहुरी के मकान के।'

'हमारे पास तुम्हारे कोई रुपए नहीं हैं। वे तो तिलक ने उस आदमी को कर्ज़ अदा करने के लिए दिए हैं !'

मेरा मुँह देखने लायक हो गया। जब तिलक घर आए, तब मैंने उनसे पूछा। वह बोले 'हाँ मैंने वे रुपए उस आदमी को उधार दिए हैं। अव तुम क्या कहना चाहती हो ?'

'परंतु आपने मुझसे यह पहले ही क्यों नहीं कहा ?'

'हाँ शायद कह भी देता। परंतु फिर क्या तुम मुझे वे रुपए उस आदमी को देने देतीं ?'

मकान गया। मकान वनवा देने वाले गए। आँखों का जल गया। सजल यादगारें अलवत्ता अभी तक हैं। पाँच सौ रुपए गए। ऋण-पत्र अवश्य विलकुल अभी कुछ समय पहले तक रखा हुआ था। वचे हुए रुपयों को कुछ दिन वैंक में रखा। वाद में उनमें वीस रुपए और मिलाकर एक भैंस खरीदी। भैंस देखने में बड़ी सुंदर थी। परंतु दूध मामूली ही देती थी और हर व्याँत में पड़ा व्याती थी। इसलिए उसके मालिक ने उसे हमारे मत्थे मढ़ दिया था। परंतु वाद में वह पछताया, क्योंकि हमारे घर आने के

बाद से उसके सब पड़ियाँ हुईं, वे भी जल्द-जल्द हुईं और वह दूध भी भरपूर देने लगी।

तिलक इस भैंस की खूब सेवा करते। उस भैंस को लेकर भी हम दोनों के बीच में झगड़े होते रहते। एक दिन मैंने कहा, 'क्या करूँ? कंडे सूखने के लिए रखती हूँ, तो चोरी चले जाते हैं।' तिलक ने सोचकर एक बढ़िया तरकीब निकाली, जिससे कंडे चोरी न जायँ। नज़दीक ही दत्तू और बेबी भी बैठे थे। तिलक बोले, 'हम एक नौकर रखें और उससे इन कंडों को भुनवा लिया करें। एक बड़ा चूल्हा बनाना चाहिए। उस पर टीन की चादर रखनी चाहिए। उस टीन की चादर पर कंडे रख देने चाहिएँ और चूल्हे में आग जलाकर कंडे भून लेने चाहिएँ। जब सब भुन जायँ, तब उन्हें उठाकर बंद कमरे में रख देना चाहिए। बस काम पूरा हुआ।'

तिलक की यह तरकीब सुनकर हम तीनों हँस पड़े।

'मुझे तुम सब लोग क्या बेवकूफ समझ रहे हो? क्या यह कहना चाहते हो तुम कि मुझमें कोई अक्ल नहीं?'

'मैं इतना ही कहना चाहती हूँ कि इस तरीके से भूनने में जो खर्च होगा, वह कंडों के मूल्य से तिगुना रहेगा। इसके अतिरिक्त, तपे हुए तवे पर डाले गए कंडों की राख हो जायगी, सो अलग ही।'

'देखो जी, इसी तरह तुम मेरा जहाँ-तहाँ अपमान कर देती हो। क्यों रे दत्तू तू क्या सोचता है?'

'सच पपा। मुझे भी माँ की तरह ही लगता है कि इतने खर्च में तो हम लकड़ियाँ काम में ला सकते हैं।'

अब तो तिलक का पारा और भी अधिक चढ़ गया। उन्होंने मंजुलाबाई को पुकारा और उससे कहा, 'अभी एक चूल्हा जलाओ और उस पर एक उपला भूनकर मुझे दिखाओ।' मंजुलबाई 'अच्छा' कहकर दूसरे दरवाज़े से खिसक गई। तिलक फिर अपने काम पर चले गए और यह जलता हुआ 'कंडा-प्रकरण' बुझ गया।

एक बार मैंने ठोंबरे से कहा—'ठोंबरे, ज़रा पड़े को पानी तो पिला

दे।' ठोंवरे ने पानी पिलाया। पानी पिलाने के वाद, पड़े को उसकी जगह बाँधने के बदले ठोंवरे को कुछ मज़ाक करने की सूझी। उसने पड़े की रस्सी का एक छोर अपनी कमर में बाँध लिया। पड़ा खूब दूध पीता था, इसलिए अच्छा तगड़ा और काफी ताकतवर हो गया था। वह ठोंवरे को खींचने लगा और होते-होते आगे पड़ा और उसके पीछे-पीछे ठोंवरे, इस तरह दोनों घर के आस-पास चक्कर काटने लगे। मुझे लगा कि ठोंबरे पड़े को घुमा रहा है। परंतु जाकर देखा तो मामला दूसरा ही था। पड़ा उसे खींच रहा था और वह हँस रहा था। परंतु उसकी हँसी जल्द ही समाप्त हो गई, क्योंकि वह ज़मीन पर गिर पड़ा था और पड़ा उसे खींचे ही जा रहा था। वह ज़मीन पर किसी लकड़ी के लट्ठे की तरह घसीटा जा रहा था। अव वह रोने लगा। मैं दौड़ी और पड़े के गले में बँधी हुई रस्सी को खोलकर ठोंवरे को मुक्त किया। वह एक तरफ़ हँस रहा था, एक तरफ़ रो रहा था और एक तरफ मुझसे लड़ रहा था। 'तुम्हींने यह किया।'—वह मुझसे वोला। मैंने कहा—'मैंने क्या किया? क्या पड़े को तेरी कमर से मैंने बाँधा था? और जब पड़ा खींचने लगा था, उस वक्त एकदम मुझे क्यों नहीं पुकारा?' फिर हल्दी लगाकर, सेक करके दो-तीन दिन में इस 'पड़ा-प्रताप' का असर दूर किया।

एक वार हमारी कल्याणी भैंस छूट गई और भाग खड़ी हुई। तिलक उस समय 'लेक्चर हॉल' में 'क्लास' ले रहे थे। फर्ग्युसन गेट से कल्याणीबाई ने जो दौड़ शुरू की, तो लेक्चर हाल के सामने से दौड़ती हुई आगे निकल गई। पढ़ाते-पढ़ाते तिलक का ध्यान भैंस की ओर गया। एक विद्यार्थी के घर से लाठी लेकर, वह भैंस के पीछे दौड़ पड़े। कोट, पेंट, सिर पर हैट और हाथ में बाँस की एक लंवी लाठी—इस साज-सज्जा में तिलक भैंस के पीछे दौड़ रहे थे। उस दिन भैंस ने वहुत ज़्यादा तंग किया। वह किसी भी तरह उनकी मानती न थी। अंत में जैसे-तैसे उसे घर लाए।

घर आने पर तिलक वोले—'अजी, भैंस को कब्जे में लाना हँसी-खेल नहीं है। वेचारे चरवाहे को कितनी मेहनत करनी पड़ती होगी? कल से

हम अपने चरवाहे को भैंस की देख-रेख करने और उसे चराने के लिए दूना वेतन देंगे। वे वेचारे गरीव लोग हैं। कुछ वोलते नहीं, इसलिए हम उन्हें थोड़े-से पैसे देकर उनसे कसकर काम लेते हैं।' तिलक की इच्छानुसार हम अपने चरवाहे को अधिक वेतन देने लगे।

मिशन हाई स्कूल में स्नेह-सम्मेलन करने का निश्चय किया गया। स्नेह-सम्मेलन था, तो उसमें नाटक था ही। विद्यालय के अधिकारियों ने लड़कों को इस शर्त पर ही नाटक करने की अनुमति दी थी कि उस नाटक में कोई स्त्री-पात्र नहीं होना चाहिए। परंतु विना स्त्री-पात्र का नाटक मिलता न था। तव तिलक ने स्वयं एक नाटक लिखने का ज़िम्मा लिया और उसके निर्देशन का भी भार अपने ऊपर ले लिया। नाटक के 'प्लाट' वगैरह का कोई पता न था और न नाटक लिखने के लिए तिलक के पास समय ही था। खुदाई फ़ौजदारी यानी दूसरों के मामलों में दखल देने ही में उनका वहुत-सा समय खर्च हो जाता था। परंतु लड़के भी वड़े पक्के थे। विद्यालय की छुट्टी होते ही तिलक के पास जाकर जम ही जाते। पहले ही दिन नाटक का नामकरण हुआ—'शीलं परं भूपणम्'। समय निश्चित हुआ रोज़ पाँच वजे के वाद का। परंतु, 'प्रेक्टिस' कैसे की जाय? लड़के आकर वैठते कि उसी समय कोई-न-कोई तिलक से मिलने को निश्चित आ जाता। फिर तिलक वैठे हुए उससे वातें करते रहते। अगर कोई न आता तो, तो लिखते रहते। नहीं तो पढ़ते रहते। कभी-कभी एकाध गहन विषय छेड़ लड़कों ही से वहस करने लगते। इधर उत्सुकता से यह देखते रहते कि कव यह हमारे लिए नाटक लिख दें और कव हम अपने-अपने 'पार्ट' याद कर लें। ऊपर से चाय की गड़वड़ भी मची रहती। वीच में स्टोव, कैटली, प्याले-तश्तरियाँ, दूध-शक्कर, दवात, कागज़-कलम, चम्मच, नज़दीक ही धरती पर रखा हुआ तोते का पिंजरा, विल्ली, द्वार में कुत्ता और इन सवके आस-पास हाई स्कूल के लड़के!, तिलक का यह विश्वास होने के कारण कि मेरी तरह 'साइंटिफ़िक' चाय कोई नहीं वना सकता,

चाय बनाने का सारा ठेका उन्हींने ले रखा था। अस्तु। एक दिन नाटक का नामकरण हो जाने पर, आगे चार-छह दिन के बाद, आगे बैठे हुए लड़कों को नाटक के पात्रों के नाम दिये गए। तू—'बाला साहब'! तू रे, 'पिल्या'! तू—'देवदत्त'! तू—'चारुदत्त'।

परंतु, पपा, हमें कुछ याद करने को भी दे रहे हैं या नहीं?'

'अरे, मुझे चाय-वाय भी पीने दोगे या नहीं?'

'पीजिए न? लेकिन इसी बीच यदि कोई आ गया, तो सभी बातें रह जायँगी।'

फिर एक दिन किसी-किसी को कुछ 'पार्ट' लिखा दिए जाते। दूसरे दिन लड़कों के आग्रह पर फिर कुछ लिखाए जाते। इस तरह बिलकुल सम्मेलन के दिन तक नाटक का लिखना और निर्देशन होता रहा। लड़के अधीर हो गए थे। उन्हें लगता कि यह पूरा भी होगा या नहीं। तिलक कहते—'अरे, चिन्ता क्यों करते हो? हो जायगा पूरा।' वे कहते—'हम लिखते हैं। आप बोलते जाइए।' परंतु यह कभी उनसे न हुआ। नाटक इतना सुंदर हुआ था कि कुछ दिन तक नगर में वह चर्चा का विषय बना रहा।

इस नाटक में भाग लेने वाले दो-तीन लड़कों ने आगे चलकर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। प्रोफेसर भा० ल० पाटणकर,[१] जो इस समय नासिक में प्रोफेसर हैं, 'देवदत्त' बने थे। नगर के रेवरेंड रामकृष्ण पंत[२] मोडक एम० एल० सी० ने एक प्रमुख पार्ट किया था। प्रसिद्ध अभिनेता श्री व्यंकटेश पेंढारकर 'चारुदत्त' बने थे। पेंढारकर की आवाज़ उस समय बड़ी मीठी थी और माधवराव पाटणकर ने उसी समय तिलक से कहा था कि यह लड़का यदि आगे नाटक के क्षेत्र में गया, तो बड़ा नाम कमायगा। और आगे चलकर वही हुआ। माधवराव पाटणकर की 'पाटण-

---

१. अब यह प्रिंसिपल हो गए हैं।

२. प्रसिद्ध सिनेमा-अभिनेता शाहू मोडक के पिता।

कर नाटक-मंडली' उस समय वहाँ थी और उन्होंने रंगभूमि की सजावट में बड़ी मदद की थी।

इन दिनों तिलक चौपड़ बहुत खेला करते थे और इस खेल में ज़ोरों की लड़ाइयाँ होतीं। तिलक कौड़ियों को जोड़कर फेंकते थे। इसलिए उनके साथ खेलना भी सबने छोड़ दिया। फिर वह अकेले ही गुस्से के साथ खेलने बैठने लगे। एक दाँव दाहिने हाथ से खेलते और दूसरा बाएँ हाथ से। यह उनका नित्य का क्रम हो गया। एक दिन हम सबने उनके साथ खेलने का निश्चय किया। उन्हें भी बड़ी खुशी हुई। पर, शर्त यह थी कि कौड़ियों को हाथ से नहीं फेंकेंगे, बल्कि उन्हें एक प्याले में डालकर, हिलाकर, फिर फेंकेंगे। हम खेलने बैठे। एक ओर तिलक, ठोंबरे और बेबी, और दूसरी ओर मैं, दत्तू और भास्कर। पहले ही खेल में तिलक जीत गए। उनकी सिर्फ़ एक ही गोट घर में घुसने को रह गई थी। उसके लिए सिर्फ़ 'दो' ही पड़ने चाहिए थे। फिर तो हम हार जाते। और यदि 'दस' पड़ते, तो गोट घर में घुसने के बदले पलट जाती और तिलक को अपना खेल फिर शुरू करना पड़ता और इस हालत में उनकी हार पक्की थी। कौड़ियाँ अगर हाथ से फेंकनी होतीं, तो उन्हें इतना भय न था। परन्तु, उन्हें प्याले में रखकर फेंकना और इच्छित दाँव पाना ज़रा कठिन ही काम था। तिलक ने कौड़ियाँ फेंकीं। उसमें एक कौड़ी पूरी चित पड़ी और एक पड़ी करवट से। एक तरफ से देखते तो दिखाई देता कि 'दो' पड़े हैं और दूसरी तरफ से देखते तो 'दस' पड़े दिखाई देते। तिलक एकदम चिल्ला उठे, 'दो!' वैसे ही हम भी चिल्ला उठे, 'दस!' वह कहते, 'दस' कैसे होंगे?' हम कहते, 'दो कैसे होंगे?' वह ज़मीन पर ज़ोर-ज़ोर से मुट्ठी पटक-पटककर हमारे गले उतारने लगे, 'मैं, नारायण वामन तिलक कहता हूँ कि ये "दो" है।' उसी तरह मैं भी कहने लगी, 'मैं लक्ष्मीबाई तिलक कहती हूँ कि ये "दस" पड़े हैं।' अंत में वह ठोंबरे और बेबी से पूछने लगे, 'क्यों रे, कितने हैं ये?' ठोंबरे बोला, 'ये न "दो" हैं और न "दस" हैं, यह "डेढ़" है! तिलक बोले,

'इसी का मतलब है कि "दो" हैं।' हम सब नाराज़ हो रहे थे और हँस भी रहे थे। अंत में हमने दाँव फिर से फेंकने का आग्रह किया। परन्तु तिलक फिर से दाँव नहीं डालना चाहते थे, क्योंकि दूसरी बार क्या विश्वास था कि 'दो' ही पड़ेंगे। अंत में उन्होंने गोटें, बिसात और कौड़ियाँ, सब उठाकर सामने के अहाते में फेंक दिए और बाद में दौड़कर सामने वाले लुहार की दूकान में गए और वहाँ बैठे हुए लोगों से कह दिया, 'जाओ, वे सब चीज़ें उठाकर ले जाओ।' उनका क्या था? उन्होंने बड़ी खुशी से वह सारा सामान बटोरा और ले गए।

तिलक की चीज़ें हमेशा खो जाया करती थीं। खो जाने का मतलब यह कि स्वयं अपनी चीज़ों को वह निश्चित स्थान पर कभी न रखते, निश्चित स्थान पर उन्हें खोजते न थे और दूसरों को भी उस स्थान पर न खोजने देते। नकली दाँत, दिया-सलाई, टोपी, चश्मा, पट्टा, उनकी ये चार-पाँच चीज़ें तो हमेशा ही खोती रहतीं। विशेषतः क्लास लेने जाते समय अथवा किसी गाँव या शहर को या लैक्चर देने जाते वक्त बूट, कोट, मोज़े, टोपी, कालर, पट्टा, छाता, चप्पल, ये सब उनसे आँख-मिचौनी खेलते और उनके साथ ही हम सबकी भी दौड़-धूप शुरू हो जाती। कितनी ही बार उन्हें बिना टोपी के जाना पड़ता, अथवा पट्टे की जगह पाड़ा खोल-कर उसीकी रस्सी कमर से बाँधनी पड़ती। वह कहते कि मेरी व्यवस्था कोई नहीं रखता, हरएक अपने-अपने ही काम में मस्त रहता है, किसी को मेरी परवाह ही नहीं, और फिर हम सब उनकी परवाह करने के लिए दौड़ पड़ते। एक बार उनके नकली दाँत इसी तरह खो गए थे। कितना हंगामा मच गया था! कहते थे—'यह कुत्ता ही मेरे दाँत ले गया। नहीं तो, इस कमरे में तुमने जलाने के लिए जो ये गाड़ी-भर लकड़ियाँ भर रखी हैं, उन्हीं-के नीचे चूहों ने मेरे दाँत ले जाकर रख दिए है! जाओ रे, हटाओ तो ये सब लकड़ियाँ और फेंक दो इन्हें बाहर। इसे गृहस्थी इकट्ठी करने का बड़ा शौक है।' बस, सारी लकड़ियाँ कंपाउंड में बिखरने लगीं और उसी

समय दाँतों का डिब्बा मिला मेज़ पर! एक बार टोपी खो गई। वह थी खूँटी पर और उस पर टाँग दिया गया था कोट। तिलक को बाहर जाना था। उन्होंने जल्दी-जल्दी में दूसरा कोट पहन लिया और वह टोपी खोजने लगे। पहले उन्होंने पहला कोट गुस्से से ज़मीन पर दे मारा। उसके साथ ही उसके नीचे रखी हुई टोपी भी नीचे गिर पड़ी। फिर क्या था? सर्प-यज्ञ में एक-के-बाद-एक सर्प आकर जिस तरह अग्नि-कुंड में गिरे थे, उसी तरह हमारे घर के कपड़े एक-के-बाद-एक जल्दी-जल्दी से उस ढेर पर आकर गिरने लगे। बिस्तर, दरियाँ, कंबल सब उस ढेर में शामिल हो गए।

'जाओ, मंजुलाबाई को बुलाओ। क्या कर रही है वह? मेरी टोपी ढूँढ़ो।

मंजुलाबाई आई। कपड़ों का वह ढेर देखकर वह दंग रह गई।

'मंजुलाबाई, तुम नौकरों का क्या उपयोग? क्या तुम्हारा आचार डालें? मेरी टोपी इसी वक्त ढूँढ़कर लाओ!'

'परन्तु पपा, उस ढेर के नीचे होगी वह···'

परन्तु, इसके बाद किसी के लिए बात करना ही संभव न था। मंजुलाबाई टोपी ढूँढ़ने के लिए उनके ऑफिस में गई, तो वहाँ से उसने देखा कि तिलक नंगे सिर ही बाहर चल दिए हैं तब वह नीचे आई। तिलक के जाने पर हमने वे सब कपड़े उठाए तो हमें उस कोट के नीचे दबी हुई वह टोपी मिली। जब तिलक को यह मालूम हुआ, तब वह बोले, 'हाँ, सचमुच कल मैंने टोपी कोट के नीचे रखी थी।'

कभी-कभी तिलक अपने छात्रों की क्लास को पढ़ाने के लिए मुझे भेज देते। पहली बार जब मैं क्लास लेने गई, उस समय की एक मनोरंजक घटना याद आती है। वह बोले, 'आज तुम जाकर मेरी क्लास लो।' मैंने कहा, 'मैं जाकर क्या उन्हें अचार डालना या "मैतकूट"[1] बनाना सिखाऊँ?'

---

[1] चावल तथा कुछ दालों का पिसा हुआ मिश्रण।

'नहीं जी, हिन्दुओं के रीति-रिवाज के बारे में उन्हें कुछ बता देना काफी हो जायगा।'

कक्षा में तीस-चालीस विद्यार्थी थे। ये विद्यार्थी छोटे लड़के नहीं थे, बल्कि हमारी तरह गृहस्थ लोग थे। मुझे देखते ही विद्यार्थियों ने मेरा स्वागत किया।

'क्यों माताजी, आज आप पढ़ायँगी क्या हमें?'

'हाँ, मैं तुम्हारे गुरुजी के बदले आई हूँ आज।' मैंने कुछ इधर-उधर की बातें कहकर, उस दिन उन्हें जैसे-तैसे पढ़ा तो दिया। पर मेरा लैक्चर खत्म होते ही एक विद्यार्थी बोला—

'माताजी, क्या एक प्रश्न पूछूँ?'

'हाँ, खुशी से पूछो।'

'हमारे गुरुजी कहते थे कि आप उन्हें मारती हैं। क्या यह सच है?'

'क्या ऐसा कभी हो सकता है? भाषण के आवेश में उन्होंने तुमसे यों ही कुछ कह दिया होगा। क्या स्त्रियाँ कभी अपने पतियों को मारती हैं? वैसे बुद्धिमान को शब्द की मार भी मारी जाती है। इस अर्थ में मार देती हूँ उन्हें कभी-कभी।'

इस तरह जैसे-तैसे निभाकर मैं घर आई। तिलक उस समय अपनी चाय बनाने में लगे हुए थे।

'क्यों, कैसा रहा तुम्हारा लैक्चर? किस विषय पर बोली थीं?'

'वाह, आज का विषय तो बड़ा मज़ेदार था।'

'कौन-सा?'

'स्त्रियाँ अपने पतियों को क्यों मारती हैं? और उनका ऐसा करना अच्छा है या बुरा?'

'क्या मतलब? यह तुम क्या बक रही हो?'

'बक नहीं रही हूँ। सचमुच मेरा आज का विषय यही था।'

'फिर उन्होंने क्या कहा?'

'वे बोले—इसीलिए गुरुजी कह रहे थे कि गुरुआइन मुझे मारती हैं।'

'फिर तुमने क्या कहा ?'

'मैंने ? जो सच वात थी वह कह दी।'

'क्या ?'

'मैंने कहा कि जव-जव वह वात नहीं मानते, रुपए-पैसे वरवाद करते हैं, अकारण नाराज़ होते हैं, वक्त पर घर नहीं आते, तव-तव मैं उन्हें खूव मारती हूँ।'

तिलक को मेरी सारी वातें सच मालूम हुईं। वे वोले—

'मैं तुम्हें होशियार समझता था। परन्तु आज मेरा विश्वास हो गया कि तुम वहुत वेवकूफ हो। किसी दिन तुम मेरी इज़्ज़त ले वैठोगी।'

चलते हुए को उठाकर गोद में ले लेने की हमारी आदत थी। इसी संवंध में कुछ वातें वताती हूँ। ऐसा करते हुए हम दोनों कभी न ऊवते थे। इसके विपरीत यदि ऐसी कोई वात न होती, तो हमें भूला-भूला-सा लगता।

एक दिन शाम को हमारे यहाँ एक लूला आदमी आया। उसे कुछ लकवा-सा मार गया था। उसे हमने अपने घर में रख लिया। मैंने और रामभाऊ ने उसकी वड़ी सेवा की। उसे अँगीठी से सेकते, खाने-पीने को देते, कभी-कभी अपने हाथ से भी उसे खिलाते और उसका मल-मूत्र भी साफ करते थे। उसके मल-मूत्र से सने कपड़े भी मुझे धोने पड़ते।

रामभाऊ वड़ा सज्जन था। ईसाई होने से पहले वह हमारे यहाँ आया था और आगे चलकर कितने ही वर्षों तक हमारे आश्रय में आता-जाता रहता था। परंतु वह वातें करने में वड़ा तेज़ था। उसी तरह कर्ज़ लेने में भी वड़ा सिद्धहस्त था। उसका धर्म-परिवर्तन, विवाह और आगे चलकर, उसकी पत्नी की मृत्यु के वाद, नौ महीने की चिकी का लालन-पालन, हमारे ही घर हुआ। जहाँ काम करता, वहुत अच्छा काम करता। परंतु उपर्युक्त दो दुर्गुणों के कारण कहीं भी न टिक पाता। उसका स्वभाव हमारे स्वभाव के समान होने के कारण ऐसे कामों में वह विलकुल मन से हमारा हाथ वँटाता। अस्तु। रामभाऊ और मैंने अपने इस "तैमूरलंग"

को मेहनत करके बहुत-कुछ अच्छा कर दिया।

उसे रोज़ दो आने की बीड़ियों की ज़रूरत होती, तीन बार चाय की। ये सब चीज़ें भी व्यवस्थित रूप से उसे मिला करतीं। अच्छा हो जाने पर, वह हमारे ही घर जमा रहा और कुछ दिनों के बाद ईसाई हो गया। ईसाई होने पर उसने अपना रंग बदला। उसे यह आभास होने लगा, जैसे उसके हाथ स्वर्ग तक पहुँच गए हैं। उसके पर निकल आए। कभी शिकायत करता कि चाय रद्दी बनी है, कभी कहता कि मुझे वक्त पर बीड़ियाँ नहीं दी गईं, कभी कहता कि मेरा खाना बिलकुल ठंडा है, कभी कहता कि बेबी बहुत गड़बड़ करती है! माँ ने उसे कुछ सिखाया ही नहीं है! बेबी को लेकर तो रोज चखचख हुआ करती। तिलक उसे समझाते, पर वह अपनी ही बात पर अड़ा रहता। तिलक जब लड़की को डाटते, तब उसे संतोष होता। एक दिन तिलक किसी काम से किसी अन्य शहर को गए थे। उनकी गैरहाज़िरी में हमारा गोपा आया था। उसे जड़ी-बूटियों का अच्छा ज्ञान था। लकवे की भी उसके पास दवा थी! मैंने कहा, 'गोपा, तुम इसे अपने गाँव ले जाओ। दवा, वैद्य और रोगी एक ही गाँव में रहें तो अच्छा होता है।' मैंने उसे खर्च के लिए पाँच रुपए दिये और वे दोनों चल दिए। तिलक लौटकर आए। जिस गाड़ी से वह लौटे थे, उसी गाड़ी से गोपाजी का पत्र आया। लिखा था कि, 'मरीज भाग गया!' तिलक को उसके लिए बहुत दु:ख हुआ।

इस पात्र के जाने के बाद दूसरे ने प्रवेश किया। अपनी सुबह की चाय नित्य की भाँति अपने हाथ से बनाकर, स्वयं पीकर, घर के सब चायबाज़ों को बिस्तर से उठाकर और उन्हें चाय पिलाकर, तिलक बाहर आकर खड़े हुए थे। इसी समय एक लंबा-चौड़ा व्यक्ति उनके सामने आ धमका। वर्ण अर्ध-गौर, बैठा हुआ मुँह, कंजी आँखें, चौड़ा चेहरा, सिर पर जटाओं का मुकुट, संन्यासी के मुंड की भाँति सफ़ाचट ओंठ, चिकनी चिबुक, वदन पर घुटनों तक की स्वच्छ भगवे रंग की कफनी, भगवे रंग का साफ़ा, हाथ में भगवे कपड़े की एक छोटी-सी गठरी—इस ठाठ से तिलक के सामने खड़े

होकर, उसने उनसे प्रश्न किया, 'क्या आप ही तिलक हैं ?'

'हाँ, मैं ही तिलक हूँ।' तिलक के ये शब्द कानों में पड़ते ही उसने अपनी गठरी ज़मीन पर रखकर, उससे फूलों का एक बड़ा-सा हार बाहर निकाला और उसे तिलक के गले में पहना दिया।

'मैं आज धन्य हो गया। मेरा जन्म सार्थक हो गया।'

माला गले से निकालते हुए तिलक बोले, 'महाराज, मेरे चरण न छुओ। सारा मान-सम्मान प्रभु ईसा का है। मैं तो एक क्षुद्र जीव हूँ।'

महाराज हमारे घर रहने लगे। तिलक के मुँह से निकलने वाले प्रत्येक शब्द को सुनने के लिए चातक की तरह टकटकी लगाए बैठे रहने लगे। तिलक का उनसे बहुत प्रेम हो गया। वे दोनों कभी एक-दूसरे से दूर न होते। तिलक उन्हें ईसाई धर्म के बारे में बातें बताते। महाराज बड़े ध्यान से सुनते। सुनते-सुनते उनका गला रुँध जाता। आँखों से आँसू बहने लगते।

तिलक मुझसे कहते, 'यह मनुष्य साधारण नहीं है। यह आगे चलकर "पौल पेत्रस" की बराबरी का ईसा का शिष्य होगा, क्योंकि इसकी आँखों से जो अश्रु टपकते हैं, वे आँखों के कानों की तरफ़ के कोण से गिरते हैं। सच्ची भक्ति और सच्चे प्रेम का यह लक्षण है।' बेबी भी कहती, 'सचमुच माँ, उनकी आँखों से जो पानी गिरता है, वह आँखों के बाहर वाले कोने से बाहर गिरता है और जो पपा कह रहे हैं, वह मैंने भी कहीं पढ़ा है।' परंतु मुझे किसी भी तरह इन लोगों की बात न जँचती। मुझे पौराणिक महाराज की कथा और बकरा खो जाने के कारण उसके लिए रोने वाले गडरिये की कहानी की याद हो आती।

महाराज यहीं न रुके। उन्होंने धीरे-धीरे हमारी तरह घर में काम करना भी शुरू कर दिया। वह कभी कोई अपशब्द न कहते और न मन में कोई शिकवा-शिकायत रखते। अत्यन्त सज्जन, सीधे और भावुक थे वह। तिलक के साथ भैंस को नहलाते, उन्हें चराने ले जाते, सारे काम बिलकुल घर के आदमियों की तरह वह करते। तिलक की सेवा तो बिलकुल मन लगाकर करते। ठीक उसी तरह सेवा करते जिस तरह प्राचीन काल का

कोई शिष्य अपने गुरु-गृह में किया करता था।

बहुतों का यह ख़याल होता है कि जब कोई ईसाई हो जाता है, तब उसे बहुत रुपए मिलते हैं। परंतु ऐसा एक भी उदाहरण मैं नहीं जानती, जहाँ ईसाई होने के बाद रुपए प्राप्त हुए हों। मिशनरी अथवा ईसाई लोग ग़रीबों की सहायता करते हैं, उसीका यह अर्थ लगा लिया जाता है। परंतु सहायता करना ईसाई धर्म का महत्त्वपूर्ण भाग है।

हमारे महाराज की भी यही धारणा थी। एक दिन शाम को प्रार्थना के बाद महाराज ने धीरे-से पूछ-ताछ शुरू की।

'आपके कितने बच्चे हैं ?'

'यह तो आपको मालूम ही है।'

'उन्हें आप कहाँ तक पढ़ायँगे ?'

'जहाँ तक वे पढ़ेंगे।

'पर, आखिर कोई योजना तो बनाई ही होगी न ?'

'बी० ए० तक और चाहें तो इंग्लैंड, अमेरिका भी जा सकते हैं।'

महाराज के मुँह में पानी भर आया। उन्होंने धीरे-से एक शगूफा छोड़ दिया।

'परंतु महाराज एक ग़रीब औरत है उसके दो लड़कियाँ हैं। पढ़ने की उनकी बड़ी इच्छा है। मैंने आज तक उन्हें बहुत-कुछ मदद की है। अब मैंने उन लड़कियों को एक संस्था में रख दिया है। लड़कियाँ अत्यन्त बुद्धिमती हैं। इन दोनों पर कम-से-कम पचास रुपया महीना खर्च पड़ता है। मैंने दस रुपयों का प्रबंध कर दिया है। अब आप चालीस रुपया महीना दीजिए। आप दो लड़कों को इंग्लैंड और अमेरिका भेजकर उनके सफ़र और उनकी पढ़ाई का खर्च उठा सकते हैं। मान लीजिए कि दो की जगह आपके तीन बच्चे हैं। बस, इतनी सहायता कर दीजिए।'

तिलक बोले, 'महाराज, मुझे अपने दो बच्चों की पढ़ाई ही में मुश्किल हो रही है। मैं क्या मदद करूँ ? चाहो तो उन लड़कियों को यहाँ लाकर रख दो। फिर देखेंगे कि क्या प्रबंध हो सकता है। परंतु निकालकर देने के

लिए रुपए ही मेरे पास नहीं हैं।'

'परंतु मैं खुद कुछ भी नहीं चाहता। मैं आपको उन लड़कियों का पता देता हूँ। आप सीधे उन्हींको भेजते जाइए। जब कि दो लड़कों के लिए आप खर्च कर सकते हैं, तब एक-दो लड़कियों के लिए और करने में क्या हर्ज है? अथवा उनके नाम इतना रुपया जमा कर दीजिए, जिससे उस रकम पर उन्हें हर महीने चालीस रुपया व्याज मिलता रहे।'

आगे, महाराज निराश होकर चल दिए। वह फिर तिलक की मृत्यु के बाद सन् १९२० में मुझसे खास तौर पर मिलने आए थे। उस समय उनके सिर पर पगड़ी थी और उन्होंने उन दो लड़कियों में से एक के साथ स्वयं विवाह कर लिया था और दो-चार बच्चों के बाप भी बन गए थे। उन्होंने मुझसे कहा कि लोकमान्य तिलक ने हमारा यह विवाह करा दिया। अब सच और झूठ भगवान् जाने।

एक बार बंबई के स्टेशन पर तिलक को एक तरुण ब्राह्मण मिला। उसके कोई न था। बुद्धि तीव्र थी, पर वह सूरत-शक्ल में भड़भूँजे से भी बदतर था। तिलक बाबा जी को घर ले आए और उन्होंने उसे मेरे सुपुर्द कर दिया। उसका जनेऊ कालभैरव के गंडे की तरह दिखाई दे रहा था और बीड़ी के धुएँ से दाँत बिलकुल काले पड़ गए थे। सारे बदन पर खुजली हो रही थी। मैंने पानी गरम किया और नौकर से उसे अच्छी तरह रगड़वाकर बिलकुल स्वच्छ करा दिया। बाद में उसे तिलक के कपड़े पहनने को दिए और उसे अच्छा स्वरूप दिया। तिलक उसे बहुत लाड़ करते थे। वह उन्हें 'पपा' और मुझे 'ममा' कहता! वह था ब्राह्मण और हम थे ईसाई! भोजन करते समय उनके मन में तरह-तरह के विचार उठते। बड़ी और बैंगन की सब्ज़ी बनती, तो वह कहता कि यह 'मटन' है और थाली पर से उठ जाता। अलसी की चटनी परोसती, तो कहता कि यह मछली की चटनी है और थाली एक ओर सरका देता। फिर तिलक उसे चार-छह आने दे देते और वह बाहर जाकर कुछ खा आता। आगे चलकर तिलक कहने लगे कि उसे मेरे ऑफ़िस में मेरे सामने खाना परोसा करो। मैं राज़ी

हो गई और उसे ऑफिस में परोसने लगी। उसे दिन में कम-से-कम चार-पाँच बार चाय की ज़रूरत होती। वह भी मैं देती। इसके अलावा वह तिलक से पैसे माँगकर बाहर भी चाय पी आता, सो अलग से। तिलक अपने वेतन के खज़ाने से—डॉक्टर ह्यूम से—रुपए-पैसे लाकर ऐसे लोगों को देते रहते। कभी-कभी डॉक्टर ह्यूम भी पैसे देने से इन्कार कर देते, क्योंकि तिलक प्राय: पूरा वेतन पहले ही उठा चुकते थे। फिर चुपचाप रद्दी बेचकर वह इस अतिथि के लिए खर्च करते। सात-आठ दिन के सारे अखबारों को बेच देने से सहज ही में चार-छ: आने मिल जाते।

अस्तु। ये नए चिरंजीव बड़े डरपोक थे। हमारे सारे घर बिना किराये के थे। वह तीन ब्लाकों की एक 'चाल' ही था। उसके एक ब्लाक के पिछले कमरे में इन चिरंजीव की व्यवस्था कर दी गई थी। उसके नज़दीक वाले कमरे में जलाने की लकड़ियों का संग्रह था। वहाँ जाकर, उस कमरे से लकड़ियाँ लाना नौकरों को अखरता, क्योंकि जब से चिरंजीव ने वहाँ डेरा डाला था, तब से उस कमरे से बड़ी दुर्गन्ध आने लगी लगी थी और कमरे के भीतर घुसते ही पैर भीगते थे। इन चिरंजीव ने वहाँ द्वार ही में नाली बना ली थी। और उस नाली का पानी लकड़ियों के नीचे पहुँच गया था।

तिलक से शिकायत करती, तो वह कहते, 'तुम आदमी को नहीं निभा सकतीं।'

अब क्या करें? बड़ी मुश्किल हो रही थी! अंत में एक दिन मैंने उससे कहा—'दादा तुम्हें रात को अगर डर लगता है, तो राणू को जगा लिया करो। वह तुम्हारे नज़दीक ही तो सोता है। पास ही एक लालटेन भी जलती रहती है। उसे उठाकर ले जाया करो। पर यह कैसा आलस्य है? और फिर यदि कुछ हो जाय तो तुम ऊपर से शिकायत करने को तैयार रहते हो!'

मेरी इस बात पर दादा झल्ला उठे। उनका अपमान हो गया था। दूसरे दिन उन्होंने दरवाज़े में ताला लगा लिया। तिलक बाहर गये थे।

लकड़ियाँ नहीं थीं। वह द्वार के पास डटा हुआ लड़ने लगा। ताला खोलने नहीं देता था। वह कहता, 'तुम मुझे बेटा कहती हो और कितना पक्षपात करती हो? दत्तू के लिए कितने कपड़े और बूट हैं। और मेरे लिए कुछ नहीं।'

'अरे बावा, उसे स्कूल जाना पड़ता है। उसकी तरह तुम भी स्कूल जाओ, तो तुम्हें भी वही कपड़े मिलेंगे।'

'यह मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। जैसा नया बूट तुम उसके लिए लाई हो, वैसा एक जोड़ा बूट मेरे लिए भी लाना चाहिए। क्या ऐसे भी माँ-बाप होते हैं कहीं?'

'बिलकुल नहीं। ऐसे माँ-बाप बिलकुल नहीं होते और ऐसे चिरंजीव भी कहीं नहीं होते। दत्तू को यदि कल मैं एक चाँटा मार दूँ, तो उलटकर वह मुझसे एक शब्द भी न कहेगा और तुम खुद मुझे ही कुछ कहने नहीं देते। यदि तुमसे केवल "तू" ही कह देती हूँ तो तुम्हारा अपमान हो जाता है। अँग्रेजी की सातवीं कक्षा तक पढ़ चुके हो और फिर भी तुममें इतनी भी अक्ल नहीं? चलो लाओ दो ताली।

'मैं ताली नहीं दूँगा। मैं तुम्हें नहीं पहचानता।'

'अच्छा, तो मैं भी तुम्हें नहीं पहचानती। तुम खाने के लिए न आना।'

'मैं खाने को नहीं आऊँगा। मुझे अपना खाना यहीं मिलेगा।'

'अच्छा, देखती हूँ कैसे तुम्हें यहीं खाना मिलता है?'

'देख लेना।'

तिलक के घर आने पर उनके कानों में ये सब शिकायतें पहुँचीं। उसने तिलक से कहा—

'आपके लिहाज़ से मैं चुप रहा। वरना ऐसा अपमान मैं किसी के द्वारा भी सहन नहीं करता। मैंने अपनी माँ को भी जूतों से पीट दिया होता, फिर इनकी क्या औकात?'

तिलक को उस दिन बंबई जाना था। उन्होंने उससे बंबई की तैयारी करने के लिए कहा। उन्होंने उसे वहीं कहीं किसी काम पर लगा देने का निश्चय किया था। चिरंजीव ने अपने कपड़े, बिस्तर आदि सब सामान—खुद का तो कुछ था ही नहीं, जो था वह सब हमींने दिया था। सब लोगों को बाँट दिया। रात को बारह बजे की गाड़ी से जाना था—पर 'फंड' में पैसे न थे। तनख्वाह का बैंक बंद हो गया था! झाड़-पोंछकर जितने रुपए इकठ्ठे हुए, उनसे सिर्फ़ एक आदमी ही बंबई पहुँच सकता था। परंतु तिलक भयंकर आशावादी थे। स्टेशन पर मिल जायँगे, यह उन्हें पक्का विश्वास था। तिलक के परम पूज्य मित्र राव साहब उन्हें स्टेशन पर मिल गए। उन्हें भी बंबई जाना था। रात के करीब बारह-साढ़े बारह बजे थे। तिलक ने राव साहब से याचना की। राव साहब ने कहा, 'मेरे पास मेरी आवश्यकता-भर ही के लायक रुपए हैं।' राव साहब को कविता का बड़ा शौक था, परंतु कविता से रुपया थोड़े ही पैदा होता है। आख़िर गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आकर खड़ी हो गई। तिलक और राव साहब गाड़ी में बैठे। चिरंजीव नीचे ही रह गए। गाड़ी चलने लगी। तिलक ने उससे लौट जाने के लिए कहा। उस गड़बड़ में वह उनसे ताँगे के लिए पैसे माँगना भी भूल गया। स्टेशन से दो-तीन मील घर तक पैदल आने के लिए मजबूर हुआ।

ठंड के दिन थे। आधी रात गुज़र चुकी थी। अँधेरी रात होने के कारण चारों तरफ गहन अंधकार छाया हुआ था। साथी कोई नहीं था। ताँगे आते, पर एकदम निकल जाते। पुल के नीचे नदी किनारे एकाध लाश जलती दिखाई देती। पहले ही से बाबा डरपोक था और अब तो हृदय में धड़कन होने लगी। जैसे-तैसे फर्ग्युसन गेट के फाटक में आकर खड़ा हुआ ही था कि कुत्ता दौड़कर उस पर टूट पड़ा। राणू बरामदे में सोया था। उसने समझा कि शायद कोई चोर होगा। वह लाठी लेकर दौड़ा। देखा तो चिरंजीव थे।

'तुम कैसे आ गए जी ?'

'आ गए भाई, माँ को न जगाना।'

दूसरे दिन राणू ने वताया कि मेहमान लौट आये। मैंने कहा, 'आ जाने दो। उससे तुम लोग कोई वात ही न करना।' सवने नित्य-नियमानुसार अपने-अपने काम पूरे किये और नाश्ता कर लिया। उसे किसी ने पुकारा तक नहीं। इसी समय वह स्वय भीतर आया।

'ममा, मैं आ गया।'

'आ गए ? अच्छा हुआ ! अव मैं घर की मालकिन हूँ। तिलक घर में नहीं हैं। तुम मेरे कोई समधी या दामाद नहीं हो। मैं तुम्हारी अकड़ न चलने दूँगी।'

उसने मेरी फटकार चुपचाप सुन ली।

'यह पानी का वायलर है, यह चाय का डिव्वा है, यह शक्कर का है, यह सव तुम अपने विस्तर के पास रख लो। यह वायलर जलाओ और झोंक दो सव उसमें। चाय की तलव लगे तो पड़े-पड़े मुँह में नली लगा लेना। मैं तुम्हारे आतिथ्य-सत्कार में न लगी रहूँगी।

'आज से तुम्हें घर के सव काम करने होंगे। मैं ही अव मेहमान की तरह रहूँगी, क्योंकि मैं चाहे जो करूँ, वह तुम्हें पसंद नहीं आता।

'बड़ी और बेंगन के साग में तुम्हें 'मटन' के टुकड़े दिखाई देते हैं और लहसुन की चटनी में तुम्हें मछली-जैसी वू आती है। मेरा ख़याल है कि तुम जन्म के ब्राह्मण ही नहीं हो, क्योंकि इन चीज़ों का संशय ही कभी ब्राह्मणों को न होगा। इनका स्वाद लेने वालों ही में से तुम कोई एक होगे।

'जान पड़ता है कि तुम्हारी यह धारणा हो गई है कि हम लोग चाहे जो खाते हैं। दूसरी धारणा यह हो गई है कि तुम जो कहते हो, उसे तिलक मान लेते हैं। परंतु तुमने अभी तक तिलक को पहचाना नहीं है। यदि वह नाराज़ हो जायँ, तो तुम्हारी हड्डी-पसली एक कर देंगे।'

मेरे इस दत्तक चिरंजीव पर मेरी इस दवा की गोली ने ज़रूरत से ज़्यादा असर किया। वह एकदम मेरे चरणों में गिर पड़ा।

'लक्ष्मीबाई, पैर पड़ता हूँ। मुझे माफ़ कर दो!'

और तब से वह सचमुच घर के अन्य लोगों की तरह रहने लगा। आगे चलकर उसे अच्छा काम मिल गया। तिलक ने उसे बपतिस्मा दिया। उसका विवाह भी करा दिया। उसकी पत्नी का जापा मैंने किया। उसे पत्नी अत्यन्त सुशील मिली और उसकी संतान भी गुणी निकली।

बालकवि की स्मृतियाँ[1]

जलगाँव में सन् १९०७ के मार्च महीने में मराठी का पहला कवि-सम्मेलन हुआ था। यदि यह कहें कि यह सम्मेलन कराने में प्रायः तिलक ही अगुआ थे, तो कोई हर्ज नहीं। पर, हाँ इस अधिवेशन में जो कुछ कर्ज वगैरह हुआ, वह सब 'काव्य-रत्नावली' के उत्साही संपादक श्री० नारायण नरसिंह फडणीस ही ने चुकाया होगा।

तिलक के एक कवि-मित्र थे। नाम था कर्नल कीर्त्तिकर। जलगाँव के इस कवि-सम्मेलन के वे अध्यक्ष थे। वह डॉक्टर थे और कई लड़ाइयों में हो आए थे। कर्नल कीर्त्तिकर तिलक को जब पत्र लिखते, तब उसमें मेरे बारे में हमेशा 'एवर डाइंग वाइफ़ ऑफ़ युअर्स' लिखा करते, क्योंकि मुझे हमेशा कुछ-न-कुछ बीमारी होती ही रहती और मैं हमेशा बिस्तर पकड़े रहती। बिस्तर कहने के बदले यदि ज़मीन कहूँ, तो अधिक उचित होगा, क्योंकि, मेरी लोट-पोट ज़मीन पर ही हुआ करती। यद्यपि भूमि मेरी शय्या होती, फिर भी, सिरहाने के लिए सिर्फ़ भुजा ही से काम न चलता था। सिरहाने के लिए मैं क्या ले लूँगी, इसका कभी कोई नियम न रहता। डमरू-नुमा पायली (अन्न नापने का पात्र), चक्की का खूँटा, सूँघनी तंबाकू की डिबिया—सारांश यह कि जो भी हाथ लग जाता, मेरे सिर-

---

१. त्र्यंबक बापूजी ठोंबरे (१८९०–१९१८) प्रतिभावान् मराठी कवि। आपने बहुत सुंदर प्रकृति-गीत लिखे हैं।

हाने पहुँच जाता। अस्तु।

'ईसाई नागरिक' नामक अखबार के १५ मार्च १९०७ के अंक में छब्बीस कवियों के इस सम्मेलन के बारे में तिलक ने संवाद-पत्र के रूप में एक बड़ा लेख लिखा है। उससे यह दिखाई देगा कि ठोंबरे को 'बालकवि' कहकर सर्वप्रथम तिलक ही ने संबोधित किया। वह ठोंबरे के विषय में लिखते हैं—

'उन्हींमें कुमार त्र्यंबक बापूजी ठोंबरे नामक तेरह-वर्षीय बालकवि का आशु-कवित्व एकत्रित लोगों को सुनने को मिला। उसकी शुद्ध, सुगम और रसभीनी कविता सुनकर, किसे न लगा होगा कि कवित्व-शक्ति ईश्वरीय देन है। हिन्दुस्तान में ऐसे कितने बालकवि, कितने बालसाधु और कितने बालवीर उत्पन्न होते होंगे और आगे चलकर व्यर्थ जाते होंगे! उनकी खोज करके उन्हें प्रगल्भ-दशा तक पहुँचाने का काम कौन करे? हम भारत-पुत्र ही न? अस्तु। ईश्वर इस बालक से हमारे देश की पूर्ण रूप से सेवा कराये! हम लोग तो अभी वाक्-शूरता और लेखनी-वीरता दिखाने ही में उलझे हुए हैं?'

इस सम्मेलन का कार्य यहीं समाप्त हो गया। परंतु इस सम्मेलन ने मराठी साहित्य के लिए दो बहुत बड़े काम किए। एक तो बालकवि ठोंबरे को आगे बढ़ाया और दूसरे 'अभिनव काव्यमाला' की कल्पना को जन्म दिया। आगे चलकर तिलक पूना गए और वहाँ श्री० न० चिं० केलकर इत्यादि लोगों की सहायता से 'अभिनव काव्यमाला' शुरू की गई।

ठोंबरे के लिए तिलक आकुल थे। उन्हें चैन नहीं पड़ता था। इस बालक को पढ़ने के लिए किसी विद्यालय में जाना चाहिए और इसे कुछ शिक्षा मिलनी चाहिए, ऐसा कुछ न होना चाहिए, जिससे इसकी काव्य-शक्ति घट जाय, इसलिए उन्होंने कर्नल कीर्त्तिकर से ज़ोरों का पत्र-व्यवहार शुरू किया। कर्नल कीर्त्तिकर धनी थे और तिलक के मित्र भी थे। उन्होंने ठोंबरे को दस रुपया माहवार देना स्वीकार किया। पर एक शर्त रख दी कि ठोंबरे अहमदनगर जायँ और वहाँ तिलक की देख-रेख में

उनकी शिक्षा हो। ऐसा ही हुआ और ठोंवरे नगर आए।

एक दिन ठोंवरे अकेले ही आए। उसके पिछले दिन हमेशा की आदत के अनुसार तिलक किसी दूसरे शहर को चल दिए थे। मैं, जैसा कि ऊपर लिख चुकी हूँ, वीमार थी। जाते समय तिलक मुझसे कह गए थे कि वाल-कवि आने वाले हैं। उनका अच्छा प्रवंध करना।

उस दिन 'ईसा मसीह का जन्म-दिन' था। करीव दस वजे थे। मैं सोई हुई थी। लड़के गिरजाघर गए थे। घर में किसी का पता न था। नौकर-चाकर, पड़ोसी आदि सभी देवालय गए थे। उसी समय ठोंवरे आए। मैंने पूछा—

'क्या आप ही ठोंवरे हैं ?'

'जी हाँ !'—उन्होंने कहा।

'वैठिये ! लड़के वाहर गए हुए हैं। आने पर वे आपको भोजनालय ले जायँगे। यदि हमारे घर दूध, फल वगैरह आप ग्रहण कर सकते हों, तो मैं देती हूँ।' ठोंवरे ने कोई आनाकानी न करके दूध और केले ले लिए।

थोड़ी देर के वाद दत्तू आया। उसके साथ उसके कुछ मित्र भी थे। वे ठोंवरे को भोजनालय में ले गए। आगे वह भोजन के लिए वहीं जाने लगे। रहते हमारे ही घर थे। एक-दो दिन के वाद तिलक आए। वह वाज़ार जाकर 'कॉडलिवर ऑइल' ले आए और उन्होंने ठोंवरे को ताकत-वर वनाने का निश्चय किया।

ठोंवरे जिस दिन आए थे, सिर्फ उसी दिन मैंने उनके लिए आदर-सूचक सर्वनाम का प्रयोग किया था, लेकिन तुरंत ही हमारे वीच का परायापन जाता रहा। मैं उसे 'तू' कहकर पुकारने लगी और उसकी भी खिन्नता एक दिन में विलुप्त हो गई। उसे यह खयाल था कि मैं न जाने कहाँ जाकर पड़ूँगा। उसकी यह भावना थी कि ईसाई लोग कोई राक्षस या भूत होते होंगे। और उसने यह वात आगे चलकर हमसे कई वार कही भी। परंतु एक-दो दिन ही में उसे यह विश्वास हो गया कि हम लोग मनुष्य हैं और ऐसे अच्छे मनुष्य हैं कि उसे अच्छे लगेंगे। दत्तू और उसकी तुरंत

गाढ़ी मैत्री हो गई। उसी तरह दत्तू के मित्रों से भी उसकी घनिष्ठता हो गई। ठोंबरे घर के लड़कों की तरह ही रहने लगा।

वह जब आया, तब मैं लेटी हुई थी। उसीसे मैंने कहा—'बेटा, उस अलमारी को खोलो और दूध निकाल लो—'उसने दूध प्याले में ले लिया और पीकर प्याला वहीं रख दिया। तब मैंने उससे फिर कहा—'बेटा, यह प्याला उठाकर जहाँ-का-तहाँ रख आओ!' इस पर वह आगे चलकर मेरा हमेशा मजाक उड़ाया करता। कहता—'लक्ष्म्बाई, तुम्हारे घर अगर पंचम जार्ज आ जायँ, तो उनसे भी तुम कहोगी—'बेटा, जाते वक्त ज़रा फाटक लगाते जाना!'

परंतु मेरे उसे 'तू' कहकर पुकारने के कारण एक दिन बड़ा अनर्थ हो गया। मुझे कहते सुनकर लालाजी भी उसे 'तू' कहकर संबोधित करने लगे। ठोंबरे दत्तू की उम्र का था। भले ही बड़ा कवि हो, आखिर था तो वह बालकवि ही। देवरजी को शायद यह लगा हो कि इस स्थिति में उसे 'तू' कहकर पुकारने में क्या हर्ज है। एक दिन लालाजी बाहर आए। वहाँ ठोंबरे बैठा था। उन्होंने उससे शायद 'ठोंबरे, इधर आ,' या ऐसा ही कुछ कह दिया। वह उनकी बात न सुनकर सीधा रसोईघर में मेरे पास आया। मैं रसोई बना रही थी। वह मेरे सामने आकर बैठ गया।

'लक्ष्मुम्बाई मुझे तुम्हारे देवर का वर्ताव बिलकुल पसंद नहीं। यह कहाँ के बड़े तीसमारखाँ हैं? सब मेरी इज़्ज़त करते हैं। तिलक भी मुझ-से कभी 'तू' नहीं कहते फिर इन्हें ही मुझसे इस तरह क्यों पेश आना चाहिए? मैं उन्हें अभी जाकर खूब डाटता हूँ।'

'अरे भैया तू उनसे जाकर कुछ न कह। क्या मैं नहीं कहती तुझसे "तू"?"

'तुम्हारी बात दूसरी है। तुम मेरी माँ के स्थान पर हो। तुमने मेरे लिए कष्ट उठाया है। मेरी बीमारी में वह आए थे क्या कोई काम करने? कौन हैं वे?'

'वह मेरे देवर हैं। मेरी खातिर ही कम-से-कम उनसे कुछ न कह…'

ये बातें हो ही रही थीं कि देवरजी घर में मेरे पास आए। अपनी भाभी

से ठोंवरे लड़ रहा है और वह उसे समझा रही है! यह क्या मामला है, वह कुछ समझ न पाए। उन्होंने ठोंवरे से पूछा—'क्या हो गया रे?' ठोंवरे और झल्ला उठा।

लालाजी वोले—'ठोंवरे, मैं विलकुल सहज भाव ही से "तू" कह रहा था। अव आगे कभी नहीं कहूंगा। मुझसे भूल हो गई। मैंने नहीं सोचा था कि तुम इतने नाराज़ हो जाओगे!'

और उस दिन से वह उसके लिए आदर-सूचक सर्वनाम का प्रयोग करने लगे।

मैं भी उससे 'तू' और 'तुम' के वदले 'आप' कहने लगी। परंतु वह मुझसे सधता न था और ठोंवरे को वह अच्छा न लगता था। वह एक दिन मेरे पास आकर वैठ गया—'लक्षुम्वाई, अव कितने दिन यह चलेगा? तुम एक वार मुझे अपने द्वारा दिये गए नाम से तो पुकारो!'

मैंने कहा—'हट वेवकूफ!' फिर वह हँस पड़ा और मैं भी हँस दी। मुझे जव वड़े प्रेम से उसे वुलाना होता तव उसे मूर्ख या वेवकूफ़ कहती और उस दिन मेरे द्वारा दी गई पदवी को जव उसने मेरे मुँह से कहलवा लिया, तव उसे संतोष हुआ।

हमारे घर आने के वाद ठोंवरे को विषम-ज्वर हो गया था। चालीस दिन वह लगातार तड़पता रहा। उस समय तिलक का पैसा, मेरी और श्री रामभाऊ धर्माधिकारी की मेहनत, सोरावजी की दवा और भगवान् की दया, इन सवके कारण वह वच गया और महाराष्ट्र को उससे इतना लाभ पहुँचा। उस समय मुझे रात-रात-भर नींद न आती थी। उसका सव-कुछ मुझीको करना पड़ता और इसलिए उसका और उसकी माँ का मेरे प्रति एक निराला ही स्नेह-भाव था। उसकी माँ कहती—'लक्ष्मीवाई, नाना मेरा नहीं, आपका है। आप थीं, इसीलिए, उसका पुनर्जन्म हुआ।'

घर में वह विलकुल घर की तरह—दत्तू की तरह रहता। तिलक की अपेक्षा वह मेरे ही पीछे अधिक रहा करता। तिलक के सामने आता, तो वड़ी गंभीरता प्रकट करने की कोशिश करता।

कविता लिखता उसकी पहली श्रोत्री में होती। मैं इधर नौकरानी को कुछ काम बताती, अथवा किसी से बातें करती, तो इधर वह अपनी कविता सुनाने की जल्दी मचा देता। और अगर वह यह देखता कि मेरा ध्यान उसकी कविता की ओर नहीं है, तो क्रोध से वह उस कविता को मेरे सामने ही फाड़ डालता। फिर दत्तू और बेबी उसे चिढ़ाते—

—अरसिक किती हा मेला
हा कविता फाडुनि बाहिर गेला[1]—

फिर वह हँसता और उस कविता को फिर से लिख डालता। ठोंबरे को कविताएँ फाड़ डालने का बहुत शौक रहा होगा। क्योंकि, नगर में आने से पहले की अपनी प्रायः सभी रचनाएँ इसी तरह उसने फाड़ डाली थीं। उनमें की कुछ कविताएँ उसे याद थीं, उन्हें वह सुनाता। एक 'किनारी वाला' शीर्षक कविता थी। एक में यह कल्पना थी कि शिला पर चाँदनी पड़ रही है। वह इतनी सफेद और स्वच्छ है कि मृग-छौने उसे दूध समझकर चाट रहे हैं। अहमदनगर आने पर ठोंबरे हाई स्कूल में पढ़ने जाने लगा। शायद वह तीसरी या चौथी कक्षा में था। वहाँ दत्तू भी हाई स्कूल ही में था। ठोंबरे विद्यालय से लौटता, तो मेरे पीछे पड़ जाता कि मैं उसे कहानी सुनाऊँ। मैं उसे कहानियाँ सुनाते-सुनाते थक गई। यह तो उसकी रोज ही की माँग थी—लक्ष्मीबाई, कहानी सुनाओ!'

उस समय की एक बात है।

एक दिन मेरी समधिन-यानी हौशी की सास आई थी। उसे जड़ी-बूटियों की दवाओं की अच्छी जानकारी होने के कारण मेरी उससे बड़ी घनिष्ठता थी। उसे कहानियाँ भी बहुत आती थीं। इसके सिवा, जब वह कोई कहानी कहती, तब वह इतनी लंबी होती कि चार-चार घंटों तक चलती रहती।

उस दिन ठोंबरे विद्यालय से लौटते ही मुझसे बोला—'लक्ष्मीबाई,

१, मुआ कितना अरसिक है, जो कविता फाड़कर बाहर चल दिया।

कहानी सुनाओ न ?'

'देख भाई, आज मेरी समधिन आई है। उसे अच्छी-अच्छी वड़ी-वड़ी और लंवी-लंवी कहानियाँ आती हैं। वही तुम्हें कहानी सुनायगी आज !'

मेरे इस समाचार से ठोंवरे को अत्यानंद हुआ।

भोजन के वाद से लेकर सोने के लिए जाने तक उसने वाहर से भीतर और भीतर से वाहर कितने ही चक्कर लगाए।

नित्य की भाँति हम सव एक कतार में सोए। भास्कर, दत्तू, वेवी, मैं, मेरी समधिन, ठोंवरे इत्यादि। लड़कों को मेरी समधिन की कहानियों का पूर्ण अनुभव होने के कारण वे सव मुँह पर चादर ओढ़ ठोंवरे पर हँसते हुए पड़े थे। इधर ठोंवरे इस आनंद में चूर था कि आज मुझे वढ़िया कहानी सुनने को मिलेगी। उसने सवसे पहले झपटकर मेरी समधिन के विलकुल नजदीक ही अपना स्थान सुरक्षित कर लिया। वह विस्तर पर घुटने मोड़कर वैठ गया और कान लगाकर कहानी सुनने लगा। कहानी आरंभ हुई। समधिन कहने लगी—

'सुनो भैया, उज्जैन में एक राजा था। उसकी एक रानी थी और एक लड़की और एक लड़का था। उसकी पहली रानी मर गई। उसने दूसरी स्त्री से विवाह किया। यह दूसरी रानी सौत की संतान को नहीं चाहती थी। उसने वहाना किया कि उसकी आँखें विलकुल विगड़ गई हैं। वह वोली—'मुझसे एक ज्योतिषी ने कहा है कि अगर ये दोनों वच्चे जंगल में जाकर 'त्रास' का कलेजा लावें और मुझे खाने के लिए दें, तो मेरी आँखें अच्छी हो जायँगी।'

'त्रास का कलेजा ? त्रास के कलेजा कहाँ से आया ?' ठोंवरे वोला।

'त्रास का नहीं, भैया, 'तारस' का। राजा ने रानी की वात सुनकर दोनों वच्चों को जंगल में जाने का आदेश दिया। वे निकल पड़े। एक वन पार किया, दो वन पार किए, तीन वन पार किए, चार वन पार किए, पाँच…'

'अजी वाई, उन्होंने हज़ार वन पार किए। पर आगे क्या हुआ, यह तो वताओ !' ठोंवरे वोला।

समधिन ने उत्तर दिया—

'ज़रा ठहरो भैया, ऐसी जल्दी न मचाओ। पाँच वन पार किए, छह वन पार किए, सात वन पार किए। वहाँ उन्हें मिला एक राजहंस। उसने उन पर छाया कर दी। उसने उन्हें एक वृक्ष के तले विठा दिया और उनके लिए एक मकान बना देने का विचार किया। उसने एक समुद्र पार किया, दो समुद्र पार किए, तीन समुद्र पार किए···'

'बाई, मैं मानता हूँ कि उसने सात समुद्र पार किए। परन्तु आगे उन लड़कों का क्या हुआ, यह तो वताओ !'

'ठहरो न भैया ! इस तरह जल्दी न मचाओ। वह पक्षिराज एक तिनका लाया, फिर दो तिनके लाया, फिर तीन तिनके लाया, चार···'

'वाई, ठीक है। उस पक्षी ने तिनकों का पहाड़-जैसा ढेर लगा दिया, पर यह भी तो वताओ कि आगे क्या हुआ ?'

'ठहरो न भैया। यह क्या करते हो ? फिर वह पक्षीराज पत्थर इकट्ठे करने लगा। वह एक पत्थर लाया, दो पत्थर लाया, तीन पत्थर लाया···'

'हाँ, मान लिया कि वह इतने पत्थर लाया कि उनका मेरु पर्वत खड़ा कर दिया। परन्तु आगे उन लड़कों का क्या हुआ, यह वताओ न ?'

समधिन बोली, 'यह क्या भैया, ऐसा क्यों कर रहे हो ? मुझे कहानी कहने भी तो दो···'

ठोंवरे ऊब उठा। उसे नींद आने लगी। परन्तु मेरी समधिन को कहानी कहने का जैसे नशा ही चढ़ गया था। वह पहले पड़े-पड़े ही कहानी कह रही थी, सो अव उठकर वैठ गई।

'भैया, उठो न ! अव क्या है। बहुत थोड़ी-सी ही वची है। उठकर ठीक ढंग से वैठ जाओ न !'

हँस-हँसकर हम सव लोगों के पेट में वल पड़ गए। अंत में ठोंवरे वोला—

'बाई, मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ। अब मुझे सोने दो।' पर समधिन ने उसे तीन बजे तक नींद नहीं आने दी। वह सोता, तो उसे झकझोरकर उठा देती और इस तरह वह उसे पूरी कहानी सुनाकर ही रही। सुबह हम उठे। पर वे दोनों बहुत देर तक सोते रहे। मैं रसोईघर में थी। उठते ही ठोंबरे वहाँ आया और उसने मुझे सच्चे अर्थ में साष्टांग नमस्कार किया।

'लक्ष्मुबाई, दोनों हाथ जोड़कर साष्टांग नमस्कार करता हूँ तुम्हें, तुम्हारी समधिन को और उसकी उस कहानी को। तुम्हारी यह समधिन बड़ी भारी उपन्यास-लेखिका होने वाली थी, पर न जाने कहाँ किसी मक्खी ने छींक दिया।'

हमारे लिए उस रात का यह बिना पैसों का नाटक आगे चलकर कितने ही महीने मनोरंजन का साधन बना रहा।

'मासिक मनोरंजन'[1] के दिवाली-विशेषांक में 'करंज्यांतील मोदक'[2] शीर्षक मेरी एक कविता प्रकाशित हुई थी। वह कविता बहुतों को अच्छी लगी। विशेषत: नीचे लिखी पाँच पंक्तियाँ बहुत अच्छी लगीं—

किति हिंद कन्यका वेड्या ! ह्या म्हणा
ह्या किति पावती थोड्या शिक्षणा
ह्या करवी रचवी माझ्या कल्पना
जरि राहूं वेड्या अशाच आम्हीं बाई !
करुं वेड्या इतरां ! यांत न संशय कांहीं…[3]

---

१. मराठी भाषा में प्रकाशित होने वाला एक सुप्रसिद्ध मासिक-पत्र, जो अपने समय में अत्यन्त लोकप्रिय था। अब वह नहीं निकलता।

२. 'गुजियों में बना हुआ मोदक'। गुजियाँ बनाते समय एक मोदक बनाने की प्रथा है।

३. तुम कितना ही कहो कि हिन्दू-कन्याएँ पागल हैं और वे कितनी कम पढ़ी-लिखी हैं। पर यही तो मेरी कल्पनाओं की रचना करती हैं। क्योंकि मैं भी तो उन्हीं-

गुजियों के साथ एक छोटा-सा मोदक बनाना ही चाहिए। पूरण अथवा गुड़ की रोटियाँ बनायँ, तो उनमें एक गुजिया बननी ही चाहिए, पापड़ बनायँ तो उसमें एक लोई बिना बेले ही रख देनी चाहिए। हिंदू स्त्रियों की जो यह प्रथा है, उसका रहस्य इस कविता में बताया गया है। मैं पापड़ बेल रही थी और दत्तू आते-जाते लोइयाँ हड़पता जाता था। अंत में सब पापड़ बेल चुकने पर एक लोई बच गई। उस पर उसकी नज़र थी। मैं उसे वह नहीं लेने देती थी। तब उसे मैंने इस सबके पीछे जो नीति है, वह बताई और यह कविता बन गई। इस पर तिलक के हाथ की सफाई है ही।

इस कविता के प्रकाशित होने के बाद मुझे पंढरपुर से एक महिला का पत्र मिला। उसमें यह प्रश्न किया गया था कि—

मोदक बहु गोड असे आकारहि सुबक साधला बाई !
तव भर्त्याचें त्याला साह्य नसे का कथीं भला ताई ![1]

यह पत्र पढ़ने पर मुझे पहले तिलक पर बड़ा क्रोध आया। यह मुझे व्यर्थ ही प्रसिद्धि देते रहते हैं और फिर मेरी ऐसी फ़जीहत होती है ! परन्तु मेरी इस क्रोधाग्नि की आँच तिलक को लग कैसे सकती थी ? वह वहाँ उपस्थित ही कहाँ थे ? दूर कहीं जाकर 'ईसायन' महाकाव्य लिखने के इरादे से वह हाल ही में वाई के पास भुइंज में जाकर रहने लगे थे। मुझे कविता ने तंग कर डाला। मेरा मन करने लगा कि पंढरपुर के पत्र का उत्तर कविता ही में दूँ। अपनी सबसे अधिक ख्याति-प्राप्त 'पति-पत्नी' शीर्षक कविता मैंने उन्हीं दिनों लिखी। यह कविता विशेषतः रात को अँधेरे में सूझती।

में से एक हूँ। भई, हम तो इसी तरह पागल बनी रहेंगी और दूसरों को भी पागल बनायँगी, इसमें सन्देह नहीं।

१. मोदक बहुत मीठा बना है। उसका आकार भी बड़ा सुंदर सधा है। पर बहन, मुझे यह बताओ कि इसके बनाने में क्या तुम्हारे पति की सहायता तुम्हें नहीं मिली है ?

पंक्तियों के बाद पंक्तियाँ मस्तिष्क में आतीं। उन्हें मैं खड़िया-मिट्टी से धरती पर लिख लेती। अगर कभी पास में क़लम न होती तो दियासलाई की सींक ही दावात में डुबाती और क़लम के बदले में उसे काम में लाती। सुबह ठोंबरे मेरी रात की बेगार को काग़ज़ पर उतार लेता। इस तरह करते-करते पौने तीन सौ पंक्तियों की कविता तैयार हो गई।

वह कविता एक तीखे पत्र के साथ मैंने तिलक को भेज दी। ये दोनों चीज़ें अभी तक दत्तू ने सँभालकर रखी हैं।

हमारे घर में उस समय सभी कविता लिखा करते थे। इस कविता में **'वर्षे झालीं साठ वयाला, सखा पतीचा माझा गाउँ लागला'**[1] वाली जो पंक्ति है, वह राव साहब को लक्ष्य करके लिखी गई है। राव साहब रोज़ हमारे घर आते। रोज़ उनका काव्य-गायन हमें सुनना पड़ता। ठोंबरे की तरह उनकी भी मैं ही श्रोत्री होती।

एक दिन राव साहब आये। उन्हें तिलक को एक ज़रूरी पत्र लिखना था। दत्तू ने उन्हें दावात और क़लम ला दी और वह और ठोंबरे दोनों उनके पास बैठ गए। राव साहब पत्र लिखते-लिखते वह जो लिख रहे थे, उसे पढ़ते और प्रत्येक वाक्य के अंत में प्रश्नार्थक 'ऊँ' कहते। मुझे 'हूँ' कहना पड़ता। पत्र बहुत लंबा था। दत्तू और ठोंबरे हँसते। अंत में उनसे हँसी न रोकी गई, इसलिए वे दोनों उठकर बाहर चले गए। राव साहब के ध्यान में यह बात न आई। परंतु मेरे ध्यान में आ गई। वह 'ऊँ' कहते तो मुझे 'हूँ' कहना पड़ता। फिर लड़कों के चले जाने पर मुझे भी हँसी आने लगी। पत्र समाप्त हुआ। अब पता! मैंने दत्तू और ठोंबरे को भीतर बुलाया, 'अरे लड़को, उस पर ज़रा पता तो लिख दो।' और लड़के बैठ गए। एक पता लिखने लगा।

'रैवरेंड। ऊँ ?'

दूसरे ने कहा, 'हूँ !'

---

१. मेरे पति के मित्र, जिनकी उम्र साठ वर्ष की हो चुकी है, कविता गाने लगे।

'नारायण। ऊँ ?'

'हूँ।'

'वामन। ऊँ ?'

'हूँ।'

'तिलक। ऊँ ?'

'हूँ।'

'अमेरिकन मिशन। ऊँ ?'

'हूँ।'

'भुइंज। ऊँ ?'

'हूँ।'

'जिला। ऊँ ?'

'हूँ।'

'सतारा। ऊँ ?'

'हूँ।'

पता लिखा गया। राव साहब पत्र को जेब के हवाले करके चल दिए।

रात को यह 'ऊँ' और 'हूँ' का मज़ाक़ याद आने पर मुझे अपने-आप ही हँसी आने लगी। लेकिन फिर बहुत बुरा लगा। राव साहब वय में और विद्या में हमसे कितने श्रेष्ठ हैं! और हम उनका उपहास करें!

दूसरे दिन यही बात हुई। ठोंबरे और दत्तू घर की छत पर बैठे थे। नीचे भास्कर और बेबी खड़े थे। राव साहब आये। छत पर चढ़ने के कारण वे उन दोनों को डाँटने लगे। ठोंबरे उनका मज़ाक उड़ाने लगा। दूसरे लड़के भी उसका साथ देने लगे। राव साहब को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने भीतर आकर मुझसे सारा हाल कहा।

मैं बाहर आई और ठोंबरे को नीचे बुलाने लगी। परंतु उसका भी कोई प्रभाव न हुआ। फिर राव साहब की उस दिन की कविता सुनने लगी। इधर ठोंबरे भोजनालय में खाने के लिए चल दिया।

दत्तू और बेबी पर मैं बहुत बिगड़ी, 'तुम लोग राव साहब का मज़ाक

करते हो, यह मुझे बिलकुल पसंद नहीं। यह मैं कभी बरदाश्त न करूँगी। यदि फिर कभी ऐसा किया, तो खूब पीटूँगी। मैं ठोंबरे से भी कहूँगी, आने दो उसे खाना खाकर। उससे आज कोई भी बिलकुल न बोले।'

रात को हरएक अपने-अपने बिस्तर पर बिलकुल चुपचाप पड़ा था। नौ बजे ठोंबरे खाना खाकर लौटा। यह देखकर कि सब तरफ़ शान्ति छाई हुई है, वह ताड़ गया कि आज का वातावरण कुछ भिन्न है। फिर भी वह हरएक के बिस्तर के पास गया। उसने हरएक से बोलने की कोशिश की। ज़ोर-ज़ोर से हँसकर देखा। पर कोई उसकी तरफ देखता तक न था। वह खिन्न हो गया। वह समझ नहीं पाता था कि यह मामला क्या है।

फिर वह मेरे सामने आकर बैठ गया।

'लक्ष्मीबाई, यह क्या मामला है ? मैं यह कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ।'

'भैया रे, हमने यह इरादा किया है कि जब तक तुम अपनी भूल स्वीकार नहीं करोगे, तब तक तुमसे कोई नहीं बोलेगा।'

'मुझसे क्या भूल हो गई ?'

'बड़े-बूढ़ों का मज़ाक उड़ाने की। यदि मज़ाक करना है, तो अपनी उम्र के लोगों से करना चाहिए। तुम हमें कितने अच्छे लगते हो ! यदि तुम्हें कोई बदनाम करता है, तो हमें कितना बुरा लगता है, यह शायद तुम नहीं जानते। राव साहब का मज़ाक उड़ाने पर क्या वह तुम्हें अच्छा लड़का कहेंगे ? यदि उन्होंने तुम्हें बुरा कहा, तो क्या वह मुझे अच्छा लगेगा ? और तुम मुझे जितने अच्छे लगते हो, उतने ही राव साहब भी अच्छे लगते हैं। इसलिए जब तक तुम यह वचन नहीं देते कि भविष्य में तुम अपने से बड़ों से कभी मज़ाक़ न करोगे, तब तक हम कोई भी तुमसे बात नहीं करेंगे।'

ठोंबरे बालकवि था। परंतु कवि से भी वह बाल अधिक था। मेरी बात सुनकर उसे इतना बुरा लगा कि उसका प्रतिबिम्ब उसके चेहरे पर

और आँखों में उमड़ उठा। उसकी आँखों से आँसू टपकने लगे।

'लक्ष्मीवाई, तुम्हारे चरणों की शपथ खाकर कहता हूँ कि आज से किसी भी वुजुर्ग का मैं अपमान न करूँगा!'

फिर मैंने उसे छाती से लगा लिया। मुझे भी सिसकी आई। और वाल-स्वभाव वाला ठोंवरे फिर हँसने-खेलने लगा।

परंतु उस दिन से उसने कभी किसी का अपमान न किया।

मैंने एक सामाजिक उपन्यास लिखना शुरू किया था। लिखते-लिखते कोई-कोई संयुक्ताक्षर मुझे बीच ही में रोक देता। किसी पुस्तक को उलट-पुलटकर जब मैं वह शब्द कहीं देख लेती, तब मेरी गाड़ी फिर रास्ते पर आ जाती। एक दिन इसी तरह मेरा उपन्यास-लेखन खूब ज़ोरों से चल रहा था कि बीच ही में घोड़े अड़ गए। मुझसे 'मनुष्य' लिखते न वनता। जितनी किताबें उस समय मेरे पास थीं, उन सबको मैंने छान डाला, परंतु 'मनुष्य' कहीं मिलता न था। मैं चिंताकुल वैठी हूँ, आस-पास पुस्तकें अस्त-व्यस्त पड़ी हैं, घर में काम बुला रहा है—ऐसे समय ठोंवरे घर में आये। यह सारा दृश्य देखकर वे वोले—

'लक्ष्मीवाई, आप ऐसी क्यों वैठी हैं? क्या आपको किसी चीज़ की ज़रूरत है?'

'क्या करूँ रे, मुझे ज़रूरत है मनुष्य की। इतनी उथल-पुथल की, परंतु वह कहीं नहीं मिलता।'

ठोंवरे मेरे सामने सीने पर हाथ रखकर खड़े हो गए।

'क्यों इतनी उथल-पुथल करती हो। यह देखो। यह खड़ा है मनुष्य। और ज़रूरत हो, तो ज़रा वाहर आओ। चाहे जितने मनुष्य दिखा सकता हूँ। कोई कमी नहीं। अजी, सारी दुनिया में मनुष्य ही मनुष्य हैं। मनुष्यों की क्या कमी?'

'अरे, मुझें दुनिया के मनुष्य नहीं चाहिएँ। मुझे पुस्तक के मनुष्य की ज़रूरत है।

फिर हम दोनों खूब हँसे। ठोंवरे ने मुझे 'मनुष्य' शब्द लिखकर दिखा दिया।

एक दिन मैंने ठोंवरे से अपना वह उपन्यास पढ़ने को कहा। उसने वह पढ़ा और उस पर नीचे लिखी सम्मति लिखी —

सम्मति—यह उपनयास मैंने संप्रुण पढ़ा। ऐसा उपनयास समूची महाराष्टर भाशा में दुसरा नहीं मीलेगा,

त्रिवक वापूजी टोंवरे
आहामंदनग्र
तारीख पंदरा, ज्यून उन्नीस सौ
कल

वि ग्या प न

नाम लिखाओ	**नाम लिखाओ**	**नाम लिखाओ**
अपूरव गंथ्र	अपूरव गंथ्र	अपूरव गंथ्र

यह अव सर फिर नहीं मीलेगा।

उपर्युक्त सम्मति का पृष्ठ आज भी मेरे पास है। उपन्यास का कोई नाम नहीं रखा था। परन्तु ठोंवरे ने उस पर मोटे अक्षरों में 'लक्षुम्वाई का उपन्यास' नाम दे दिया था। वह पृष्ठ काल के उदर में विलीन हो गया है। उस वात को आज इक्कीस वर्ष हो गए। अव मैं वहुत ही अच्छा लिख लेती हूँ। परन्तु उस समय का मेरा लिखना वच्चों के लिए मज़ाक का एक विषय था।

वेवी को पूना की 'हुज़ूरपागा' पाठशाला में भरती कराया था। पहले-पहले उसे घर की वहुत याद आती और वह चाहती कि घर से उसके पास वड़े लम्वे-लम्वे पत्र आयँ। उसके हर पत्र में लंवे पत्र की माँग रहती। दत्तू कालेज में पढ़ता था। घर पर मैं और ठोंवरे, दो ही थे। इसलिए उसकी वह इच्छा पूरी करने का भार केवल हम दोनों ही पर पड़ता।

एक दिन वेवी का पत्र आया। लिखा था कि तुम्हारे पास से मेरे पास

लंबा पत्र नहीं आया, इसलिए एक लम्बा-चौड़ा पत्र भेजो। उस समय मैं और ठोंबरे घर में थे। उस पत्र का ठोंबरे ने उत्तर लिखा। कागज़ था चार छह अंगुल चौड़ा। कागज़ से कागज़ चिपकाकर, वह इतना लंबा बना दिया गया था कि खोलने पर वह बेबी से सिर से पैर तक की लंबाई का हो जाए। पत्र वह था।

कहानी

अहमदनगर फर्ग्युसन गेट
तिलक का घर
मझघर
मटके के पास, चक्की के नज़दीक,
छोटा-सा बिस्तर, उस पर सोई हुई
लक्ष्मीबाई के सिरहाने के पास,
तारीख ३-३-१९१४

अनेकोत्तम आशीर्वाद। लिखना यह है कि 'आटपाट' नगर था। वहाँ एक महाशय थे। उनके एक लड़की थी। वह कहती कि उसे खूब लंबा-चौड़ा पत्र भेजा जाय। लंबा-चौड़ा पत्र। लिखना नहीं था, पर लिखा। कैसे लिखें, क्या लिखें? मार्च का महीना, तीसरी तारीख, खिचड़ी पकाई जाय, सादी रोटियाँ, मक्खन से बना घी, फिर खाना खावें, नौकर को बर्तन साफ करने को दें, कमरे में ताला लगायँ, कुछ फटी-सी दरी बिछाएँ, फटी-सी चादर ओढ़ें, एक बज रहा है, थोड़ा लेट लें। ऐसा करने से क्या होता है? शरीर और मन शान्त होता है, लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा जाता है।

सुनो, सुनो ताराबाई अपनी कहानी। पूना शहर, 'हुजूरपागा' हाई-स्कूल, बोर्डिंग में, कुछ मंगोलियन, कुछ बर्मी, कुछ जापानी, कुछ इंडियन, आधी रोटी, पूरा प्याज़ भिखारिन को दिया और ताराबाई ने जन्म लिया।

अरब का मुल्ला, तुर्कस्तान का काज़ी, ग्रीस का सिपाही, रूस का रूसी, कोंकण में गया, भूरा हो गया, आँगन में आया, लड़खड़ाकर गिर पड़ा। ज़ोर से रोया। सबने देखा। नहाया-धोया। उठो बाबा, बड़े हो। बाबा बड़ा हुआ।

नागपुर शहर, हिस्लाप कालेज, इंटर क्लास में पढ़ने लगा। ऐसी बहन, ऐसा भाई, त्रिभुवन में खोजा, देखा-भाला, थक गया, निराश हो गया। घर का खावें, दूसरे के काम में दखल कौन दे ? जिसे काम न धंधा, ऐसा काम वही करेगा।'

बेबी ने एक कविता लिखी थी। उसकी पहली पंक्तिथी—"माझी मांजर, माझी मांजर' (मेरी बिल्ली, मेरी बिल्ली)। यह बिल्ली इंजीनियरिंग विभाग से दत्तू के मित्र प्रधान ने बेबी को ला दी थी। नीचे उसी बिल्ली का वर्णन है—

'इंजीनियरिंग विभाग में बिल्ली ने बच्चे दिए। उसके तीन बच्चे हुए। एक कुत्ता खा गया। एक को बिल्ली ले गई। उठो भैया, प्रधान से कहो—'ताराराानी को बिल्ली चाहिए।' कैसी चाहिए, क्या चाहिए, रोगी, दुखी, मिचमिची आँखों वाली, दुबली-पतली टाँगों वाली, ताकधिनाधिन नाचने वाली ? प्रधान ने दी चपरासी के हाथ में, बजाओ रे नगारे, ऐलान करो रे नगर में तारारानी की बिल्ली आई ! तारारानी की बिल्ली आई ! अब कहाँ रखूँ ? कहाँ ले जाऊँ ? रहूँ कहाँ ? मेरी बिल्ली, मेरी बिल्ली। सिर पर रखूँ या कंधे पर रखूँ ? क्या लेकर पलंग पर जाऊँ, या सो जाऊँ ? दो तश्तरी दूध पीती है, दो मुट्ठी गोश्त खाती है, दूध दुहते वक्त ऊधम मचाती है, दूध की बाल्टी में जान देती है। पर चूहा देखकर भाग जाती है, बेचारे झींगुरों की हत्या करती है। मेरी बिल्ली, मेरी बिल्ली। बन्या बाबा का हाथ नोंचती है, चंपी पर दाँत निकालती है, बलैकी पर फुसफुसाती है। हट् हट् रे पापी चांडाल, मेरी बिल्ली का खाना तू कहाँ ले चला ? म्याऊँ, म्याऊँ ! बन्या ने दिया, बनी ने खाया। कितना भी खाय,

फिर भी काफी नहीं होता, गरीवी जाती नहीं, लालच मिटता नहीं।
हमारे हाथ का शिकार करती है, साड़ी और धोती के पल्ले पकड़
लेती है। गोटें विखेरकर घर-भर में फैला देती है। अव कहूँ कितना,
गुण समाप्त नहीं होते। वर्णन किये विना रहा नहीं जाता। अभी देख
लो, पत्र फाड़ डाला। नया कागज जोड़ा, तो आगे लिख सका। वेवी
पुराण न लिखना चाहिए था, पर लिखा। कैसे लिखें, क्या लिखें?
कहानी का यह अंत पत्र का क्या अंत? वह पत्र मुझे सुनाओ, गुपचुप-
गुपचुप वताओ। क्या है तेरे मन में, कह दे मेरे कान में। तेरे मन की
मैं जान गया। लंबा-चौड़ा पत्र। पत्र के वहाने दावात मिली, कलम
मिली, लंबा-चौड़ा पत्र लिखने का शौक पूरा हुआ।

वेवी अपने कान आगे वढ़ा। यह देख, फागुन लग ही गया है। पागल की तरह वाजा बजाने की इज़ाजत माँगने की क्या ज़रूरत है? रोज़ मनमाना वाजा वजाती रह। सव लोगों की इजाज़त है।

कहानी विलकुल पुरानी स्त्रियों की कहानी की तरह ताल में और ठसक में वनी थी। उसी पत्र में उसने 'कार्ला' की गुफाएँ देखने जाने की इजाज़त माँगी थी। वह इजाज़त देकर आगे कार्ला-पुराण है। वह कहानी और वह पद्यबद्ध पुराण दोनों को मिलाकर एक पुरुष के वरावर ऊँचाई का वह पत्र हो गया था।

हमारे घर रहते समय ठोंवरे हमेशा प्रसन्न, विनोद-प्रिय और आशा-वादी रहता था। परन्तु जब वह नगर छोड़कर कहीं वाहर जाता, तव उसकी मन:स्थिति वदल जाती थी। लौट आने पर उसका वाल-स्वभाव भी लौट आता। नगर से वाहर वह खानदेश या पूना जाया करता था। आगे चलकर काम के निमित्त वह महावलेश्वर जाने लगा। परन्तु उस समय तक उसके स्वभाव में स्थिरता आ गई थी। जव वह महावलेश्वर जाने लगा था, तव उसके स्वभाव में यह अस्थिरता नहीं रह गई थी।

एक दिन वह खानदेश से लौटकर आया और आते ही मुझसे लड़ने

लगा।

'तुम लोग मुझसे प्रेम क्यों करते हो ? इसका कारण बताओ।'

'तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आती।'

'तुम समझोगी ही नहीं, क्योंकि उसमें रहस्य ही ऐसा है।'

ठोंवरे, मैं तेरे रहस्य-वहस्य को कुछ नहीं जानती। किसी के कहने से, कोई प्रेम नहीं करता और न कहने से, कोई प्रेम करने से रुकता नहीं।'

'नहीं, इस प्रेम की जड़ में दूसरा ही हेतु है।'

'कौन-सा हेतु है रे भैया ? मुझे तो कुछ भी नहीं दिखाई देता।'

'नहीं है न ? नहीं है न ? फिर तुम मुझे दूध पीने को क्यों देती हो ?'

'ठोंवरे, मुझे तो भैया, तेरी बात का कुछ मतलब ही समझ में नहीं आता।

'तुम जानती हो, समझती हो ! यह सब इसलिए हो रहा है कि मैं ईसाई हो जाऊँ !'

'ठोंवरे, तू अगर ईसाई हो जाय, तो मुझे खुशी ही होगी, क्योंकि मैं स्वयं ईसाई हूँ और ईसाई हो जाने से आत्मिक उन्नति होती है, ऐसा मेरा विश्वास है। परन्तु यह कहना कि सिर्फ़ इसीलिए मैं और तिलक तुझसे प्रेम करते हैं, ग़लत है। क्योंकि जो प्रेम किसी हेतु से किया जाता है, वह प्रेम ही नहीं है, नाटक है। तेरे लिए हमने जो कष्ट उठाया और जो उठा रहे हैं, यदि उसे स्वयं तू ही नाटक समझ रहा हो तो बात दूसरी है। क्या तू समझता है कि यह नाटक है ? किसने भर दिया यह पागलपन तेरे दिमाग में ?'

ठोंवरे शान्त हो गया और पहले की तरह रहने लगा।

एक बार ठोंवरे इसी तरह पूना से वापस आया था। हमारे मझघर में रस्सी का झूला बँधा था। उस पर वह आकर बैठ गया। मैं वहीं रसोईदारिन से कुछ कह रही थी। ठोंवरे झूले पर बैठा हुआ झूले की रस्सी को बल दे रहा था। बल पड़ जाने पर झूला उसके साथ घूमता था। बल निकल जाता,

और फिर वल पड़ने लगता। उसकी वातचीत भी इसी तरह वलदार थी।

'कुल्हाड़ी का वेंट जड़ के लिए संकट का कारण होता है।'

'इसका क्या मतलव है रे ?'

'मतलव यह है कि वेंट पेड़ ही का होता है। परन्तु जब वह कुल्हाड़ी में लग जाता है, तव उससे पेड़ की जड़ें भी काटी जा सकती हैं।'

'इसका क्या अर्थ ?'

'इसका अर्थ यानी तुम।'

जिस तरह उस झूले में वल पड़ गया था, उसी तरह ठोंवरे के मन में भी। मैंने कहा, 'ठोंवरे, तुम्हारी राय में हम वेंट हैं, यही न ?'

'हाँ, वेशक।'

'और जड़ें तुम हो, यही न ? और कुल्हाड़ी कौन है रे भैया ? तुम्हारी उन रूढ़ियों की हमने अवहेलना की, यह तुम कैसे सहन कर सकते हो ?'

परंतु मैं जो कह रही थी, वह अपने स्वभाव के अनुसार सव हँसते-हँसते ही कह रही थी।

उसका पारा अधिकाधिक चढ़ रहा था। वह कहता, 'मैं इतना नाराज़ होता हूँ और यह क्या वात है कि तुम पर उसका कुछ भी असर नहीं होता। तुम हँस रही हो।'

मैंने कहा, 'अरे भैया वह झूला है न ? जितने तुम उसमें वल दे रहे हो, उतने वल पड़ रहे हैं। उन वलों को निकालना भी तुम्हारे ही हाथ में है। मेरे मन में कोई वल नहीं पड़ा है, इसलिए मैं हँस रही हूँ, तुम वल निकाल डालो, तो तुम भी हँसने लगोगे।'

ठोंवरे हमें अपने पुत्र की तरह प्रिय लगता और उसे भी हमारे प्रति उतना ही प्रेम था। आगे चलकर उसने विद्यालय छोड़ दिया और वह पंडित का काम, यानी यूरोपियनों को मराठी पढ़ाने का काम करने लगा। इस कारण उसे कभी पूना और कभी नगर में रहना पड़ता। गरमियों में वह हमेशा महावलेश्वर जाने लगा।

ठोंवरे जो रुपए कमाकर लाता, उन्हें मेरे पास लाकर रख देता। एक

वार नगर में रहते समय मैंने उसके रुपयों में से थोड़े-थोड़े बचाकर, पचास रुपये जमा किये। परंतु बीच ही में तिलक की किसी फ़िजूल-खर्ची के कारण मुझे इन पचास रुपयों को भरकर वह गड्ढा पूरा कर देना पड़ा।

मैंने ठोंबरे से कहा—

"ठोंबरे मैंने तुम्हारे पचास रुपए बचाये हैं। उन्हें मैं खर्च कर दूं क्या? मुझे कर्ज़ चुकाने के लिए उनकी ज़रूरत है।'

'खुशी से खर्च करो!'

'मैं उन्हें कब लौटा सकूंगी, यह मैं नहीं कह सकती। पर लौटा दूंगी, यह पक्की बात है। और इस बीच अगर मैं मर गई, तो तुम दत्तू से ले लेना। और तुम्हें यदि उनकी तत्काल ज़रूरत हो, तो मुझे कम-से-कम एक महीना पहले खबर दे देना, जिससे मैं इंतज़ाम कर लूं।'

'अभी तो तुम उन्हें खर्च करो, फिर वापस कैसे लिये जायें, यह बाद में देखेंगे।'

इसके बाद ठोंबरे पूना गया। थोड़े दिन के बाद पूना से उसका छोटा भाई बाबू आया और रुपए माँगने लगा। बोला, 'मुझे खानदेश जाना है और मुझे इसी समय रुपए चाहिएँ।' मैंने कहा, 'तिलक घर पर नहीं हैं। अभी तनख्वाह नहीं मिली है। तनख्वाह मिलते ही रुपए भेज दूंगी।' परंतु बाबू सुनता न था। वह कहता, 'मुझे अमृतराव ने भेजा है और जल्द रुपए ले आने के लिए कहा है।' अमृतराव ठोंबरे के बड़े भाई थे। मैं कहती, 'बाबू, अगर मेरे पास रुपए होते, तो क्या मैं न दे देती?' इस पर बाबू गुस्सा होकर चला गया।

बाबू सुबह आया था। दोपहर को चला गया। शाम की गाड़ी से ठोंबरे आया। वह रास्ते-भर रोता हुआ ही आया। दत्तू घूमने जा रहा था। उसे ठोंबरे गर्दन झुकाए स्टेशन के रास्ते से पैदल आता हुआ दिखाई दिया। दत्तू भी लौट पड़ा।

ठोंबरे को देखते ही मैंने कहा, 'ठोंबरे तिलक के आते ही मैं रुपए भेज दूंगी।' ठोंबरे सिसकियों के बीच बोला, 'लक्ष्मीबाई मैंने बाबू को रुपए

लाने के लिए भेजा ही न था। मेरे अनजाने ही उसने यह काम किया। मैं तुम्हारा समाधान करने आया हूँ। मुझे जब इसका पता चला, तो पूना में मुझसे एक क्षण भी न रहा गया। मुझे रुपयों-पैसों की कोई तंगी नहीं है।'

ठोंबरे अपनी कविताओं को जितने प्रेम से सुनाता, उतने ही प्रेम से दूसरों की कविताओं को भी सुनाता था। उसे अगर कोई कविता पसंद आ जाती, तो उसके प्रति उसके मन में परायेपन का भाव कभी न रहता और उसके कवित्व का यही सच्चा मज़ा था। कोई-कोई कवि ऐसे होते हैं कि जहाँ दूसरों की कविता देखी कि उनकी नाक-भौं सिकुड़ जाती है।

ठोंबरे को तिलक की कविता बहुत अच्छी लगती थी और 'वनवासी फूल' को तो वह इतनी अच्छी तरह से समझाकर सुनाता था कि उस आनंद का वर्णन वही लोग कर सकते हैं, जिन्होंने वह कविता प्रत्यक्ष उसके मुँह से सुनी हो। एक बार ठोंबरे ने तिलक की कक्षा को उनकी 'वनवासी फूल' नामक कविता पढ़ाई और तिलक भी विद्यार्थियों के बीच बैठे सुनते रहे। प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो मार्गों पर ठोंबरे का भाषण सुनकर, तिलक इतने आनंद-विभोर हुए कि उन्होंने भाषण समाप्त होते ही ठोंबरे को हृदय से लगा लिया।

एक बार तिलक दौरे पर गये थे। दत्तू कालेज में और बेबी पूना में थी। ठोंबरे को मिल गए एक ज्योतिषी। उन्होंने ठोंबरे से कहा, 'दुर्घटना से तुम्हारी मृत्यु होगी और तुम आज ही मरोगे!' यह सुनकर, ठोंबरे सीधा रसोईघर में आकर चूल्हे के पास बैठ गया और मुझसे बोला—

'लक्ष्मीबाई, मुझसे आज एक ज्योतिषी ने कहा है कि दुर्घटना से मैं आज मर जाऊँगा।'

'अरे, ज्योतिषी झूठे होते हैं। चाहे जो बक देते हैं। तू अब बाहर जाना ही मत!'

'परंतु मुझे जाना ही पड़ेगा। वह भविष्यवाणी झूठी कैसे होगी?'

जब उसने भविष्य-वाणी सच करने का अपना इरादा प्रकट किया, तब मैंने अपने हाथ का काम वहीं छोड़ा और जाकर उसके पास बैठी रही।

दत्तू के मित्रों को भी बुलवा लिया और उन्हें कहला भेजा कि आज सोने के लिए वे हमारे ही घर आ जायँ। दो रुपए की मिठाई मँगाई। समूची रात मनोरंजन संगीत, गप्पों आदि में जागते हुए बिता दी और वह दिन और वह रात टलने तक ठोंवरे को अपनी नज़रों से अलग न होने दिया। भविष्य-वाणी उस समय झूठ निकली परंतु आगे पाँच वर्षों के बाद वह सच निकली।[1]

तिलक को कहीं साँप या चूहा दिखाई दे जाता, तो उन पर वीरता सवार हो जाती। उन्होंने बड़े-बड़े साँप मारे हैं। परंतु चूहे उन्हें बहुधा झाँसा दे जाते। एक बार एक साँप चूहा निगलकर कुंडली मारे बैठा था। तिलक ने धीरे से उसे एक बर्तन से ढाँक दिया और उसके आस-पास कंडे रखकर आग लगा दी। वणी में रहते समय एक बड़ा साँप अटारी पर चढ़ आया था। तिलक जहाँ बैठे थे, वहीं एक खिड़की थी। उसी खिड़की से घुसकर वह भीतर आया था। उनका एक विद्यार्थी भी उस समय उनके सामने बैठा हुआ था। उसने कहा, 'गुरुजी बहुत बड़ा साँप आया है।' साँप दो संदूकों के पीछे जाकर छिप गया। तिलक ने दो तरफ दो दिये जलाकर रखे और बीच में संदूक पर जाकर खड़े हो गए। उन्होंने मूसल से साँप को दबा दिया और उसका काम तमाम कर दिया। सवा पुरुष लंबा वह साँप था। ऐसे साँप उन्होंने और दत्तू ने कितने ही मारे थे। परंतु चूहे उनके हाथ न लगते। रात को कहीं 'खट' की आवाज़ होती तो तिलक जाग उठते और फिर उन्हें नींद आना मुश्किल हो जाता। यह 'खट' की आवाज़ बहुधा चूहों ही की होती। फिर क्या पूछना? सारे घर में एक हंगामा-सा मच जाता। दिये जला दिये जाते! लाठियाँ इकट्ठी हो जातीं! सोये हुए लोग जाग पड़ते। खिड़कियों और दरवाज़े बंद कर दिए जाते। एक दरवाज़े में लड़का खड़ा होता, दूसरे दरवाज़े में लड़की, खिड़की में ठोंवरे, दूसरी तरफ पत्नी और बीच में तिलक लाठी घुमा रहे होते! मैं

---

१. एक रेल-दुर्घटना में ठोंवरे की मृत्यु हो गई थी।

घबरा जाती। मैं कहती, 'अजी सँभालना, किसी का सिर न फोड़ देना।' वह कहते, 'क्या तुम समझती हो कि मैं पागल हो गया हूँ ?' इधर शिकारी रंग पर आता और उधर जहाँ चूहा दरवाज़े के पास आता कि लड़के धीरे से दरवाज़ा थोड़ा-सा खोल देते। फिर हाथ से शिकार निकल जाने पर शिकारी की जैसी स्थिति होती है, वैसी उनकी हो जाती।

'दत्या, तूने भगा दिया चूहा।'

'नहीं पपा, वह अभी उस दरवाज़े में दिखाई दे रहा था।'

इस तरह की बहस और कुछ उठा-पटक होने के बाद, बची हुई रात में इस परिश्रम से थक जाने के कारण हमें अच्छी नींद आती।

हमारे फर्ग्युसन गेट कम्पाउंड के यानी घर के पिछवाड़े के नज़दीक ही गाँव की चहारदीवारी थी। यह दीवार चाँदबीबी की याद दिलाने वाली थी और उसमें से ऐसे सर्प बाहर निकला करते, जिन्होंने निज़ामशाही का इतिहास देखा था।

एक दिन मुझे ऐसा आभास हुआ कि मेरे सिरहाने कुछ हिल रहा है। मैं तिलक से लगातार कह रही थी 'अजी, कोई मेरा सिर लगातार उठा रहा है। मुझे ज़रा दियासलाई तो दे दीजिए।' दियासलाई का भंडार तिलक के पास रहा करता। वह कहते, 'चुपचाप सोती रहो! तुम बड़ी शक्की हो। अपना सिर तुम खुद ही उठा रही हो।' इस बहस ही में हमें नींद आ गई।

दूसरे दिन तिलक अपने विद्यार्थियों और दत्तू के साथ डोंगरगण गये थे। घर में मैं और बेबी ही थे। बेबी को किसी ने एक चाबुक खेलने को दिया था। वह उसीमें मस्त थी। दूसरा कोई काम न होने के कारण मैं घर की सफ़ाई करने लगी थी। हम ज़मीन ही पर सोते थे। कमरा साफ करते-करते संदूक के पीछे देखा तो एक बड़ा भारी साँप!

उसका मुँह मेरे पैर के अँगूठे के पास था! मैंने वह संदूक एक ओर सरका दिया और चूल्हे के नज़दीक मंजुलाबाई के पास जा बैठी। मेरे मुँह से शब्द नहीं निकलता था। मैं अपना सिर दबाये बैठी रही। 'एक बड़ा साँप

निकला है।' यह मैं कहने लगी। उसने समझा कि मैं कोई कहानी कह रही हूँ। वह निश्चिंत होकर सुनने लगी।

थोड़ी देर के वाद तिलक, दत्तू और भास्कर आदि डोंगरगण से लौटकर आए। मैं उनसे साँप के वारे में वात करने लगी। हर एक मुझे वेवी का चावुक दिखाकर हँसने लगा। मैं जी तोड़कर कहे ही जा रही थी। तव तिलक उठे और बोले, 'दिखाओ तुम्हारा साँप कहाँ है?' तिलक के वाद दत्तू उठा और वे दोनों खोजने लगे। वह साँप अलमारी के पीछे दत्तू को दिखाई दिया। 'यह देखिए पपा, कितना वड़ा साँप है?' दत्तू वोला। फिर तो सव तरफ दौड़-धूप शुरू हो गई। लाठियाँ, छाते, दिये, जो कुछ हाथ लगा, वह लेकर लोग इकठ्ठे होने लगे। भास्कर अपनी ऐनक सँभालता हुआ सव लोगों के कंधों पर से सूचनाएँ दे रहा था। यह साँप पुरुषभर लंवा था। शायद वही रात को मेरे सिरहाने रहा होगा।

हमारे घर में एक तो पहले ही से प्रसन्नता और विनोद का वातावरण रहा करता। ऊपर से अव ठोंवरे, दत्तू और उसके मित्र भी थे, फिर आनंद और विनोद का क्या पूछना?

छुट्टी के दिन दत्तू और वेवी घर आ जाते। उनके मित्रगण इकट्ठे होते। घर में दिन-भर धूम मची रहती। दोपहर को जादू के खेल होते। शाम को व्याख्यानों का कार्य-क्रम रहता। श्रोताओं की कोई कमी न रहती। तिलक, तिलक से मिलने आने वाले लोग, मैं, मुझसे मिलने आनेवाली स्त्रियाँ, सव दर्शक और श्रोता रहते। इन कार्य-क्रमों में मुख्य भाग होता दत्तू, ठोंवरे और वेवी का। दर्शक इकट्ठे होने से पहले वे लोग क्या-क्या करेंगे, यह तय कर लिया करते। दत्तू और ठोंवरे जादूगर वनते और प्रयोग होते वेवी पर। पीछे एक प्रकरण में वताए गए हमारे दत्तक चिरंजीव भी इसमें शामिल रहते। परंतु वाहर किसी को इसका पता न रहता। वह वैठते विरोधियों में और शंकाएँ-कुशंकाएँ किया करते। और खेल आरंभ होते ही उनके वीड़ी के कश एक-के-वाद-एक खिचते रहते।

इन लोगों ने एक थैली-सी ली थी। उसके भीतर एक उलटा खाना

बना लिया था। इस थैली में डाली गई चीज़ उलटे खाने में पहुँचकर दर्शकों की दृष्टि से विलुप्त हो जाती और जादूगर के खेल से खुश होकर दर्शक तालियों से वातावरण गुँजा देते। दूसरे खेल में एक गेंद ऊपर-ही-ऊपर नचाई जाती। खेल की जगह ढालू छत थी और उसकी दो कमचियाँ आगे बढ़ी हुई थीं। वे नीचे से नहीं दिखाई देती थीं। परंतु वे 'स्प्रिंग' की तरह काम करतीं। लड़के गेंद को उन कमचियों के ऊपर रख देते। पीछे उन कमचियों में से एक कमची से पतला धागा बाँध देते। इस धागे को नज़दीक के कमरे में ले जाते। जब यह धागा ढीला छोड़ दिया जाता, तो जैसे हल्की थपकी मारी जाती हो, उस तरह पीछे से गेंद को धक्का लगता। वह नीचे गिरती। यदि दर्शकों में से कोई गेंद को नीचे गिरने का आदेश देता, तो वह अपना स्थान न छोड़ती। परतु ठोंवरे के कहते ही गेंद कूदकर चट-से नीचे आ जाती! लोग आश्चर्य में आ जाते। भास्कर कहता कि, 'यह सब झूठ है, धोखा है। इसमें ज़रूर कोई तरकीब है।' इस पर ठोंबरे कहता, 'भास्करराव, तुम आकर यहाँ बीचोंबीच खड़े हो जाओ! मैं तुम्हारी ऐनक के काँच को बीच से फोड़ देता हूँ। उसे बिलकुल हाथ नहीं लगाऊँगा। मेरे सिर्फ कहने ही से दोनों काँचों में एकदम दो दरारें पड़ जायँगी।' वैसे यह कोरी धमकी ही रहती। परंतु भास्करराव कहते, 'जादू के खेल किसी को नुकसान पहुँचाने वाले नहीं होने चाहिएँ। जो कुछ तुम्हें करना हो, अपनी थैली और गेंद से करो।'

एक और मज़ेदार खेल था। मन में कोई चीज़ रखना और वेवी से उसे कहलवाना। दत्तू और ठोंबरे उसे निश्चित संकेत कर देते। एक बार दर्शकों ने इन दोनों को बाहर भगा दिया। फिर भी वेवी ने चीज़ का नाम ठीक बता दिया। यह हमारे दत्तक चिरंजीव का काम था। निश्चित चीज़ पर वेवी का हाथ पड़ते ही, वह बीड़ी जलाने के लिए दियासलाई जलाता। परतु उस दियासलाई पर भी दर्शकों को शक हुआ और किसी एक दर्शक ने उसकी दियासलाई ही उठाकर कहीं रख दी। फिर भी चीज़ ठीक पहचान ली गई! क्योंकि, वेवी का हाथ निश्चित चीज़ पर पड़ते ही चिरंजीव की

बीड़ी के धुएँ का गुब्बारा बाहर निकल पड़ा था। यह बेबी को छोड़कर और किसी के ध्यान में नहीं आया।

ठोंबरे मुझसे कहता, 'लक्ष्मीबाई, मेरा जादू कोई मामूली नहीं है। मैं अपने जादू से जो चाहूँ ला सकता हूँ। तुम कहो तो इसी समय दत्तोपंत को नागपुर से लाकर तुम्हारे सामने खड़ा कर दूँ।' मैं कहती, 'जानती हूँ तेरा जादू। फिजूल की गप्पें न मार।' एक बार दत्तू को कालेज गए आठ-दस दिन हो गए थे। शाम को नित्य की भाँति कुछ लोग गप्पें हाँकने के लिए तिलक के पास बैठे हुए थे। ठोंबरे भी आया था। पहले ठोंबरे का भाई बाबू आकर उखड़ी ज़बान से कुछ कह गया था। मुले की बहन भी आकर चली गई थी। ठोंबरे बीच ही में उठकर बाहर गया और घबराता हुआ फिर लौटा। उसका बदन काँप रहा था। माथे पर पसीना आ गया था। मुँह से 'ब-ब-ब-ड़ा-ड़ा-सां-साँ-साँप-फु-स-फु-सा-रहा है,' कह रहा था। मैंने कहा, 'लालटेन लेकर क्यों नहीं गया? बड़ा ही हड़बड़िया है तू!'

ठोंबरे को घबराया हुआ देखकर तिलक ने अपनी बंदूक उठाई। राहुरी के मकान के लिए यह बंदूक खरीदी गई थी। पर वहाँ वह कभी काम में न आती थी। बाड़े में साँप हमेशा निकला करते थे, परंतु आज का शिकार बहुत ही बड़ा था। लालटेन, लाठियाँ, छाते, झाड़ूएँ इत्यादि हथियार लिये हम सब ठोंबरे के पीछे-पीछे चल पड़े। यह गड़बड़ देखकर, अड़ोस-पड़ोस के लोग भी दौड़कर आ गए। बीस-पच्चीस आदमियों का यह दल धीरे-धीरे कदम बढ़ाता हुआ पाखाने की ओर चला। तिलक बोले, 'कहाँ है साँप?' ठोंबरे ने कहा, 'बीच के पाखाने में।' पाखाने के भीतर से "खड़-खड़" आवाज़ आने लगी। टीन के पाखाने थे वे।

यह देखकर कि साँप की हलचल से पाखाने का टीन बज रहा है, कुछ लोग एक-दूसरे से सटे और कुछ लोग धीरे-धीरे पीछे हटे। तिलक ने बंदूक तानी। इसी समय खट-से दरवाज़ा खुला और भीतर से दत्तू बाहर आया।

ठोंबरे बोला, 'लक्ष्मीबाई, देखा, दत्तू को किस तरह जादू से ले आया?'

'चल हट, शरीर कहीं का? अभी बंदूक दग जाती, तो कैसा अनर्थ

हो जाता ?'

'अजी लक्ष्मीबाई, पर हम अनर्थ कैसे होने देते ?'

हँसी के खूब कहकहे लगे और जब रात के बारह बजे तब लोग अपने-अपने घर जाने लगे।

दत्तू कालेज गया ज़रूर था, परंतु वहाँ जाने पर प्लेग के कारण कालेज बंद हो गया था। उसने अपने मित्रों को इसकी खबर दे दी थी और ऐसा कुछ खेल करने का उन्होंने पहले ही तय कर लिया था। शाम को वह आया, तो अपने घर न आकर, सामान के साथ सीधा मुले के घर चला गया। वहाँ यह तय हुआ कि भोजन आदि से निबटकर, वह अपने घर जाय और वहाँ वह जादू से निकाला जाय। परंतु यह बात बाबू ठोंबरे के पेट में न रही। वह हमारे घर आया और कुछ उखड़ी ज़बान में कह गया।

'आज अच्छा खाना पकाओ। भाऊ आएँगे।'

मैंने पूछा, 'तुम यह कैसे कह सकते हो ?'

'यह मैं नहीं जानता। परंतु मुझे ऐसा लग रहा है।'

इतनी गड़बड़ करके उधर वह लड़कों के पास गया। तब ठोंबरे को पता चला कि बाबू ने क्या बहादुरी कर डाली है। बाब्या, तिलक के घर गया था क्या ? क्यों गया था रे वहाँ ?'

इसके बाद ठोंबरे ने मुले की बहन को तिलक के घर यह पता लगाने के लिए भेजा कि वहाँ कहीं यह तो नहीं मालूम हो गया है कि आज दत्तू आ रहा है। वह गई और लौटकर आई। उसने कहा, 'वहाँ तो किसी को इसका कोई पता नहीं जान पड़ता।' फिर भी यह सोचकर कि बाबू की 'चतुराई' के कारण मैं शायद अपने काम में पूर्ण सफलता प्राप्त न कर सकूँ, उसने दत्तू को जादू से बाहर निकालने का अपना इरादा ऐन वक्त पर बदलकर उपर्युक्त प्रकार से साँप का बहाना किया।

हमारे घर नाना प्रकार के लोग आए और चले गए। परंतु ठोंबरे-जैसा कोई न था। वह कभी-कभी लड़ पड़ता, फिर भी उसमें कपट न था, द्वेष न था, स्वार्थ न था। वह स्नेहमय, मिलनसार, प्रसन्न, विनोदी और

कुछ शरारती भी था। कम-से-कम हमारे घर तो उसका बचपन हमेशा बना रहा। जब वह आता, तब हमेशा कुछ मज़ेदार बातें होतीं। धींगा-मुश्ती, पेड़ पर चढ़ना, छत पर चढ़ना, छत पर कूदना, झगड़े, सब घर में कागज़ के टुकड़े फैला देना, कविताएँ लिखना, उन्हें पढ़कर सुनाना, उन्हें अगर किसी ने ध्यान से न सुना तो चिढ़कर फाड़ डालना और फिर हँसना, कहानी लिखना, उन्हें पढ़कर सुनाना, दूसरों की कविताओं को अपनी कविताओं ही की तरह उत्साह से सुनाना, कुछ मज़ेदार कविताएँ हों तो उनका मज़ाक उड़ाना, घर में सभाएँ करना, जादू के खेल दिखाना, भास्करराव की ऐनक पर नज़र रखना, मेरी लिखावट की हँसी उड़ाना, रात को जब आँगन में सोना तब तारे गिनना, उन्हें अलग-अलग बाँट देना, अगर बँटवारा ठीक न हुआ तो फिर झगड़ना, घर में चारों ओर चीज़ें फैला देना, मेरे नाराज़ होने पर फिर उन्हें समेटने लगना, तिलक के सामने गंभीर चेहरा बनाकर बैठ जाना—इत्यादि उसकी कितनी ही छोटी-बड़ी स्मृतियाँ आँखों के सामने मूर्त्त होती हैं और मन उद्विग्न हो जाता है।

ये आता घेवटचे हे
अश्रु दोन पिऊन
पांखरा येशिल कधीं परतून[1]

---

१. अब आ। और ये अंतिम दो आँसू पी ले। हे पंछी, अब फिर लौटकर जब आयगा ?

नई गृहस्थी

दत्तू बी० ए० में था, उस समय की बात है। उसका कालेज खुलने में अभी चार दिन बाकी थे। घर के सामने एक लुहारिन रहती थी। वह मुझसे बोली, 'कोई आदमी आकर, घर का सुराग ले गया है। ज़रा होशियार रहना!'

हमारे कब्ज़े में तीन 'ब्लाक' थे। तीनों एक-दूसरे से सट हुए थे, इसलिए वह एक 'चाल'-सी दिखाई देती थी। एक ब्लाक से दूसरे ब्लाक में जाने के लिए भीतर से दरवाज़े थे, इसलिए एक ब्लाक से दूसरे ब्लाक में जाने के लिए बाहर से जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी।

पत्नी की मृत्यु के बाद रामभाऊ ने अपनी लड़की के साथ हमारे ही घर डेरा डाल दिया था। इसके सिवा, और भी दो-चार लोगों ने अपने बर्तन तथा दीगर सामान मेरी निगरानी में घर में रख दिया था। मैं कहती, 'भगवान् मेरा सामान चाहे खो जाने दे, चोरी करा दे, तोड़-फोड़ दे, पर दूसरों का सुरक्षित रहने दे!' तिलक मुझ पर हमेशा बिगड़ते। कहते, 'किसने कहा है तुमसे दूसरों की यह सब बेगार सँभालने को?'

अस्तु। उस रात हम बारह बजे तक जागते रहे। सुबह जब मैं उठी, तब आगे के दरवाज़े से ठीक पीछे के दरवाज़े तक गई। पीछे के दरवाज़े के सामने ज़मीन गीली दिखाई दी। मैंने कहा, 'देखो, ये औरतें किस तरह पानी बरबाद करती हैं, और फिर पानी के लिए हाय-हाय मचाती हैं।' और कुछ आगे बढ़ी, तो ऐसा दिखाई दिया जैसे किसी ने पालना औंधा

करके वहाँ रख दिया है ! औंधा पालना देखकर मेरा कलेजा काँप उठा। मुझे वह बड़ा असगुन-सा प्रतीत हुआ। यह सोचकर कि किसी ने जान-बूझकर ही मेरे घर के सामने यह टोना किया है, मैं और आगे बढ़ी। देखा तो वह पालना नहीं था, बल्कि किसी ने चौखट-सहित खिड़की को उखाड़कर, दरवाजे के सामने डाल दिया था। उसके आगे बढ़ी और झाँका, तो दरवाज़ा पूरा खुला हुआ पाया। घर के भीतर सब साफ था। वे पानी के बर्तनों को सारा पानी फेंककर उठा ले गए थे, ताँबे और पीतल के बर्तन-आचमनी से लेकर पाखाने के लोटे तक—सब चले गए थे।

रामभाऊ के कमरे में जाकर मैं उसे जगाने लगी।

'रामभाऊ, उठो ! चोरी हो गई। अब घर में घी कटोरी भी नहीं रही।'

'क्या हुआ ?' क्या सेंध लगाई है ?

किसने ?'

'चोरों ने।'

'कहाँ हैं वे ?'

'तुम ठीक तरह से जागो, तो फिर बताऊँ।'

रामभाऊ जब ठीक तरह से जागे, तब उनका मुँह तिलक की ओर मुड़ा। तिलक बोले—

'क्या कहा ? चोरी हो गई ? बड़ा अच्छा हुआ। चलो, अब कम-से-कम कुछ दिनों के लिए ताले लगाने की तकलीफ़ तो मिटी !'

तिलक जो कहते थे, वही हुआ। इसी तरह जो मैं चाहती थी, वह भी हुआ। जो सामान चोरी गया था, वह सब हमारा ही सामान था। लोगों के सामान में से किसी चीज़ को भी चोरों ने छुआ नहीं था। वह सामान दूसरे कमरों में रखा था। उस रात मैं अपनी तालियों का गुच्छा उसी कमरे में भूल आई थी, इसलिए सामान के साथ चोर उस गुच्छे को भी ले गए। दूध का बर्तन दूध-सहित उठा ले गए, इसलिए दूसरे दिन हमारे पास खाने-पीने को कुछ भी न बचा। पड़ोसियों ने हमारी चाय का

इंतज़ाम किया।

दूसरे दिन एक रुपया खर्च करके कुम्हार के घर से सब वर्तन लाए गए। इनके चोरी जाने का भय न था।

तिलक ने चोरों के लिए प्रार्थना की। आगे चलकर यह प्रार्थना 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित की गई। 'ज्ञानोदय' के १९१६ के ६ जुलाई वाले अंक से वह नीचे उतद्धृ की जाती है—

'हे मेरी परम प्रिय मातृस्वरूपिणी ईश्वरेच्छा, इष्ट और अनिष्ट, सुख और दुःख—ये तेरे दो स्तन हैं। तू हमारे मुँह में इन दोनों स्तनों को बारी-बारी से देकर, हमारा परिपोषण करती है। आज मुझे कुछ लाभ हुआ होता, तो मैं तेरा जितना ऋणी होता उतना ही इस हानि से भी हूँ। आज मेरे घर से करीव पचास रुपये का माल चला गया। यदि वह माल मेरे घर का न होकर किसी गरीव पड़ौसी का होता, तो अधिक बुरा होता। यह नहीं हुआ, इसलिए मैं तुझे धन्यवाद देता हूँ। इस छोटी-सी चोरी से मैं वहुत स्पष्ट रूप से समझ रहा हूँ कि वेलजियम और अरमीनिया के लोगों के सर्वस्व का जो अपहरण हो रहा है और वहाँ के हज़ारों वेगुनाह व्यक्तियों की जो जानें जा रही हैं, इसका क्या मतलब है और उनके लिए मेरा कंठ वार-वार भर आता है। इसके लिए भी मैं तेरा ऋणी हूँ। हे अविनाशी ईश्वरेच्छा, प्रभु ईसा का वचन है कि, 'पृथ्वी पर दीमक और दुष्कर्म नाश करते हैं और चोर सेंध लगाकर चोरी करते हैं। इसलिए यहाँ अपने लिए संपत्ति-संग्राम न कर। स्वर्ग में दीमक और दुष्कर्म नाश नहीं करते, चोर चोरी नहीं करते, इसलिए वहाँ अपने लिए संपत्ति-संग्रह कर; क्योंकि जहाँ तेरी संपत्ति है, वहीं तेरा मन लगेगा।' प्रभु ईसा के उपरोक्त कथन का अर्थ चाहे मैं कितना ही ठीक समझ जाऊँ, परंतु मन में उसकी सत्यता के अनुभव के लिए और अविनाशी संपत्ति के पीछे पागल होने के लिए आज जैसे अनुभवों की आवश्यकता है। यह आवश्यकता तूने अंशतः पूरी की, इसलिए मैं तेरा ऋणी हूँ। हे ईश्वरेच्छा, जो तुझे सव प्रकार से मान्य है, वह मेरा प्रभु गुरु, तारक, मेरा जीवन, मेरा सखा ईसा निरंतर मेरे

साथ है। यह तेरी कितनी अगाध कृपा है ! वही मुझसे कह रहा है कि अज्ञानी चोरों को माफ़ कर दे और प्रार्थना कर, जिससे उन्हें पश्चात्ताप हो और वे तेरी शरण आयें।

क्षमा करके मैं इन चोरों के प्रोत्साहन का कारण बनकर, क्या अपने नगर के लोगों की हानि होने दूं? नहीं! नहीं! हे जग की संरक्षा करने वाली ईश्वरेच्छा, तू यह नहीं कहती। राज्य, न्याय, कानून, पुलिस—यह सारी योजना तेरी है। इसकी अवहेलना करके, तेरा अपमान करना और अपने पड़ौसी की हानि का कारण बनना, महापाप है। यह मुझसे न होने दे। ये चोर पुलिस की पकड़ में आ जायँ, कानून के अनुसार उनका न्याय हो, परंतु मुझे उन्हें क्षमा करने दे। मैं उनका हितचिन्तक हूँ। उन्हें यही अनुभव होने दे कि मैं उनका सच्चा सहायक हूँ। स्वयं मुझमें यह सामर्थ्य नहीं। विशेषतः ऐसे अवसर पर मुझे प्रभु के गले में बाँहें डाले रहने दे। वह और मैं यदि साथ रहें, तो सब-कुछ तेरे कहने के अनुसार करूँगा। ऐसे अवसर पर तूने मुझे प्रसन्न, शान्त और पूर्ण रूप से अपने निकट रखा, इसलिए हे पवित्र ईश्वरेच्छा, मैं तेरी शतशः वंदना करता हूँ।'

यह उपरोक्त प्रार्थना से अच्छी तरह व्यक्त होता है कि चोरी के कारण तिलक के मन पर क्या प्रभाव पड़ा, अस्तु।

दत्तू कालेज गया। उसके जाने के तुरंत बाद बर्वे और पेंडसे के पत्र आए। लिखा था कि घारूमाई सख्त बीमार है, इसलिए मौसी को भेज दो। मेरे लिए घारूमाई अपनी बेटी की तरह थी। उसके घर जाना मैं अपना कर्त्तव्य समझती थी और इधर मन गृहस्थी में उलझा था। फिर चोरी हो जाने के कारण पुलिस की तहकीकात भी हो रही थी। तिलक कहते कि यदि माल की चोरी हो गई है, तो हो जाने दो। मुझे उस माल की ज़रूरत नहीं। परंतु पुलिस वाले मानते न थे। उनकी खोज और बयान लेना जोर-शोर से चल रहे थे। अंत में पुलिस की जाँच-पड़ताल में सिर्फ़ चाय का चम्मच मिला! हमने पहचान लिया कि वह हमारा ही है और उनकी तहकीकात यहीं खत्म हो गई। आगे फिर और कोई पता न लगा!

और हमारे गले की फाँसी छूटी।

इधर घारूमाई के घर से पत्रों का ताँता लगा था। तिलक कहते—'तुम जाओ। मैं तुम्हें पहुँचा देता हूँ। मैं यहाँ सारा घर सँभाल लूंगा।' परंतु मेरा मन घर की भैंस इत्यादि जीव-जंजाल में उलझा हुआ था। मेरी स्थिति साँप छछूंदर-जैसी हो गई। आखिर जैसे-तैसे जाने का निश्चय हुआ। मैंने घर के सारे सामान की सुरक्षा का पूरी तरह से प्रबंध किया। हाँ, वहुत-सा सामान तो चोर पहले ही ले गए थे। लेकिन, चीथड़ों का पुलिंदा, टीन के डिब्बे इत्यादि को ताले में बंद करके उन पर चिट्ठयाँ चिपकाकर, मैं तैयार हुई। जानवरों की चिन्ता थी ही। लेकिन, उन्हें थोड़े ही मुहर बंद कर सकती थी? उस खुले मैदान के धन को खुली जगह छोड़कर, मैं पूना के लिए रवाना हुई। तिलक मेरे साथ गए। घर में रामभाऊ, ठोंबरे इत्यादि लोग थे। दत्तू कालेज में और वेवी हुजूरपागा विद्यालय में थी।

पूना में आकर देखा कि वहाँ वड़ी भयंकर स्थिति थी। पति-पत्नी दोनों ने विस्तर पकड़ लिए थे! घारूमाई को कैंसर हो गया था और वर्वे को दूषित फोड़ा (कारबंकल) हो गया था! तिलक ने कहा—'तुम इन्हें छोड़कर न आना। मैं घर की सारी व्यवस्था बिलकुल ठीक रखूँगा। वहाँ की तुम कोई चिन्ता न करो।' तिलक के पाँव भी किसी भी तरह वहाँ से वापस नहीं मुड़ रहे थे। 'माँ मरे और मौसी जिए'—कुछ ऐसी ही स्थिति वहाँ हो गई थी।

मैं दो महीने भानजी के घर रही। दो महीने वाद उन दोनों को कुछ आराम पड़ने पर मैं नगर जाने के लिए रवाना हुई। यह देखकर कि मैं जा रही हूँ, घारूमाई को अत्यन्त दुःख हुआ। इन दो महीनों में कागजी घुड़सवार पूना से जाते। राज्य की व्यवस्था कैसी है, इसकी पूछ-ताछ करते। दूसरे कागज़ी घुड़सवार नगर से पूना आकर यह समाचार देते कि राज्य में सर्वत्र अमन-चैन है। परंतु मेरा संशयालु मन अधिक विश्वास न करता।

और घर आकर देखा, तो मुहर-बंद सामान यद्यपि 'अनटच्ड', अछूता था, फिर भी जानवर उनके खाने के लिए इकट्ठी करके रखी हुई कड़वी और कडवी काटने की मशीन—सब विलुप्त हो गए थे। मुझे तो यह सब एक स्वप्न-सा ही लगा। परंतु थोड़ी देर के बाद होश में आने पर पता चला कि भैंसें बेच डाली गई हैं ! जंगल में चरने के लिए गई 'कल्याणी' की पड़िया 'सोनी' ही सिर्फ़ भूल से रह गई है। मेरी मुर्गियाँ थीं, उन्हें भी बेच डाला गया ! मैं दूध और अंडे बेचकर अपनी गृहस्थी को बड़ी मदद देती थी। परंतु यह सब शेखचिल्ली के काँच के बर्तनों की तरह फूट गया था।

मैं हिसाब लेने में बड़ी निपुण थी। उनसे मैंने पाई-पाई का हिसाब लिया और उन्होंने भी कौड़ी-कौड़ी का हिसाब दिया। साहूकार के सारे रुपए दे डाले थे। यह मुझे भी अच्छा लगा। अब नई गृहस्थी सब तरह से छोटी और हल्की हो गई।

दत्तू नागपुर में था। इस साल उसकी परीक्षा थी। जब वह सातवीं कक्षा में था, तभी उसका विवाह तय कर दिया गया था। उस समय रूथ पाँचवीं कक्षा में थी। यद्यपि विवाह निश्चित हो चुका था, फिर भी, दोनों की पढ़ाई अच्छी तरह चल रही थी। लड़की समूचे बंबई विश्वविद्यालय में मैट्रिक में सर्वप्रथम आई थी।

परंतु इसी समय के लगभग हमारी नई गृहस्थी आरंभ हो गई थी। घर के बर्तन सब चोरों के घर चले गए थे और नई गृहस्थी की शोभा बढ़ाने वाले मिट्टी के घड़े आदि लाए गए थे। तिलक के मन में अब यह बहुत आने लगा कि अब सर्व-संग-परित्याग करके केवल ईश्वर और जनता की सेवा में लग जाना चाहिए। अब मैंने भी अपने मन को तैयार कर लिया था। दत्तू के विवाह में होने वाले खर्च और उसकी गृहस्थी जमा देने योग्य सामान की मुझे ज़रूरत थी। बस, इतनी ही चिन्ता मुझे थी।

नगर में 'काँग्रिगेशनल' चर्च है। जो ईसाई उपासक ईसा हो को चर्च का एकमात्र अधिपति मानते हैं तथा सिद्धान्तों और चर्च के नियमों के संबंध में किसी भी एक विशेष व्यक्ति का अथवा अनेक व्यक्तियों की

बनी हुई विशेष संस्था का अधिकार नहीं मानते, बल्कि यह मानते हैं कि ये अधिकार स्थानीय चर्च को प्राप्त होने चाहिएँ, वे लोग 'कांग्रिगेशनलिस्ट' होते हैं।

इस शब्द के लिए दो-तीन मराठी समानार्थी शब्द सुझाये गए थे। तिलक ने एक व्याख्यान में इसके लिए 'ईसा का दरबार' सुझाया। क्योंकि दरबार शब्द से राजा और उसके लोगों का बोध होता है, इसलिए 'ईसा का दरबार' कहते ही एक ऐसी संस्था का बोध होता है, जहाँ ईसा को छोड़कर, और दूसरा राजा या अधिकारी नहीं है और उसकी अनुज्ञा से जहाँ उसीके लोग सब काम देखते रहते हैं। उनका यह भी कहना था कि दुर्भाग्यवश 'चर्च' शब्द ऐक्य की अपेक्षा विग्रह ही को अधिक प्रकट करता है और उससे मानवीय अधिकार तथा कार्य की अपेक्षा संस्था और कानून की सत्ता-जैसे अनिष्ट ही ध्वनित होते हैं। वैसे 'दरबार' शब्द से नहीं होते, इसलिए 'ईसा का दरबार' कहा जाय, तो क्या आपत्ति हो सकती है ?

इस वर्ष तिलक के हृदय में बड़ी खलबली मची हुई थी। उन्होंने कीर्तन-कलाप लिखना आरम्भ कर दिया था। वह मुझसे उसे कंठस्थ करा लेते और कीर्तन कैसे करना चाहिए, यह मुझे सिखाते थे। मेरे पीछे भजन कहने वाले लोग भी उन्होंने तैयार कर लिये थे। उसी तरह भजनों का प्रचार करने के उद्देश्य से इसी वर्ष उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध 'अभंगांजली' लिखनी शुरू की। भजन, कीर्तन और पुराण (प्रवचन)—इस त्रयी से ईसाई धर्म से विदेशीपन निकाला जा सकता है, ऐसा उनका पूर्ण विश्वास था।

'अभंगांजली' के बारे में वह कहते हैं —

'भजन, कीर्तन, पुराण या प्रवचन का धर्मोपासना और धर्म-प्रचार में कम-से-कम इस देश में कितना महत्त्व है, इसकी ओर हमने अपने ईसाई बंधु-भगिनियों का ध्यान बारंबार आकर्षित किया है। हम अत्यन्त आनंद-पूर्वक ईश्वर का उपकार मानते हैं कि जब से स्वर्गवासी रेवरेंड हॅरि ब्रिसल्

ने प्रथमत: हाथ में मँजीरे लेकर भजनों का प्रचार किया, तब से केवल सात-आठ वर्षों की अवधि में महाराष्ट्रीय ईसाइयों में सैंकड़ों भजन-मंडलियाँ हो गई हैं और उनके कारण उनकी भक्ति-भावना लगातार उद्दीप्त हो रही है। फिर भी इन मंडलियों के पास नये और पुराने मिलकर दो-ढाई सौ भजनों से अधिक नहीं है। यह कठिनाई कम-से-कम कुछ अंशों ही में दूर हो, इसलिए हम 'ज्ञानोदय' में 'कीर्तन-कलाप' की भाँति 'अभंगांजली' भी प्रकाशित कर रहे हैं। इनका उपयोग करने वाले वहुत हैं। उनका हम आभार मानते हैं।'

'ईसा का दरवार' वाला तिलक का आन्दोलन इसी वर्ष का है। उसका उद्‌गम इस व्याख्यान में और उनके मन में इस वर्ष मची हुई हल-चल में होगा। इस हलचल की तैयारी वीस वर्षों से चल रही थी, यह उनकी भिन्न-भिन्न कविताओं और उद्‌गारों से दिखाया जा सकता है। परंतु इस वर्ष ये सव कल्पनाएँ केन्द्रित हुईं, यह कहने में हर्ज नहीं है। 'कीर्तन-कलाप,' 'अभंगांजली' के साथ अपना 'ईसायन' भी पूरा करने का तिलक ने निश्चय किया। यह तो हुआ कविताओं के विषय में। परंतु उनके स्वभाव को इतना खाद्य पर्याप्त न था। उनके विचार सिर्फ़ काग़ज़ ही पर पड़े रहने वाले नहीं थे। काव्य के साथ 'ईसा का दरवार' शुरू हुआ। नगर में उन्हें वहुत-से दरवारी मिल गए। तिलक ने अलग दरवार-गीत रचे। प्राय: ये सभी दरवारी लोग नई पीढ़ी के थे। इन लोगों ने अपने भजनों का काम अत्यन्त उत्साह से चलाया। तिलक ने दरवार की विज्ञप्ति छपाई और महाराष्ट्र के सारे ईसाइयों में यह आन्दोलन शुरू कर दिया। विज्ञप्ति इस तरह थी—

१. मैंने प्रभु ईसा को अपना गुरु वनाया है, इसलिए मैं उसके जीवन-चरित्र, शील, उद्देश्य और उपदेशों का नियमित रूप से मनन करूँगा।

२. यह मनन उचित रीति से हो सके, इसके लिए मैं वाईवल और इस विषय के अन्य ग्रंथों का नित्य नियम-पूर्वक अध्ययन करूँगा।

(१ पैत्रस २:२)

३. प्रभु ईसा अपने शिष्यों से कहता है कि मैं तुम्हारा जीवन हूँ। इसलिए मैं उसे अपना जीवन मानकर, उसके साथ विचार करूँगा और उसके साथ सब काम करूँगा (योहान्न १५:४)।

४. मैं अपने दैनिक कार्य-क्रम के आरम्भ, मध्य और अंत में, यानी सुवह, दोपहर और रात को सोने से पहले एक ही पवित्र, प्रेमस्वरूप, अपना पिता जो परमेश्वर है, उसकी प्रार्थना करूँगा। (मात्थी ७:७-८)

५. मैं ईसा के दरबार के प्रत्येक दरबारी को अपना बंधु अथवा भगिनी समझूंगा। उनका निरंतर भला चाहूँगा, संकट के समय उनकी सहायता करूँगा, दुःख में उन्हें सांत्वना दूंगा, उनका एवं उनके कुटुम्बियों का आदर करूँगा, उनकी इज्ज़त समझूंगा। सारांश, भगवान् के दरबार के दरवारियों का बंधु-प्रेम देखकर दुनिया आश्चर्यचकित होकर ईश्वर का सम्मान करे, यही मेरी भविष्य में टेक होगी। (मात्थी १२:४७-५० योहान्न १७:२१)

६. मैं जहाँ रहता हूँ, उस जगह यदि एक अथवा एक से अधिक दूसरे दरवारी होंगे, तो उनके साथ निश्चित दिन और निश्चित समय पर सप्ताह में एक बार ईश्वरोपासना में उपस्थित रहूँगा और उपासना करूँगा।

७. मेरे गुरु स्वयं अपने को 'ईश्वर का पुत्र' कहते हैं। उसी तरह 'मनुष्य का पुत्र' भी कहते हैं और मनुष्य की सेवा किये विना, ईश्वर की सेवा पूर्ण नहीं होती, यह मुझे सिखा रहे हैं। इसलिए मैं नियम से मनुष्य की निष्काम सेवा करूँगा।

८. मैं ईश्वर की प्रार्थना करके, वह जो बुद्धि देगा, उसके अनुसार दरवार की सारी ज़िम्मेवारियों को अपनी निजी ज़िम्मेवारियाँ मानकर दरवार को नित्य-नैमित्तिक रीति से द्रव्य-दान करूँगा।

९. मैं हर वारह महीने की अवधि में कम-से-कम एक नया दरवारी

वनाऊँगा।

इसी परिस्थिति में 'ईसायन' लिखने के लिए मन को शान्ति मिले, इसके लिए तिलक ने नगर से अपना घर-वार उठाकर, उसे सातारा ले जाने का निश्चय किया।

सातारा आने पर भी तिलक का घूमना कम न हुआ था। परन्तु इन दौरों में वड़े महत्त्व की वातें हुईं। मदरास इलाके के दिंदिगल से उन्हें व्याख्यान देने का निमंत्रण आने पर, वह वहाँ गये और वहाँ के ईसाइयों में उन्होंने व्याख्यान दिये। महाराष्ट्र के ईसाइयों में दिखाई न देने वाली एक विशेष वात तिलक को वहाँ देखने को मिली। ये लोग ईसाई हो गए थे, परंतु उनके ईसाई हो जाने पर भी उन्होंने छुआछूत की गठरी को दूर न फेंका था, वल्कि उसे वे उसी तरह वाँधे हुए अपने साथ ले आए थे। कुछ लोग चर्च में भीतर वैठते, तो कुछ अस्पृश्य (?) ईसाई लोग वाहर वैठते !

तिलक को यह वरदाश्त होना संभव न था। एक दिन वह आये और वाहर वैठे हुए लोगों के बीच जाकर वैठ गए। भीतर वैठे लोगों की ओर उन्होंने झाँककर भी न देखा। वाहर ही उन्होंने भाषण देना शुरू कर दिया। तव भीतर के लोगों को शर्म आई और एक-एक करके लोग वाहर आकर वैठने लगे। वाद में तिलक ने वहाँ एक नियम ही वना लिया कि जहाँ ऐसा भेद-भाव होगा, वहाँ मैं व्याख्यान न दूँगा और इसका इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि उन्हें इन दौरों में आगे कभी भेद-भाव दिखाई न दिया।

इसी समय के लगभग राहुरी में ईसाई व्यवसाय मंडल (क्रिश्चियन एण्डेवर सोसाइटी) का सम्मेलन था। उसमें सम्मलित होने का तिलक को निमंत्रण मिला, इसलिए वह वहाँ गये थे।

जव से तिलक ईसाई हुए थे, प्रायः तभी से वह चाहते कि वह मिशन की तनख्वाह लेकर नौकरी न करें। पीछे एक-दो वार उन्होंने तनख्वाह लेना वंद कर दिया था और मिशन का जो काम उस समय कर रहे थे,

उसी काम को विना तनख्वाह के किया था। परंतु अब उन्हें एक बड़े भारी और भिन्न कार्य की ज़िम्मेवारी को लेने के लिए, पूर्व-तैयारी के रूप में, मिशन की नौकरी छोड़ देनी थी। १ सितम्वर १९१७ को राहुरी से उन्होंने निम्नलिखित पत्र प्रकाशित किया—

नम्र निवेदन

अपने देश और ईसा के दरबार के लिए भविष्य में प्रेम और सेवा के अनुबंध को छोड़कर और किसी भी रीति से मैं किसी भी मानवी संस्था से अपने को बाँधकर नहीं रख सकूँगा। भविष्य में अपने सारे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मेरा सारा स्वार्थ ईसा और 'शुभ वर्तमान' से सम्वद्ध होना चाहिए। इसलिए, ईश्वर की वाणी का सम्मान करके, मैं आज से किसी भी मानवी संस्था का आश्रित अथवा वेतन लेकर काम करने वाला नौकर नहीं हूँ। मैं एक ईसाई संन्यासी हूँ, यानी विराग के नहीं, अपितु अनुराग के पीछे जाने वाला संन्यासी हूँ। आज से मेरी आत्मा, (जो ईश्वर है) जैसा कहेगी, उसके अनुसार होने का और कार्य करने का प्रयत्न मुझे करना है।

जो लोग ईसा, हिन्दुस्तान तथा मेरे प्रति प्रेम रखते हैं, उन सबको हम सबके पिता परमेश्वर के दयासन के सामने खड़े होकर, मेरे लिए मध्यस्थता करनी चाहिए, यह सहायता मैं माँगता हूँ।

नारायण वामन तिलक

इसके नीचे 'कुछ बातों का स्पष्टीकरण' दिया है। वह इस तरह है—

१. अपने इस निश्चय को प्रकाशित करने के कारण तीन हैं—

(अ) यदि मैं पुनः मनुष्यों पर अवलंबित होने के मोह मे फँस ही गया, तो यह प्रकाशित नम्र-निवेदन मेरे सामने खड़ा होगा और बहुत हद तक मुझे रोक रखेगा।

(ब) मेरा उदाहरण देखकर भारतीय ईसाई-समाज में जो लोग ऐसा ही करना चाहते हों, उन्हें प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

(क) अपने इस निश्चय को पूरा करने के लिए मुझे बहुत लोगों की प्रार्थनाओं की आवश्यकता है।

२. मैं जो कर रहा हूँ, उस काम का क्या होगा—

(अ) अमेरिकन मराठी मिशन मेरे लिए मेरी माँ के स्थान पर हो गया है। मेरे मन में कृतज्ञता का रंच-मात्र भी अंश होने पर मैं अपने इस मातृ-तुल्य मिशन को कठिनाई में न पड़ने दूँगा। पर हाँ, भविष्य में मैं उससे वेतन नहीं चाहता। उससे प्रेम, सहानुभूति और प्रार्थना, यह सब-कुछ चाहता हूँ। मैं इस मिशन के जो काम कर रहा हूँ, उन्हें उसी तरह करता रहूँगा। अपनी इस नई स्थिति में भी मुझे उसकी सहायता चाहिए और वह मिलेगी।

(ब) मैं 'जन-सेवा ही ईश्वर-सेवा है,' इस सिद्धान्त को मानने वाला हूँ। इससे आप जान सकेंगे कि मेरी 'शुभ वर्तमान' की सेवा की कल्पना के अन्तर्गत किन-किन कामों का समावेश होता है।

ना० वा० तिलक

एक ईसाई सज्जन ने उनसे प्रश्न किया कि आपने संन्यास ले लिया तो क्या अपने कुटुम्ब को भी छोड़ दिया है। तिलक की भाँति वह भी जन-सेवा करना चाहते थे। परन्तु उन पर कुटुम्ब के पालन-पोषण की बड़ी भारी ज़िम्मेवारी थी। उनके पत्र का तिलक ने एक बड़ा लम्बा उत्तर लिखा है। उसमें वह कहते है —

'ईसाई के संन्यास का अर्थ पत्नी का त्याग नहीं है। पति-पत्नी का परस्पर निष्काम प्रेम हो, एक-दूसरे को, इस लोक ही में, प्रभु ईसा मसीह की इच्छानुसार, और उसके उपदेशानुसार 'स्वर्ग' में ले जाकर अधिष्ठित करें—यही ईसाई का संन्यास है। अपनी सामर्थ्य के बाहर यदि अपने परिवार की वृद्धि हो, तो यह भयंकर आपत्ति है। इसे मैं भयंकर इसलिए कहता हूँ कि यह प्रत्यक्ष रूप से, माता-पिताओं से, उन्हींकी सन्तान के

शरीर, मन और आत्मा को नाश करा देने वाली आपत्ति है। अधिक संतान ईश्वर की देन नहीं। संसार को ईश्वर के संदेश देने वाला साधुवर्य पौलस इन्द्रिय-दमन की गणना पवित्र आत्मा के लक्षणों में करता है। (गलती ५०, २२-२३) इसका अर्थ यही है कि ईश्वर की आत्मा (पवित्र आत्मा) अर्थात् ईश्वर जो आत्मा है, वही पति-पत्नी से कहता है कि इन्द्रिय-दमन करो।

'आपने यहाँ तक संन्यास ले लिया हो, फिर भी आप गृह-त्याग न करें। अपना काम और वेतन न छोड़ें। आपका परिवार बड़ा है। आप अपनी ही संतान को दाने-दाने के लिए मोहताज कर देंगे। और यह महापाप होगा। ईश्वर अपने भक्तों की आजीविका की चिन्ता रखता है। भक्तों को इसके लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार के आदेश और उपदेश धर्म-शास्त्र में अनेक स्थानों पर मिलेंगे। परन्तु, उनमें से एक का भी अर्थ अभी तक दुनिया जैसा समझना चाहिए वैसा नहीं समझती। थोड़े में यदि कहना हो, तो इस सवका सारांश यही है—"मज़दूर मज़दूरी के योग्य है।" सव सार ईसा मसीह के इस एक वचन में आ गया है।'

हमारी इस नई गृहस्थी में बहुत गंभीरता उत्पन्न हो गई थी। फिर भी उसका अपनापन कम न हुआ था और मनोरंजन की भी कोई कमी न थी।

यद्यपि हम सातारा आ गए थे, फिर भी तिलक के नगर के चक्कर लगा ही करते थे। सातारा पहुँचने पर दस महीने के वाद उन्होंने वेतन लेना छोड़ दिया। 'ज्ञानोदय' के संपादन का और नगर की ईश्वर-विद्या की कक्षा का काम (वह कक्षा जव चलती हो) वह कर ही रहे थे। परंतु विना वेतन के।

तिलक एक वार नगर गए थे। वहाँ कल्याणी की पड़िया 'सोनी' थी। आते समय उन्होंने उसे वेच दिया। कहा कि पचास रुपए में वेच दी। मुझे क्या? सोनी चली गई। यह तो सच था। अव वह वेची थी या किसी को दान में दे दी, इससे मुझे क्या मतलव? वे रुपए मेरे हाथ न लगे यह

सच है।

आते समय 'नामा' नाम का एक 'पड़ा' अलबत्ता वह ले आए। नामा अत्यन्त भोला, तोतला और बड़ा मेहनती था। आलस्य किस चिड़िया का नाम है, यह वह जानता ही न था। उसे खाना, कपड़ा और एक रुपया तनख्वाह पर रखा था। तिलक नामा पर अपना समय व्यय करने लगे। उसे वह रोज़ 'ईश्वर की प्रार्थना' पढ़ाते। वह कहते, 'कहो, हे मेरे आकाश के पिता', तो नामा जान-बूझकर कहता, 'हे हमारी माँ के पिता।' परन्तु तिलक ने कभी ऊबकर उसे पढ़ाना नहीं छोड़ा।

एक बार हमारे यहाँ दो मेहमान आए। वे थे बैरिस्टर आठवले और उनकी पत्नी श्रीमती मीनाबाई। नामा ने मुझसे पूछा कि ये कौन हैं? मैंने कहा कि वह स्त्री मेरी लड़की है और वह पुरुष मेरा दामाद है। नामा ने फिर पूछा—'दामाद के कौन-कौन हैं?' मैंने कहा, 'उनका एक भाई है।' उसने पूछा—'वह क्या कलते हैं?' मैंने कहा—'जाकर उन्हींसे पूछ ले न!' नामा तोतला बोलता था। वह हाथ में झाड़ू लिये दामाद के पास गया।

'क्यों दामाद बाबू, तुम क्या काम कलते हो?'

'हजामत बनाने का।'

'और तुम्हारा भाई?'

'वह खानसामा है।'

नामा यह सुनकर हतबुद्धि ही हो गया! तिलक ने अपनी लड़की एक नाई को कैसे दी, उसके लिए यह एक बड़ी भारी पहेली हो गई। वह फिर मेरे पास आया और प्रसन्नता के स्वर में बोला—

'वाह वाह! क्या दामाद खोजा है तुमने भी? वह है नाई और उसका भाई है खानसामा! भैया के लिए भी लड़की देखी, तो बम्बई की! उससे तो मेरे शलावन मामा की लड़की कितनी अच्छी है? वह क्यों नहीं कर ली भैया को?'

इस पगले की हमारे घर में बड़ी सराहना होती—बड़ा लाड़ होता।

एक बार मैंने नामा को एक बीमार औरत के घर सोने के लिए भेजा। वह औरत दूसरे ही दिन सुबह मर गई। नामा सुबह ही वहाँ से लौटा और घर आकर सो गया। तिलक ने चाय बनाई और एक कप चाय बेबी के हाथ नामा के लिए भेजी। बेबी नामा के पास आई और देखा कि वह ऐंठा हुआ पड़ा है! टुकुर-टुकुर देख रहा है। पर न हिलता था, न बोलता था।

'नामा, यह क्या करता है ? ले, यह चाय पी।'

परन्तु नामा न हिला, न बोला। अंत में हम सब उसके आस-पास जमा हो गए, तब उसने कहा—

'मैं बोलूँ कैसे ? उस औरत की तरह मेरी भी दँतोड़ी बँध गई है न ?'

सातारा आने पर दत्तू का विवाह निकला। वह बंबई में नौकरी करता था। रूथ इसी वर्ष बी० ए० पास हुई थी। इसलिए विवाह को अब और अधिक रोकने का कोई कारण ही न था।

ईश्वर की दया से मेरे बहुत-से मानस-पुत्र और मानस-कन्याएँ हैं। सातारा में ऐसा ही एक मानस-पुत्र था। उसका नाम था अर्नेस्ट। उसकी पत्नी डॉक्टरानी थी। इसलिए उसे 'डॉक्टर अर्नेस्ट' कहा करते। अब दत्तू के विवाह की तिथि, दिन, स्थान आदि बातें निश्चित हो गईं। हमें अपने और अपनी बारात के लिए सफ़र खर्च की ज़रूरत थी। डॉक्टर अर्नेस्ट से मैंने दो सौ रुपए कर्ज़ के रूप में माँगे। लिखा-पढ़ी कुछ नहीं। सब मुँह का हिसाब-किताब था। कर्ज़ की शर्तें ये थीं—'भैया, तुमने मुझे रुपए दिये हैं, इसका गवाह केवल ईश्वर है। जिस तरह तुमने मुझे अँधेरे में रुपए दिए, उसी तरह मैं अँधेरे में लौटा दूँगी। मियाद का कोई सवाल नहीं। अगर मैं मर गई, तो दत्तू से रुपए ले लेना। विश्वास हो तो दो, वरना साफ़-साफ़ कह दो कि नहीं देना चाहते। मुझे तनिक भी बुरा न लगेगा। व्याज मुझसे कुछ न मिलेगा।'

मेरे साहूकार ने ये सब शर्तें स्वीकार कीं और मेरे शब्दों की जमानत पर दो सौ रुपए मुझे दे दिए।

तिलक की तैयारी पूरी होने को आ गई थी। घर में उनके मातहत एक क्लर्क था ही। उससे लिखाकर और कुछ स्वयं लिखकर, 'विवाह-पद्धति' की प्रतियाँ तैयार करने का काम उन्होंने धड़ल्ले से शुरू कर दिया।

इतनी तैयारी हो जाने पर बंबई में दत्तू का विवाह बड़ी धूम-धाम से संपन्न किया गया और मैं एक बड़ी ज़िम्मेदारी से मुक्त हो गई।

हम सातारा आए, तब हमारी चिकी भी हमारे साथ आई। यहाँ भी वह स्कूल जाया करती। परन्तु बचे हुए समय में वह मेरे साथ रहकर मेरे कामों में हाथ बटाती।

अपने नाना और नानी का बड़प्पन दिखाना चिकी को बड़ा अच्छा लगता। यदि उससे कोई पूछता कि—'चिकी, खाना खा लिया क्या? आज खाने में क्या-क्या बना था?' तो तुरन्त वह ऐसे पदार्थों के नाम गिना देती, जो बड़े-बड़े अमीरों के घर बना करते हैं, फिर चाहे यहाँ हमने बाजरे की रोटी और साग ही क्यों न खाया हो।

एक दिन मैंने सहज भाव से परात-भर पूरन बनाया। चिकी जाकर सब मास्टरनियों को न्योता दे आई। वह मुझसे अत्यन्त प्रेम करती थी। एक बार उसकी मास्टरनी ने कहा, 'अरी चिकी, तेरी नानी मर गई।' वह इतनी भोली थी कि मेरी मृत्यु का समाचार सुनते ही अपना बस्ता स्कूल ही में छोड़कर, चिल्ला-चिल्लाकर रोती हुई घर आई। मैंने पूछा, 'अरी चिकी! रोती क्यों है? घर क्यों आ गई?' तब उसने कहा—'नानी तुम मर गई हो, इसलिए रोती हूँ। मुझसे मास्टरनी ने कहा है कि तेरी नानी मर गई।'

एक बार वह कविता याद कर रही थी। कविता थी—'**नीज न ये तर गीत म्हणावे। कोण कररी हें जीवें भावें। तो माझी आई।**'[1] इस कविता को वह अलाप-अलापकर गा रही थी। इधर मेरी आँखों से आँसू की झड़ी

---

१. मुझे जब नींद नहीं आती, तब मुझे सुलाने के लिए अत्यन्त प्रेम से लोरियाँ कौन गाती है? मेरी माँ!

लगी थी। उसने जब यह देखा, तब तुरंत दौड़कर आई और मेरे गले में बाँहें डालकर पूछने लगी—'नानी, तुम क्यों रोती हो?'

'बेटी, तुम्हारे माँ नहीं है, इसलिए रोती हूँ।'

'नानी, क्या तुम्हीं मेरी माँ नहीं हो? यदि तुम न होतीं, तो मैं कहाँ रहती?' उसके इन मीठे वचनों से मेरे आँसू थमे नहीं। अधिक ज़ोर से बहने लगे।

सातारा में एक खुशहाल 'आया' किसी मिशनरी महिला की कृपा से रहती थी। मिशनरी महिला से उसे पेंशन मिलती थी। यह बुढ़िया मेरे बड़े काम आती। उसे कोई विशेष काम न होने के कारण अपना बहुत-सा समय वह हमारे घर ही बिताती थी। अपने जन्म-सिद्ध स्वभाव के अनुसार मैं उसे अपनी देख-रेख में लेकर, उससे अपने घर का सीना-पिरोना, सब्ज़ी बीनना आदि काम करा लिया करती। वह चाय भी कभी-कभी हमारे घर ही पीती और खाना भी हमारे घर ही खा लेती। कभी-कभी हमसे उसे कुछ पैसे भी प्राप्त हो जाते।

'मातृ-दिन' के रोज़ मैंने कुछ रसोई बनाई थी। उस दिन वह चीज़ उसे दी भी थी। परंतु कढ़ाई में पानी और इमली डालकर चूल्हे पर उबलने को रख दिए थे। भीतर मैं एक तरफ बैठी सतनजे का आटा भून रही थी। बाहर चिकी और आया कुछ बीन रही थीं। आयाबाई ने चिकी से पूछा—'नानी क्या रही है री?' चिकी बड़ी मिज़ाज़ वाली जो ठहरी! बोली, 'मेरा दत्तू काका आ रहा है। उसके लिए नानी लड्डू, अनरसा, गुझिया, शकरपारा आदि बना रही है।' चिकी द्वारा उसके हाथ में यह चिनगारी पहुँचते ही उसकी गरमाई उसके एक ढीले 'स्क्रू' में से दिमाग के अंदर दाखिल हो गई। उसके दिमाग में आया कि यह बाई यह सब नाश्ता मुझसे छिपाकर बना रही है।

इसी समय तिलक के चाय पीने का वक्त हो गया। वह चाय बनाने की तैयारी करने लगे। उनकी चाय की तैयारी एक बड़ा प्रकरण रहा करता। लेकिन वह सब बहुधा वे स्वयं ही कर लेते। मैं रसोईघर में

बैठी सतनजा भूनने में व्यस्त थी। इसी समय आया बाई भीतर आई। बोलीं—

'क्या कर रही हो बाई ?'

'कुछ नहीं, दत्तू आ रहा है, इसलिए थोड़ा सतनजा भूने लेती हूँ। उसे 'थाली पीठ' बड़ा अच्छा लगता है न ?'

'अजी, इस तरह छिपाने की ज़रूरत क्या है ? अगर आप कुछ बनाती हैं, तो उसमें मुझे थोड़े ही पैसे खर्च करने पड़ते हैं ? आपका लड़का है ! आपका पैसा है ! बनाने वाली आप हैं ? इस कढ़ाई में क्या है ?'

'कुछ नहीं, परसों पकौड़ियाँ बनाई थीं, तब से उसी तरह पड़ी हैं। अभी तक मैंने उसे तुम्हें माँजने को नहीं दिया !'

'वाह, मैंने तो उस दिन माँजा था इसे।'

'नहीं जी, मैंने उसे उबलने के लिए रखा है। तुमसे कुछ छिपाकर बनाने की हमें क्या ज़रूरत ? तुम कौन उठाकर खा जाओगी ?'

'नहीं जी, बच्चे कभी झूठ नहीं बोलते। हाँ, पर मुझे क्या करना है ? परंतु बच्चों की गवाही अदालत में भी सच मानी जाती है।'

'क्या मतलब ? तुम क्या कहती हो, मैं कुछ समझ नहीं पा रही हूँ।'

'आप समझेंगी ही नहीं ! आखिर बच्ची ही तो है वह ! उसमें क्या अक्ल है ? दूसरों से कौन-सी बातें कहनी चाहिएँ और कौन-सी नहीं कहनी चाहिएँ, बच्चों को इसका कोई ज्ञान थोड़े ही रहता है !'

'क्या ? क्या चिकी ने कुछ कहा है तुमसे ?'

'अजी, यह तो होता ही है ! इसमें उसका भी क्या कसूर है ? जो सच होता है, वही बच्चा कह देता है। उस बेचारी से पहले ही कह देना चाहिए था कि ऐसी बातें किसी से कहनी नहीं चाहिएँ।'

'कौन-सी बातें ? तुम क्या कह रही हो ?'

'कुछ नहीं। आपका लड़का आ रहा है, इसलिए उसके लिए आप ने जो-जो पदार्थ बनाए हैं, वे उसने मुझे बता दिए। इसमें उसका क्या कसूर ?'

'अजी, कसूर किसी का भी नहीं है। परंतु तुम्हारे दिमाग में यह क्या घुस गया है, कुछ समझ में नहीं आता!'

'आपकी समझ में आयगा ही नहीं। बच्ची का क्या कसूर? वह सच ही बोलेगी!'

अभी तक तिलक शान्त थे। हमारी यह बातचीत उन्हें सुनाई पड़ रही थी। उन्होंने चिकी को पुकारा—

'तू ने क्या कहा री?'

चिकी चुप थी।

मैंने कहा—'उसे अपने घर की शान बघारना अच्छा लगता है। वह अपने घर के बड़प्पन का डंका हमेशा ही पीटती रहती है। उस पर ध्यान देने की क्या ज़रूरत?'

'यानी? कल मान लो वह यह कहती फिरे कि उसके नाना किसी की पूँजी चुराकर अपने घर ले आए हैं, तो?'

चिकी का हाथ पकड़कर तिलक उसे पीटने लगे। आयाबाई का गीत आरंभ हुआ।

'छोड़िए साहब! जाने दीजिए! वह क्यों झूठ बोलेगी? बच्चे हमेशा सच ही बोलते हैं।'

'बाई, तुममें कोई अक्ल नहीं है। कल वह मुझ पर न जाने कौनसी तोहमत लगा दे?'

'इसमें क्या बात है, साहब? यदि बच्चों से पहले ही कह दिया जाय कि उन्हें अमुक बात नहीं कहनी चाहिए, तो फिर वे थोड़े ही कहते हैं!'

जैसे-जैसे तिलक की क्रोधाग्नि भड़कने लगी, वैसे-वैसे वह स्त्री अपनी बुद्धिमानी की एक-एक लकड़ी उसमें झोंकने लगी। उस आग पर चिकी की पीठ का चीला अच्छी तरह 'चुरचुराने' लगा। अंत में मैंने चिकी को अपनी ओर खींच लिया।

विवाह के बाद दत्तू और रूथ दोनों सातारा आए थे। वे वापस जाने लगे।

नामा ने वंबई पहली वार दत्तू के विवाह ही में देखी थी। वह सोचने लगा कि मैं फिर वंबई जाऊँ। जव दत्तू और रूथ जाने लगे, तव भी हठ पकड़कर वैठ गया। फिर जैसे-तैसे उसे समझाया गया। उसने जो-जो चीज़ें माँगी, उसके लिए ला देना स्वीकार किया गया।

'अँगूठी भेजोगे ? वूट भेजोगे ? और रिस्ट-वाच ? टोपी ?'

'हाँ, वंवई पहुँचते ही मैं तुम्हारे लिए ये सव चीज़ें तुम्हें भेज दूँगा।'

ये सव चीज़ें भेजना कठिन न था। दो-चार आने में ये सव चीज़ें मिल सकती थीं ! दत्तू के जाने पर नामा को वड़ी चिन्ता हुई। वह कहता—'भैया इन चीज़ों को भेजेगा, पर वीच में कहीं डाकिया ही उन्हें हड़प कर जायगा तो ?' उसे वहुत समझाया गया, पर व्यर्थ ! उसे अपनी ही वात सच लगती।

वह चाहे जो झगड़ा खड़ा कर देता। वह वंवई जाने का कोई वहाना निकालना चाहता था।

एक दिन चिकी परात में घड़ा रखे उसे धो रही थी। परात में पानी था। नामा ने उसकी ओर देखकर कुछ सोचा। फिर गर्दन हिलाकर पूछा—

'यह क्या कल लही है ली ? वह घड़ा पानी में डूव जायगा न !'

मैंने कहा—'डूव जाने दे, पपा अभी शहर से वहुत-से घड़े ले आयँगे।'

'छच ? कितने लायँगे ?'

'गाड़ी-भर घड़े लायँगे।'

'फिर मैं जाता हूँ टेसन पर ! उन घड़ों को सँभालकर घर कौन लायगा ?'

उसे रोकते-रोकते मेरी नाक में दम आ गया। अंत में नामा को उन घड़ों की इतनी चिन्ता होने लगी कि वह उठकर भूखे पेट ही स्टेशन चल दिया। उस समय रँगरूट भरती हो रहे थे। नामा लड़ाई लड़ने के लिए घर से निकल गया और रँगरूटों में भरती हो गया। तिलक ने वहुत कह-कर देखा कि यह आदमी पागल है, वढ है, कुछ भी नहीं समझता। परंत

इसका कोई असर न हुआ। जब बंबई गया, तब उसने कहा कि मुझसे लड़ाई पर जाने को नहीं कहा गया, बल्कि एक साहब के दफ़्तर में पंखा खींचने का काम देने को कहा गया है। वहाँ से फिर उसे भगा दिया गया। नामा की कहानी यहीं समाप्त हो गई। आगे चलकर जन-समुद्र में वह बूंद कहाँ विलीन हो गई, इसका कोई पता नहीं।

अब झाड़-बुहार और लीपा-पोती से लेकर घर के सारे काम तिलक मेरे साथ किया करते। वह कहते कि ईसा के पास कहाँ नौकर-चाकर थे? उसके पास कहाँ घर और अटारियाँ थीं? उसके पास सिर रखने के लिए भी स्थान न था, फिर हमें ही क्यों इन चोचलों की जरूरत हो? इस पर उन्होंने दो अत्यन्त प्रसिद्ध अभंगों की रचना की है।

तिलक का इन दो वर्षों का आध्यात्मिक जीवन उनकी 'अभंगांजली' में चित्रित हुआ है। तिलक रोज़ सुबह-शाम भजन करते। पैरों में घुँघरू, हाथ में झाँझ, मँजीरे, पीछे तबला या पखावज—इस ठाठ से उनके भजन हुआ करते और उनमें **"ब्रह्मानंदी लागली टाळी, कौण देहातें सांभाळी,"**[1] जैसी उनकी स्थिति हो जाती। वह भजन करते-करते नाचने लगते। परंतु पाश्चात्य उपासना-पद्धति को आदर्श उपासना-पद्धति मानने वाली यहाँ की एक मिशनरी महिला को यह बिलकुल ही न भाता। उसने अपने कर्मचारियों के हमारे घर आने और हमारे भजनों में सम्मिलित होने पर रोक लगा दी। वे मानते न थे। रोक लगने पर भी वे पहले-जैसे ही आते रहे। इस कारण उसमें और उनमें खटक जाती। उसने अपने एक-दो कर्मचारियों को नौकरी से निकाल भी दिया था। इधर तिलक ने तुरंत उन्हें दूसरे कामों पर लगा दिया। उस महिला के द्वारा अपने कर्मचारियों को दिये जाने वाले कष्ट पर तिलक ने नीचे लिखा अभंग लिखा है—

---

१. जब मन ब्रह्म-स्वरूप के साक्षात्कार के आनंद में लीन हो जाता है, तब देह की सुध किसे रहती है?

भरतांना सात वेळा। जरि देहाला येईल ।।
तरी हा मी सिद्ध देवा । एक अनुग्रह व्हावा ।।
तुझ्या नांवें अरेरावी । तुझ्या राज्यांत नसावी ।।
तुझी पाहणें लेंकरें । नको झाली जनावरें ।।
दास म्हणें डोळे फोड । नक दर्शन हें द्वाड ।।[1]

उसी मिशनरी महिला को लक्ष्य करके यह एक और अभंग है—

नव्हे हिंदुस्थान लेकुरांच्या चेष्टा ।
नव्हेत प्रतिष्ठा भंडाच्या या ।।
इथेंच जाहाले महाधर्मवीर ।
जयां थरथर विश्व कांपे ।।
इथेंच जहाले मुनी योगीश्वर ।
अहो आजवर प्रभा ज्यांची ।।
श्रद्धा हेंच ज्यात्रें जीवितसर्वस्व ।
आपुलेंच विश्व घर ज्यांचें ।।
असे भक्तराज इथेंच जन्मले ।
हृदीं विराजले ज्याच्या त्याच्या ।।
इथें नाचवून भलतीच सोंगें ।
करुनिया ढोंगें अर्थ काय ?।।
मिळवाल तेंही घालवाल अंतीं ।
घालील फजीती माळ कंठीं ।।

---

१. हे ईश्वर, सात बार मरकर, मुझे सात बार यदि फिर यह देह प्राप्त हो, तो इसके लिए मैं तैयार हूँ। मुझ पर एक कृपा कर। वह यह कि तेरे राज्य में तेरे नाम पर कोई तानाशाही न करे। तेरी संतान जानवर हो गई है, यह मैं नहीं देखना चाहता। इससे तो मेरी आँखें फोड़ दे। मैं इस दुष्टता का दर्शन नहीं करना चाहता।

दास म्हणे येथें प्रभु येशू खिस्त।
पाहिजे संतत उभा केला ।।[1]

इस मिशनरी महिला को वे 'मंबाजी' कहते थे और मंबाजी नाम का उनका एक अभंग भी है।

तिलक घर में ज़ंजीरें नहीं लगाने देते थे। ताले तो बिलकुल लगाते ही न थे। मैं कहती, 'अजी, यह क्या करते हो?' वह कहते, 'परमेश्वर के प्रति हमारे हृदय में इतनी भक्ति होनी चाहिए कि हमारे मन में कुछ जमा करके रखने की इच्छा ही पैदा न हो। हमारा जो भी है, वह सबका होना चाहिए। "तेरा-मेरा" यह भेद-भाव रखना निरर्थक है। इस विषय पर भी उन्होंने सुंदर अभंगों की रचना की है।

तिलक का चिड़चिड़ा स्वभाव, क्रोध आदि प्रायः विलुप्त हो गए थे। अब क्रोध का स्थान करुणा ले लेती। यदि कोई उनके विरुद्ध कुछ कह देता, अथवा उन्हें तंग करता, तो वह कहते, 'वाह ये बातें तो मुझे अपने काम में स्फूर्ति देती हैं!' इस विषय पर उन्होंने नीचे लिखे अभंगों की रचना की है—

जौं जौं जयाला मी होईन अप्रिय।
तौं तौं माझें ध्येय माझें झालें ।।

---

१. हिन्दुस्तान लड़कों का खेल नहीं है। यहाँ दुष्टों की प्रतिष्ठा नहीं चल सकेगी। इसी देश में महा धर्मवीर हुए हैं, जिनसे सारा विश्व थर-थर काँपता था। यहाँ बड़े-बड़े मुनि और योगीश्वर हो गए हैं, जिनकी प्रभा आज तक चमक रही है। ऐसे भक्तराजों का जन्म यहीं हुआ है, जिनका श्रद्धा ही जीवन-सर्वस्व था, जो सारे विश्व को अपना घर मानते थे और जो हर एक के हृदय में बस गए हैं। ऐसे देश में ऊटपटाँग स्वाँग बनाने और अनाप-शनाप ढोंग करने का क्या अर्थ है? जो कुछ प्राप्त करोगे, अंत में उन्हींको खो बैठोगे और फ़जीहत की माला अपने गले में पहनोगे सो अलग! यहाँ साक्षात् प्रभु ईसा को निरंतर खड़ा करना चाहिए।

जौं जौं निंदा छळ तौं तौं वाढे वळ।
उज्ज्वळ उज्ज्वळ आत्मनिष्ठा ॥
जौं जौं जग कोपे दूर दूर जाई।
तौं तौं तेंच येई हारीं माझ्या ॥
भय काय आम्हाँ ? जगज्जेता गुरू।
आमुचें तो करूँ पाहिजे तैं ॥
आमुचें कशाचें कुठें त्याचा पत्ता।
विराजली सत्ता सारी त्याची ॥
दास म्हणें खिस्त अवघाच खिस्त।
हळू हळू अस्त पावलौं मी ॥[1]

लेकिन सात्त्विक संताप उन्हें वहुत सताता। स्वयं उनका अपमान हो जाने पर उन्हें चाहे क्रोध न आता पर भारतीय ईसाइयों के अनेक दुर्गुणों पर और मिशनरियों द्वारा उन्हें अपाहिज वना दिए जाने पर वह बुरी तरह चिढ़ उठते। एक वार तो वाई के गिरजाघर में उपदेश करते हुए उनका आवेश इतनी चरम सीमा पर पहुँच गया था कि उन्होंने वोलते-वोलते सामने रखी हुई मेज पर एक जोर का घूँसा मारा और उस एक ही घूँसे से वह मेज़ तड़ाक से टूट गई थी।

---

१. जैसे-जैसे मैं जग के लिए अप्रिय होता जाऊँगा, त्यों-त्यों मैं ध्येय सिद्ध करता जा रहा हूँ—ऐसा मैं मानूँगा। जैसे-जैसे मेरी निंदा होती है, मुझे यंत्रणा दी जाती है, वैसे-वैसे मेरी शक्ति बढ़ती जाती है और मेरी आत्म-निष्ठा उज्ज्वल होती है। जैसे-जैसे संसार क्रोधित होकर मुझसे दूर होता जाता है, वैसे-वैसे वही मेरे अविकार में आता जाता है। हमें क्या भय है ? जगज्जेता गुरु हमारा चाहे जो करे। हमारा कहाँ क्या है, इसका क्या पता ? यहाँ तो सारी सत्ता एक-मात्र उसीकी है। ईसा, केवल ईसा धीरे-धीरे मुझमें समा रहा है और मेरा अस्त हो रहा है।

जीवन-पथ पर नया कदम

तिलक के जीवन का यह अंतिम वर्ष था, किंतु यह एक ही वर्ष कई दृष्टियों से दस वर्षों के बराबर महत्त्व का था। वह कहते कि ईसा की शिक्षा को आचरण में लाये बिना हमारे देश की सच्ची उन्नति न होगी और हिन्दुस्तान ग्रंथ अथवा पंथ की अपेक्षा व्यक्ति की ओर अधिक ध्यान देता है। **'नव्हे ख्रिस्ती ख्रिस्ती परी ख्रिस्त ख्रिस्त। पाहिजे सतत उभा केला'**[1] ऐसा वह अब अपने धर्म-बंधुओं से कहने लगे। ईसा से वह इस प्रकार की प्रार्थना करते **माझा आत्मा जसा आरसा पाहो जन त्यामाजिं तुला। रहा विचारीं, मम उच्चारीं आचारी तूरम विमला !'**[2]

इस विचार-धारा के कारण अपने आस-पास की परिस्थिति से उनकी पटती न थी। वह कहते कि ईसाई को ईसा के समान होना चाहिए और भारतीय ईसाई को पौर्वात्य ईसा की भाँति होना चाहिए। वह स्वयं इस प्रकार बनने का भरसक प्रयत्न करने लगे। इस वर्ष के उनके जीवन-क्रम की तैयारी पिछले दस वर्ष से हो रही थी। उन्होंने दस-बारह वर्ष पहले कहा था, **'पुष्क अर्जुनी उणा प्रभू भी पुष्क अर्जुनी उणा। खंडी तुन रति नाहिं फेडिलें बंधुभगिनिंच्या ऋणा। तुझा ऋणी तर सदाच राहिन अगा**

---

१. ईसाई नहीं, बल्कि हमें अपने सामने सतत ईसा को रखना चाहिए।

२. मेरी आत्मा आईने के समान होनी चाहिए, जिसमें लोग तेरा प्रतिबिम्ब देखें। हे विमल ईसा, मेरे आचार-विचार और उच्चार में तू ही रमा रहे।

पतितपावना ।"[1] और इस कमी को पूरा करने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया था। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि जन्म ही से जिन दोषों को वह अपने साथ लाये थे, उनमें से कितने ही दोष, इस दस वर्ष की अवधि में धीरे-धीरे घटते हुए इस अंतिम वर्ष में, विलकुल चले गए थे। उदाहरणार्थ, उनका क्रोधी स्वभाव ही लें। अपना अपमान हो जाने पर वह जिस प्रकार पहले क्रोधित हो जाते थे, वैसे इस वर्ष वह एक वार भी क्रोधित होते हुए नहीं दिखाई दिए।

तिलक के पास इस समय ऐसा कोई काम न था, जिसके लिए उन्हें वेतन मिलता हो। लेखों का जो थोड़ा-सा पारिश्रमिक कभी-कभी मिल जाता, वही, उनकी आमदनी का ज़रिया था। गरीवी हमारी-जैसी पहले साथिन थी, वैसी अव भी थी। परंतु पहले की और इस समय की गरीवी में यह अंतर था कि अब हम पर कर्ज़ न था।

कर्ज़ तो न था पर कर्ज़ लेने वाले कभी-कभी हमारे सामने अचानक आ धमकते थे।

वांवोरी में एक गरीव ईसाई रहता था। उसका नाम था रामभाऊ ससाणे। इस मनुष्य की सहायता के लिए तिलक कई सालों तक दो रुपया माहवार भेजते रहे। परंतु सातारा की इस गड़वड़ में दो महीने से रुपए न भेजे जा सके। अव अधिक रुपए-पैसे थे भी नहीं।

हमारे सातारा पहुँचने के एक-दो सप्ताह के भीतर ही ससाणे महाराज अपनी गठरी और लाठी सँभालते हुए हमारे वँगले में आए।

'सलाम साहव !'

'ससाणे, तुम कैसे आए ?'

'रेलगाड़ी से।'

---

१. हे प्रभो, अभी मुझमें वहुत कमी है। अभी मैंने अपने भाई-वहनों के मन-भर उपकारों में से रत्ती-भर का भी वदला नहीं चुकाया है। हे पतितपावन, तेरा ऋणी तो मैं सदा ही वना रहूँगा।

'क्यों आए ?'

'रुपयों के लिए।'

'अजी ससाणे जी ! पैसे दो पैसे में क्या मुझे तुम्हारा पत्र न मिल जाता ?'

'न जाने आपको याद है या नहीं। इसलिए सोचा कि खुद ही चला जाऊँ तो अच्छा।'

'अरे भाई, यह ठीक है ! पर यहाँ आने में तुम्हारा खर्च कितना हो गया, इसकी कुछ कल्पना है तुम्हें ?'

'नहीं। मुझे विश्वास था कि वह तो आप देंगे ही। मैं उधार लेकर आया हूँ।'

'वाह ससाणेजी ! बड़ी अक्लमंदी दिखाई तुमने। अब अगर कभी तुम्हें हमारे पास से रुपए मिलने में देर हो जाय तो इस तरह मत आना। अगर आए तो मैं रुपए देना बंद कर दूँगा।'

यह कहकर उसके आने-जाने के खर्च के लिए दस रुपए और पिछले दो महीनों के चार रुपए इस तरह खुल चौदह रुपए देकर, उस बूढ़े को रास्ता दिखाया और फिर बिला नागा हर महीने उसे दो रुपये का मनी-आर्डर भेजना फिर से शुरू कर दिया।

कर्ज़ नहीं था। पर ईश्वर की कृपा से पहले की भाँति ही भरपूर मनुष्य थे।

कीर्तन में सहायता करने के लिए तिलक ने बंबई से मिस मिलार्ड की अंधों की पाठशाला से लिंबाजी नाम के एक अंधे युवक को बुला लिया था। वह अंधा था और उसकी पत्नी के एक ही आँख थी। परंतु चार आँखों के बदले इस एक ही आँख से प्रेम के कारण उनकी ज़िंदगी बहुत अच्छी तरह कट रही थी। हमने उसे दस रुपए माहवार और रहने के लिए मकान दिया। परंतु अभी कुछ दिन पहले मैंने सुना कि उसे दस रुपए के बदले अब चालीस रुपए तनख्वाह मिलती है और एक आँख की जगह उसके घर में अब नौ आँखें हो गई हैं !

हमारे घर में भिन्न जातियों, भिन्न धर्मों, भिन्न विचारों, पर एक दिल का सम्मेलन था। उनमें कुछ धर्म पर विचार करने वाले थे, कुछ वनाए हुए और कुछ अपने मन से वने हुए ईसाई थे। रोज़ दो वार हमारे घर भजन हुआ करते। उसके लिए एक घंटा ले आए थे। वह वजता और मुहल्ले के लोग आकर इकट्ठे हो जाते। कभी-कभी शहर के लोग भी आ जाते। यदि कोई दरवाज़े से गुज़र रहा होता, तो वह भी आकर बैठ जाता।

रुपयों की कमी के कारण तिलक गेरुए रंग की कफनियाँ पहनने लगे, क्योंकि इसके कारण धोवी का खर्च वचता था। वे कफनियाँ भी उन्होंने अपनी पुरानी धोतियों की वना लीं। सव लोग वैठकर भजन गाते। पर तिलक खड़े रहते। हर एक के पास झाँझ और मँजीरे होते। कोई तवला अथवा नाल वजाते। कभी-कभी तिलक पैरों में घुँघरू वाँधकर तल्लीन हो-कर नाचते। उस समय **"ब्रह्मःनंदी लागली टाळी। कोण देहातें सांभाळी !"** जैसी उनकी, सव श्रोताओं की और भजन-मंडली की स्थिति हो जाती और वह कितनी ही देर तक वनी रहती।

हमारे यहाँ जाति, वय, धर्म और अधिकार के कारण कोई भेद-भाव न होता। व्राह्मण से लेकर भंगी तक कोई भी आकर वैठ जाता। ईसाई लोग आते और उनमें मिशन के कर्मचारी भी होते। ऐसे ईसाई भी रहते जो मिशन के नौकर न थे। जो भी आते, वे सव हमें अपने आत्मीय लगते। भेद-भाव विलकुल रहता ही न था।

आरंभ ही से हमें दो वातें हमेशा मन के अनुकूल मिलती गईं। एक तो विना किराये का मकान और शहर में बिलकुल घर के आदमी-सरीखा डॉक्टर। सातारा में डॉक्टर केलकर इसी तरह के हमारे वड़े घनिष्ठ मित्र हो गए थे।

एक दिन शहर में मेरा कीर्तन होने वाला था। पर पिछले दिन मुझे तेज़ वुखार हो आया। तिलक ने डॉक्टर केलकर को पत्र भेजा, 'इसकी तवियत ठीक नहीं है। तुरंत आओ।' पत्र शाम को गया। डॉक्टर घर में

न थे, किसी गाँव में गये थे। घर आये तो तिलक का पत्र देखा। पत्र भी खूब था। उसमें यह कुछ लिखा ही न था कि बीमारी क्या है। रात के करीब दस बजे थे। डॉक्टर साहब के मातहतों में से एक भी हाज़िर न था। पेट में चूहे डंड पेल ही रहे थे। साथ में कौन-सी दवाएँ ले जायँ, यह भी निश्चित करते न बनता था। इसलिए मुझे जितने रोग होने की संभावना थी, उनका स्मरण कर-करके उन्होंने औषधियाँ और उपकरण एक बड़े भारी बैग में रखे। ताँगा था। पर ताँगेवाला नहीं था। तब ताँगा खुद जोता और डॉक्टर साहब स्वयं ताँगा हाँकते हुए हमारे बँगले में पधारे। उस समय तक मेरा बुखार उतर गया था। डॉक्टर बोले, 'अरी ओ बुढ़िया, आखिर तुझे हो क्या गया था? साँप ने काट खाया था या हैज़ा हुआ था? आखिर क्या हो गया था? मैं कितना घबरा गया?' मुझे हँसी आने लगी और बुरा भी लगा। मैंने कहा, 'डॉक्टर कल मेरा कीर्तन है। इसलिए चाहती हूँ कि कल बुखार-वुखार न आवे।' डॉक्टर ने दवा के बदले हाथ की छड़ी के दो हाथ मेरी पीठ पर जमाए। परंतु वे प्रेम के होने के कारण उन पर उन्हें फिर दवा न मलनी पड़ी। बाद में डॉक्टर ही ने मुझे अपने हाथ से काँजी बनाकर पिलाई।

दूसरे दिन मेरा कीर्तन हुआ। अब कीर्तन के लिए दूसरे स्थानों से भी आमंत्रण आने लगे। फ़िच्ले नाम के एक यूरोपियन महाशय का भी निमंत्रण आया। फ़िच्ले मिशनरी नहीं थे। वह एक शिल्पकार थे। उनसे किसी ने हमारे बारे में कह दिया था। अत्यंत धार्मिक वृत्ति के होने के कारण उन्होंने हमें बुलाया था। दत्तू का विवाह होने के बाद यह पहला ही "बड़ा दिन" था। दत्तू बहू को लेकर सातारा आए, ऐसी मेरी राय थी। परंतु दत्तू का पत्र आया कि हम लोग ही बंबई आयँ। तिलक की आनाकानी करने की कभी आदत न थी। हमने निश्चय किया कि पहले बंबई जाकर बड़ा दिन मनाया जाय और बाद में कीर्तन के लिए लोणावला जाया जाय।

बंबई आते समय मैं तैयारी से आई थी। सिर्फ़ कुछ भूनना-तलना ही

बच रहा था। उसका ज़िम्मा बेबी और चिकी ने ले लिया। बहू को कुछ आता न था अथवा करने में वह टालमटोल कर रही थी, ऐसी कोई बात न थी। वास्तव में उससे कुछ होता ही न था। फिर भी उसने उसी स्थिति में लड़कियों के काम में थोड़ा-बहुत हाथ बटाया ही। मेरा कीर्तन था, इसीलिए मैं उसीकी गड़बड़ में थी। यह हम सबका अंतिम बड़ा दिन था। उसे हमने बड़े आनंद से बिताया। बहू ने ससुर को बड़े दिन की सौगात के रूप में चाय पीने का पूरा सैट दिया और मुझे साड़ी दी। बड़ा-दिन समाप्त हुआ। नूतन वर्ष के लिए हमने लोणावला जाने का निश्चय किया। वहाँ फ़िच्ले साहब ने हमें भजन और कीर्तन के लिए बुलाया था। पत्र-व्यवहार से और एक-दो मुलाकातों ही में हमारा उनसे अच्छा परिचय हो गया था और तिलक के प्रति उनका अत्यन्त आदर-भाव हो गया था।

हम लोग नए वर्ष के एक दिन पहले लोणावला पहुँचे। मेरा कीर्तन हुआ। रात को 'वाच नाइट' हुई। सन् १९१९ के पहले दिन हम फ़िच्ले साहब ही के अतिथि थे। दूसरे दिन वहाँ से वापस होते समय साहब ने तिलक के हाथ में पाँच सौ रुपए का चैक रख दिया। इसके बाद हम पूना गए। वहाँ भी मेरे कीर्तन हुए और हम पाँच सौ रुपए की गठरी सहित सातारा पहुँचे। आते ही डॉक्टर अर्नेस्ट से अँधेरे में लिये हुए रुपए उसे अँधेरे में लौटा दिए और मेरा जी ठण्डा हुआ। पाँच सौ रुपयों में से दो सौ रुपए से कर्ज़ चुकाया। सौ रुपए ईसा के दरबार में खर्च किए और दो सौ रुपए बचाकर अलग रख दिए। ये रुपए आगे चलकर उचित समय पर काम आए।

तिलक हमेशा प्रार्थना करते कि ईश्वर मुझे दरिद्र रख! मुझे रुपयों की ज़रूरत नहीं। मैं प्रार्थना करती—ईश्वर मुझ पर कर्ज़ न हो। हम दोनों की प्रार्थनाएँ ईश्वर ने सुनीं।

तिलक की एक कविता है—'**ह्या पैशाचे नकोत अमुच्या करास, हृदया**

चटके।"[1] हम दोनों की प्रार्थनाएँ परमेश्वर ने सुनीं और हम दोनों की वृत्तियों में ऐसा परिवर्तन हो गया। मुझे यह इच्छा नहीं होती कि रुपए मिलें या मेरे पास हों—यह था तिलक की प्रार्थना का उत्तर। और तिलक ने कर्ज़ लेना छोड़ दिया—यह था मेरी प्रार्थना का उत्तर।

प्रकृति ने उग्र रूप धारण किया। कृषक अपनी ज़मीन जोत-जातकर गोल बनाकर बैठ गए थे। सबकी दृष्टि चातक की तरह मेघ-मण्डल की ओर अटकी थी।

मेघ बड़े ज़ोर से गरजते, जैसे कोई बड़ी भयंकर घटना हो रही हो। आकाश में चारों तरफ धुएँ-जैसे पोले, धोखेबाज़ बादल इधर-उधर आवारा लड़कों की तरह भगदड़ मचाते और इन लड़कों को कहीं नज़र न लग जाय, इसलिए बीच ही में किंचित् कहीं बारीक-सा डिठौने-जैसा एकाध काला बादल दिखाई दे जाता। वर्षा का पानी न होने के कारण जनता के मुँह का पानी भी सूख गया। मुसलमान और ईसाई अपने-अपने ढंग से परमेश्वर की प्रार्थना कर रहे थे। ब्राह्मणों ने अनुष्ठान आरंभ किए। देवालय के देवों को पानी में डुबा दिया गया। गरीब भगवान् को पुकारने लगे। जनता निराश हो गई। महँगाई चरम सीमा को पहुँच गई। माँ को बच्चा भारी हो गया।

तिलक का सारा विश्वास प्रार्थना और उपवास पर था। वह अब एक ही बार खाना खाते। कभी-कभी उसे भी छोड़ देते। खाने बैठते तो कभी-कभी उनका कंठ भर आता। वह कहते कि यह देखते हुए कि मेरे बंधु-बांधव दाने-दाने के लिए मोहताज हो रहे हैं, मैं यह अन्न खाऊँ भी कैसे? इससे तो अच्छा है कि उठाओ इसे और दे डालो मेरे भूखे भाई-बहनों को! घर में जो भी आटा या नमक था उसे वे ज़रूरतमंद लोगों में बाँटने लगे।

'दूबरी और दो असाढ़!' पिस्सू हो गए। घर-घर में चूहेदान आने लगे। चारों तरफ तारकोल जलाने की गंध आने लगी। टीके लगने लगे।

---

१. हमारे हाथ और हृदय में रुपयों की आग के दाग़ न लगें।

लोग शहर छोड़कर बाहर चल दिए। आज यह, तो कल वह; ऐसी खबरें फैलने लगीं। उस समय तिलक ने एक धूप के बारे में कहीं पढ़ा और वह धूप मुझसे बनवा लिया। जो भी उनके पास आता, उसे वे मुट्ठी-मुट्ठी-भर वह धूप देने लगे। इस धूप की धूनी के धुएँ से छछूंदर, चूहे, मच्छर, पिस्सू आदि भाग जाते। भगवान् की कृपा से और मनुष्य के कर्तृत्व से प्लेग महाराज रुक गए, परन्तु बाघ महाराज भड़क उठे। अकाल के पीछे बीमारी, यह जोड़ी देखकर कलेजा पानी-पानी हो गया और वाणी महँगी हो गई।

सातारा में गर्दन-तोड़ बुखार की पहली लहर आई। इसने प्लेग को भी मात दे दी। परिवार में, दस में से एक खड़ा है, और बाकी सब बिस्तर पर पड़े हैं! चरने के लिए जंगल में गए हुए जानवर वहीं रह गए—घर के जानवर खूंटों से बँधे रह गए। उन्हें चारा और घास देने के लिए कोई नहीं! खाने के लिए पास पैसा नहीं। दिए में जलाने के लिए तेल नहीं। पानी देने के लिए मनुष्य नहीं। उस समय ऐसा सुना कि एक मनुष्य ने पैसा न होने के कारण एक गाय के बदले दो अनार खरीदे। यह करुणा-जनक स्थिति देखकर, तिलक ने एक छोटा-सा दवाखाना और छोटा-सा अन्नछेत्र खोल दिया। मैं एक काढ़ा रोज़ तीन-चार सेर बनाकर रखती। यह दवा, दूध, साबूदाना, शक्कर, मिट्टी का तेल और दियासलाई, ये चीज़ें तिलक सुबह आठ से बारह बजे तक बाँटते। सनातनी, मराठे, महार-चमार सब लोगों को ये चीज़ें बाँटी जातीं।

तिलक के भजन सुबह-शाम होते ही रहते।

अकाल और गर्दन-तोड़ बुखार के शिकंजे में फँसी हुई जनता आखिर उनसे छूटी। इन दिनों तिलक ने बहुत अभंग लिखे।

दत्तू छोटा था तभी से मुझे उदर-शूल की बीमारी है और कभी-कभी वह अधिक ज़ोर पकड़ लेती है। इस समय मेरे पेट में दर्द था। तिलक सुबह उठते और पहले अँगीठी जलाकर मेरी खाट के नीचे रख देते। इसके बाद वह अपनी चाय बनाकर पीते। आजकल वह मेरे पास आकर मुझसे

वहुत बातें करते। इसका मतलब यह नहीं कि पहले वह मुझसे बातें न करते थे। इस समय उनके पास समय न होते हुए भी वह समय निकालकर मेरे पास आते और मुझसे बातें करते हुए बैठे रहते। मुझे उनकी बातें बिलकुल अच्छी न लगतीं। कभी मैं 'हूँ' कह देती, तो कभी कहती, 'बस कीजिए आपकी ये लम्बी नीरस बातें। मुझे ये बिलकुल अच्छी नहीं लगतीं। समय कैसा आ जाय, कुछ कह नहीं सकते। हमेशा शुभ बोलना चाहिए। घर के आस-पास ईश्वर के दूत घूमते रहते हैं। वे "अस्तु-अस्तु" कहते हैं।' इस पर वह कहते, 'मैं क्या अशुभ बोलता हूँ ? दो प्रवासी मार्ग से जाते हैं। एक का स्टेशन पहले आ जाता है। दूसरे का बाद में आता है। इसमें अशुभ क्या है ? डरने की कौन-सी बात है ? बोलने के लिए आखिर कोई विषय भी तो होना चाहिए न ! इसलिए, मैंने ये बातें छेड़ीं। कौन-सा समय कब आ जायगा, इसका क्या कोई ठिकाना होता है ? पहले से उसका कोई नोटिस थोड़े ही आता है ? लड़के को बाहर कितनी देर तक रहने दिया जाय, यह केवल एक माँ ही जानती है। वह जब खेलकर थक जाता है, तब माँ आगे बढ़कर, उसे गोद में उठा लेती है। उसे विश्राम देती है। इसी प्रकार ईश्वर करता है। आज नहीं तो कल, वह इसी तरह हरएक को उठा लेगा। हमें हाथ-पाँव पटकने के बदले उसकी उत्सुकता से बाट जोहनी चाहिए। मनुष्य को अपनी परिस्थिति से ऊँचा होना चाहिए। वरना दोनों में से एक के जाने के बाद, पीछे रहने वाले रोते रहते हैं और उस परिस्थिति के गुलाम बनकर, ईश्वरीय इच्छा का अनादर करते हैं।

किसी स्त्री के पति की जब मृत्यु हो जाती है, तब दुःखातिरेक से वह मूर्ख बन जाती है। संतान के प्रति उसकी कोई ज़िम्मेदारी है, यह वह भूल जाती है। चाहे जब और चाहे जहाँ वह रोने लगती है। उसके शोक का प्रभाव किस-किस पर पड़ रहा है, इसका उसे कभी ध्यान ही नहीं रहता। और दुःख में सांत्वना देने के लिए जो औरतें आती हैं, वे तो मृत मनुष्य के गुणों को (जो थे उन्हें और जो न थे उन्हें भी) याद कर-करके उस शोकाग्नि में और भी तेल झोंकती रहती हैं। उसे संतोष देना तो दर-

किनार ही रहा, मृत के आप्त-जनों की क्या ज़रूरतें हैं, उन्हें किस तरह मदद दी जा सकती है, वे अपने दुःख को किस प्रकार भुला सकते हैं, इस ओर किसी का ध्यान नहीं होता। हरएक उसे रुलाता है, उसके दुःख की पपड़ी उखाड़ देता है। सौ लोग आते हैं, सौ बार वह रोती है और घर का वातावरण हमेशा के लिए उदास बना दिया जाता है। उस स्त्री की आँखें रोते-रोते फूट जाती हैं और बाल-बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है।'

जब उनकी ये बातें सुनती, तब मुझे लगता जैसे कोई मेरे हृदय को काटकर टुकड़े-टुकड़े कर रहा है।

'जिस तरह वैष्णव के मस्तक की तिलक-मुद्रा से उसकी पहचान होती है, उसी तरह ईसाई के घर मृत्यु हो गई है, यह उसकी पोशाक से मालूम हो जाता है। मुझे यह बिलकुल पसन्द नहीं। काली गाड़ी, काला घोड़ा, काला संदूक, काली साड़ी, काले फीते, पत्र के चारों ओर काला 'बार्डर'! यह सब है क्या? ईश्वर के घर जाना क्या कोई अशुभ बात है? जो अमर है, पवित्र है, उसके घर जाना अशुभ है क्या? पवित्रता का द्योतक काला है या सफेद? मैं यदि तुमसे पहले चला जाऊँ, तो तुम ऐसा कुछ न करना। मेरे लिए सब-कुछ सफेद रहने देना!'

'यह आपने क्या शुरू किया है? मैं समझ नहीं पाती।'

'मेरा तुमसे पहले चले जाना ही अधिक हितकारी है।'

'क्या हितकारी है और क्या अहितकारी है, यह मैं नहीं जानती।'

'आगे जानोगी। मेरे मरने पर तुम और बच्चे बिलकुल शोक न करना। मेरा विश्वास है कि ईश्वर के घर हमें जाना है, इसमें शोक करने के लिए कुछ नहीं है। वही मुझे ले जायगा और वही तुम्हारी भविष्य के लिए व्यवस्था कर देगा।'

तिलक से जो 'मंवाजी' मिली थी, वह अब उनके कार्यों में अधिक रुकावट डालने लगी। तकाज़े आते कि बँगला छोड़ दो। परन्तु बँगला छूटा नहीं। दोनों वक्त भजन होते। 'मंवाजी' के कर्मचारी दोनों बार

बिलानागा, धमकियों और ताकीदों की ज़रा भी परवाह न करके भजन में शामिल होते। फिर तिलक हमेशा चर्च में उपदेश करने लगे। उस समय चर्च की नई स्वतंत्र इमारत नहीं थी, इसलिए उपासना पाठशाला ही में होती थी और उसीको चर्च माना जाता था। परन्तु शाला थी मंबाजी के अधिकार में। इसलिए वह उसे बार-बार बंद कर देतीं। तिलक कहते, 'चाहे बाँसों की खपच्चियों ही का क्यों न हो, पर तुम लोग अपने लिए अपने ही द्वारा बनाया हुआ एक अलग गिरजाघर बना लो। दूसरों की चुल्लू से कब तक पानी पियोगे? तुम दूसरों के अधीन कब तक बने रहोगे? तुम्हें ईसाई हुए एक शताब्दी हो गई। अभी तक तुम क्या रेंगने वाले बच्चे ही बने रहोगे? तुम्हारे पूर्वज ऐसे ही थे क्या? क्यों तुम अपना सिर दूसरों के आगे झुकाते हो?'

मिशनरियों से वह कहते, 'आप लोग हमें अपने हाथ से कब तक खिलाते रहेंगे? अपने पैरों पर हमें खड़े होने दो। हमारे बीच में न आओ! हमें तैरने दो। डूबने दो, बहने दो, मरने दो, परन्तु, तैरना सीख लेने दो।

मुझसे वह कहते, 'देखो, ऐसा समय आयगा जब ईसाई लोग और मिशनरी दोनों मेरे खिलाफ़ हो जायँगे। परन्तु मैं वही कहूँगा और करूँगा, जिसे मैं अपनी दृष्टि से इनके लिए हितकर समझता हूँ। मैं कष्ट सहन कर लूँगा, परन्तु मृत्यु तक उनका भला करता रहूँगा।

परन्तु अकेली मंबाजी को छोड़कर और किसी भी ईसाई ने तिलक को कष्ट न दिया। उलटे सब लोग उनसे बिलकुल आत्मीयों की तरह पेश आए।

माघ के समाप्त होते-होते थोड़ी गरमी का आभास होने लगा था। सूर्य की अपेक्षा बालू ही अधिक ताप देने लगी थी। रविवार को उपासना के समय मंबाजी ने तालियाँ न दीं। पाठशाला बंद थी। मंबाजी का निश्चय था कि कुछ भी हो जाय, आज तालियाँ नहीं दूँगी।

लोग तिलक के पास यह कहने आए। आज स्वर्ग के द्वार बंद हो गए! तिलक ने कहा—'हो जाने दो। देव देवालय में नहीं रहता।

परमेश्वर कहता है कि जहाँ भी दो-तीन मनुष्य एक मन से मेरे लिए इकट्ठे होंगे, वहाँ मैं उपस्थित हूँ। चलो हम मैदान में पेड़ के नीचे मंदिर खोल दें। तिलक निकल पड़े। उनके पीछे-पीछे लोग चल पड़े।

मंवाजी ने यह सब दूर से देखा। तुरंत ही एक लड़का तालियाँ लिये दौड़ता-दौड़ता उन लोगों के पीछे आया और उसने सबको वापस लौटाया। ईश्वर का वंद मंदिर खुल गया। उस दिन के तिलक के भाषण से लोगों की आँखें गीली हो गईं। उन्हींके एक अभंग की अंतिम पंक्ति—**'दास म्हाणे ख्रिस्ता तुझ्या कंथेवरी। मला जागा करी थोडकी शी।'**[1] आज उनके उपदेश की प्रतीक थी। भाषण समाप्त करते-करते तिलक ने कहा—'आज मेरा यह अंतिम उपदेश है। मैं फिर इस मंदिर में कदम न रखूँगा। मैं यहाँ से जाऊँगा और फिर कभी इस सातारा में पानी न पीऊँगा।' लोग रोने लगे। तिलक का कथन सत्य हुआ। वह उनका उस मंदिर में आखिरी उपदेश सिद्ध हुआ। परंतु देखिए, ईश्वर की योजना कितनी विलक्षण होती है!

जिस सातारा में लोगों को उपदेश सुनने के लिए पाठशाला में इकट्ठा होना पड़ता था, उसी सातारा के लोगों को तिलक की मृत्यु के वाद एक नवीन सुंदर मंदिर मिला और उस मंदिर को 'तिलक-स्मारक-मंदिर' नाम दिया गया।

जिस तरह कोई झूठा आदमी अपना कार्य सिद्ध करने के लिए कोई-न-कोई कारण खोजता रहता है, उसी तरह मृत्यु के लिए भी थोड़ा-सा कारण काफी हो जाता है। ठेस, हिचकी वगैरह किसी से भी उसका काम चल जाता है। कुछ ही दिन पहले ईख पेरकर गुड़ बनाने का काम शुरू हुआ था। भजन समाप्त होने पर लोग ईख का रस लाते और उसे उनके साथ कभी-कभी तिलक भी पी लेते। शायद वह उन्हें हज़म न हुआ होगा। वह वीमार से लगने लगे। फिर भी उनके गहन स्वाध्याय में कोई वाधा

---

१. हे प्रभु ईसा, तू अपनी गुदडी पर थोड़ा-सा स्थान मुझे भी दे दे।

न आई। वह रात को किसी भी समय जागकर लिखने वैठ जाते।

मैंने पुनः भुनभुनाहट शुरू की। वीमारी तथा आड़े वक्त के लिए हमारे पास एक भी पैसा नहीं है। वीमारी में हम कुछ भी न कर सकें, यह क्या है? पैसे को आप दुश्मन समझते हैं। अव आगे दवा के लिए पैसे कहाँ से आयँगे?'

वह कहते—'हम क्या खाएँ और क्या पिएँ, यह ईश्वर जानता है। मुझे विश्वास है कि वह दवा के लिए कोई कमी न पड़ने देगा। मेरी अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए भी वह कोई कमी न पड़ने देगा। मेरे वाद एक महीने तक तुम्हें दुःख में वैठे-वैठे खाने को भी वही देगा। उसके वाद अलवत्ता तुम्हें अपना कोई इंतज़ाम कर लेना चाहिए। शोक करने के लिए एक महीना काफी होता है।'

अव डॉक्टर केलकर वार-वार आने लगे।

एक दिन रात को तीन वजे तिलक उठकर मेरे कमरे में आए। वह मुझे नींद से कभी न जगाते थे, क्योंकि यदि मैं नींद से उठाई जाती हूँ, तो मेरे सारे वदन में कँपकँपी होने लगती है। मुझे उठाकर वह वोले, 'मैंने तुम्हें आज तक वहुत कष्ट दिया है। मुझे क्षमा कर दो!'

'आज आपको यह वात कैसे याद आ गई? क्या आपको कुछ हो रहा है?'

मैंने जल्दी-जल्दी से उठकर अँगीठी जलाई और पड़ौसी घनाजी को जगाया। हम लौटकर आए तो तिलक वैठे लिख रहे थे।

'क्या हाल है, गुरुजी?'

'अच्छा है।'

धनाजी चले गए और मैं भी सो गई।

रात को वैठकर तिलक ने अपना वसीयतनामा तैयार किया। यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि एक पैसा भी पास न होने पर आखिर तिलक ने वसीयतनामा काहे का वनाया था। इसलिए, उसका कुछ भाग नीचे दिया है। उसकी एक प्रति उन्होंने दत्तू को भेजी, एक मिशन के पास भेजी

और एक स्वयं अपने पास रखी।

'ईश्वर, ईसा और सौन्दर्य के प्रति (सौन्दर्य की मेरी अपनी ही कुछ कल्पना है) यदि मेरा सच्चा प्रेम न होता, ईसा से यदि मैं सच्चा प्रेम करने वाला न होता, तो मैं कुछ भिन्न ही मनुष्य हो गया होता। इसका कारण है जीवन-संबंधी मेरा विशिष्ट मत। कीर्त्ति और अपकीर्त्ति मुझे वुलवुले की तरह लगती है। मेरी मृत्यु के वाद मेरी अपकीर्त्ति करने से यदि लोगों का काम वनता हो, तो उन्हें खुशी से करनी चाहिए। मुझे उसकी कोई परवाह नहीं। मेरी जीवन की व्याख्या 'काल-मर्यादा' भी नहीं है। वल्कि, वह उपयुक्त कार्य-कर्तृत्व है। उपयुक्त कार्य यदि मनुष्य के हाथ से न हो सकता हो, तो यह मर जाय, यही अच्छा। मुझे दुनिया में जहाँ-तहाँ सौन्दर्य और कुरूपता, यही दो वातें दिखाई देती हैं। सौन्दर्य मुझे अच्छा लगता है, इसलिए मैं उससे प्रेम करता हूँ। ईसा से मेरा इतना अधिक प्रेम होने का कारण यह है कि वह ऐसे सौन्दर्य का सागर है—नहीं, वह सौन्दर्य-सर्वस्व है। वह स्वयं इस सौन्दर्य की मूर्त्ति है। स्वर्ग-प्राप्ति की आशा से अथवा नरक-प्राप्ति के भय से कोई इस सौन्दर्य से सच्चा प्रेम नहीं कर सकेगा। प्रेम निःस्वार्थ है। मुझे यह सौन्दर्य प्रिय है, इसीलिए मैं उससे सच्चा प्रेम करता हूँ। मेरा मत यह है कि स्वर्ग और नर्क दो अवस्थाएँ हैं और आत्मा इन दोनों में से एक अवस्था तक जाती है। यह मत रखने वाले मनुष्य के भीतर से यदि ईसा का यथार्थ रूप विलुप्त हो जाय, तो वह मनुष्य वहुत भयंकर वन जायगा।

'यदि मेरे आत्मीयों की मेरी अस्थियाँ रखने के स्थान पर मेरी कब्र वनाने की इच्छा हो, तो उन्हें उस कब्र पर—**'पुष्कळ अजुनीं उणा। प्रभु, मी पुष्कळ अजुनीं उणा'** (हे प्रभो, अभी मुझमें वहुत कमी है—वहुत कमी है।), यह चरण अंकित करना चाहिए। मेरे नाम के पहले 'रेवरेंड' 'मिस्टर' या 'श्रीयुत'-जैसा कोई उपपद नहीं लगाना चाहिए। उन्हें अँग्रेज़ी में 'एन० वी० तिलक' नहीं लिखना चाहिए; वल्कि मराठी में 'नारायण वामन तिलक' लिखना चाहिए। मैं अपने मित्रों से वड़े विश्वास के साथ

यह कहना चाहता हूँ कि मेरे नाम के साथ 'कवि' अथवा कोई सम्मान-सूचक शब्द न जोड़ने की वे सावधानी रखें।

"देहांत के लिए देवाज्ञा कब हो जायगी, यह कोई नहीं कह सकता और उसके विषय में व्यर्थ ही किसी को सोचते नहीं रहना चाहिए। देवाज्ञा को मैं कभी 'मृत्यु' नहीं कहूँगा, क्योंकि, वह ईश्वर की आज्ञा है, भगवान् का बुलावा है, वह नव-जीवन-जागृति है। इस मृत्यु का विचार यदि मेरे मन में आता है, तो वह मुझे कभी निरुत्साहित नहीं करता। **'अनायासेन मरणं विना दैन्येन जीवनम्'** (मृत्यु के समय भी कष्ट नहीं, जीवित रहते समय भी कष्ट नहीं), यह ईसाई का अधिकार है और ईसा के द्वार पर मैं इसका कल्पनातीत अनुभव कर रहा हूँ।

"मैं अनुभव करता हूँ कि जितना मैं अपने देश से प्रेम करता हूँ, उतना प्रेम मैंने कभी अपने माँ-बाप से, पत्नी से, संतान से, मित्र से, और तो और, स्वयं अपने-आपसे भी नहीं किया है।

"भारतीय ईसा-भक्त को अपने गिरजाघरों की वृद्धि करने की, उन्हें सच्चे रूप में स्वतंत्र बनाने की, और उनमें चैतन्य उत्पन्न करने की पूर्ण रूप से लगन लग जानी चाहिए।

"मेरी मृत्यु के बाद मेरे शरीर का दहन किया जाय, शव-यात्रा के समय काला रंग वर्जित किया जाय, मेरी अस्थियाँ अहमदनगर की 'सिमेटरी' में गाड़ी जायँ और उक्त नगर की 'ईश्वर-विद्या की कक्षा' में मेरा और डॉक्टर ह्यूम का चित्र, दोनों नज़दीक-नज़दीक लगाकर, डॉक्टर ह्यूम के चित्र के नीचे 'इसने' और मेरे चित्र के नीचे 'इसे सँभाला' ये शब्द लिखे जायँ।" यह भी तिलक ने अपने वसीयतनामे में लिख रखा था।

डॉक्टर ह्यूम की एक कन्या मिसेज़ ली सातारा में रहती थीं उनके लिए भी तिलक ने एक अँग्रेज़ी पत्र टाइप करके रखा था। उसका पहला ही वाक्य यह है—

1. THE MISSION, I hope, will take care of my wife. She is an angle but she has her weakness. Will

you be her sister.

अपने वसीयतनामे की प्रतियाँ तिलक ने जिस डाक से भेजीं, उसी डाक से पूना के डॉक्टर दौलतराम गोरे को भी एक पत्र भेजा। डॉक्टर केलकर हमेशा आते ही थे। तिलक को वह अपने घर में रखने के लिए भी तैयार थे। परंतु उनका निजी अस्पताल न था। डॉक्टर गोरे का पत्र आया कि तुम जब चाहो तब पूना आ सकते हो। तुम्हारे लिए हम सब प्रकार का इंतजाम रखेंगे। हमने सातारा छोड़ दिया। तिलक ने उपासना के समय जैसा कहा था, उसके अनुसार उनका कदम फिर सातारा की भूमि पर न पड़ा।

अपने कथन के अनुसार डॉक्टर गोरे ने सारी व्यवस्था बहुत अच्छी रखी। स्वतन्त्र कमरा, वार्ड-ब्वॉय और दवाएँ मुफ़्त प्राप्त होने की ईश्वर ने योजना कर दी। उसी तरह बर्तन, अँगीठियाँ, नहाने के लिए गरम पानी, फुटकर चीज़ें, इन सबको उपलब्ध कराने का दायित्व एक माता ने ले लिया। यहाँ तक सब ठीक हो गया। परंतु मुख्य बात रह गई पैसों की। परंतु, पैसा भी जैसे हाथ जोड़कर सामने खड़ा था। तिलक की बीमारी का समाचार सुनते ही उग्र मंजुलाबाई का लड़का हमसे खास तौर पर मिलने के लिए पूना आया। उसने कुछ फल और पचास रुपए लाकर मुझे दिये और कहा, "माँ इन्हें आप पपा के लिए खर्च करें। मैंने इतना अपनी तनख्वाह से बचाकर जमा किया है।" मुझे आनन्द हुआ और दुःख भी हुआ। यह कितना छोटा है और आज मुझे यह देता है! जिसकी मदद मुझे करनी चाहिए, जिसे मुझे देना चाहिए और जिसके लिए थोड़ा बहुत किया भी है, उससे इस तरह उऋण होना मुझे बड़ा अजीब-सा लगा, परंतु मैं उसे निराश नहीं करना चाहती थी, उसे निरुत्साहित नहीं करना चाहती थी। मैंने उन रुपयों को लेकर अलग रख दिया। दूसरे दिन से कहीं-न-कहीं से रुपए आने लगे। दूध, सोडा, फल तथा हमारा और हमारे यहाँ आने वाले मेहमानों का खर्च करीब-करीब रोज़ छह-सात रुपया होता। परंतु इतना खर्च करके भी मेरे पास थोड़े-बहुत रुपए रोज़ बच रहते। रविवार को

छोड़कर, अन्य दिन एक रुपए से लेकर सौ रुपए तक आते। काम के लिए नौकरानी थी और मदद के लिए रामभाऊ धर्माधिकारी था। वह वेचारा रात-दिन खड़ा रहता।

"—**जगन्नाथ वाप आई ! उणें मला कांहीं नाहीं**"[१]—तिलक के इस अभंग का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा। यहाँ भी तिलक विस्तर पर पड़े नहीं रहे। वह दूसरे रोगियों के पास जाते, प्रार्थना करते, भजन करते। ईसा के एक दरवारी से वह भजन गवाते। इस सिलसिले में कई अभंगों की रचना हुई। कभी वह भाषण भी देते, परंतु कभी-कभी वह इतने व्याकुल हो जाते कि मैं घवरा जाती। मैं ज्यों ही किसी समय डॉक्टर गोरे के पास भागती, वह फौरन मेरे साथ चले आते और वैठे रहते। मुँह का ग्रास थाली में ज्यों-का-त्यों छोड़कर वह एकदम उठ आते। हाँ, अगर आपरेशन-रूम में रहते, तो फिर डॉक्टर मेरे हाथ न लगते।

हमें जाई का पत्र मिला। जाई उग्र मंजुलावाई की लड़की थी। उस-पर तिलक का वेटी-जैसा प्यार था। नागपुर में वह नर्स का काम करती थी। वहीं वह बीमार हो गई। तिलक के सातारा से रवाना होने से पहले वह उनसे मिलने से लिए नागपुर से रवाना हुई। परंतु वीच ही में स्वयं उसकी तवीयत वहुत खराव हो जाने के कारण वह नागपुर वापस चली गई। अव उसका पत्र आया कि पपा, मैं इधर जितनी वीमार हूँ, उतने ही आप उधर वीमार हैं। मेरी आशा तो डॉक्टरों ने अव छोड़ दी है। आपसे भेंट होना अव असंभव है।

भाई को भी उसका पत्र मिला था कि अगर आ सकते हो, तो मुझसे आकर मिल जाओ। उस पत्र को लेकर उसका भाई हमारे पास आया। हमने आग्रहपूर्वक अपने पचास रुपए वापस ले लेने के लिए उससे कहा। उन रुपयों को लेने के लिए हमने उसे वाध्य किया और रुपये देकर नागपुर भेजा। पंडिता रमावाई ने मनोरमावाई को हमसे मिलने भेजा। मनोरमा-

---

१. ईश्वर मेरा माँ-वाप है मुझे किसी चीज़ की कमी नहीं है।

बाई अपने साथ हमारे लिए सौ रुपए और खाने का सामान लेकर आई । जैसा कि तिलक चाहते थे, हमारे यहाँ खूब आना-जाना हुआ । छुट्टी लेकर बंबई से बेबी आ गई । दत्तू ने भी कुछ दिनों की छुट्टी ले ली थी । बहू का स्वास्थ्य ठीक न था । इसके बावजूद, उसने कुछ चीज़ें तैयार करके दत्तू के साथ भेज दी थीं ।

बहू की बीमारी जिस तरह उसके माँ-बाप के अनुकूल हुई, उसी तरह वह हमारे भी अनुकूल हुई थी । 'मैं अब दादा बनूँगा' इस विचार से तिलक को भी बीच-बीच में आनन्द प्राप्त होता था । मैंने उस गड़बड़ में भी नाती के लिए कपड़ा सीना शुरू कर दिया था । उनमें एक गद्दी तिलक ने अपने हाथ से सी थी ।

तिलक को ऐसा बड़ा असाध्य रोग आखिर कौन-सा हो गया था ? वह थी बवासीर ? परंतु उस रोग के दर्द से वह कभी-कभी अत्यन्त व्याकुल हो जाते । वह डॉक्टर गोरे के पीछे लगे थे कि उनकी बवासीर का ऑपरेशन कर दिया जाय । उन्हें थोड़ी ब्रांकाइटिस हो गई थी, इसलिए डॉक्टर गोरे कहते थे कि तुम्हें क्लोरोफॉर्म नहीं दिया जा सकेगा । दवा ही से धीरे-धीरे आराम हो जायगा । उन्होंने और भी एक-दो डॉक्टरों से तिलक के स्वास्थ्य की जाँच कराई और वे भी डॉक्टर गोरे ही से सहमत हुए ।

तिलक का कष्ट जितना-जितना बढ़ता, उतने-उतने अधिकाधिक मधुर अभंग वह लिखते । पूना के दवाखाने में उन्होंने तीस-पैंतीस अभंग लिखे । जाई की मृत्यु का समाचार हमें यहीं मिला और उस पर उन्होंने एक अभंग लिखा । कवि गोविंदाग्रज की मृत्यु पर उनके द्वारा लिखी गई कविता भी इसी समय की रचना है ।

थोड़े दिनों के बाद उनकी तबीयत अच्छी होने लगी । लड़के वापस बंबई चले गए । यद्यपि उन्हें अच्छा लग रहा था, फिर भी उनका मन उनसे न कहता था कि वह अच्छे हैं । अच्छे खाते-पीते थे, लिखते थे, पढ़ते थे, घूमते थे, बातचीत करते थे, गाते थे । परंतु, उनके मस्तिष्क में यह बात अच्छी तरह जम गई थी कि उनका ऑपरेशन होना ही चाहिए । इसी समय

मेरे समधी का पत्र आया कि जे० जे० अस्पताल में कोई वहुत अच्छा सर्जन आया है। इसके तुरंत वाद ही फ़िच्ले साहव का भी पत्र आया कि जे० जे० हॉस्पिटल में वहुत अच्छा सर्जन आया है और वह मेरा मित्र है। मैं तुम्हें वहाँ भेजने की पूरी व्यवस्था किये देता हूँ।

इधर पूना के दवाखाने के सारे लोग उनके वंबई जाने के विरुद्ध थे। डॉक्टर गोरे ने तिलक से कोई सौ वार कहा कि आप न जायँ। मैं आपकी सारी व्यवस्था यहीं किये देता हूँ। ऑपरेशन से गड़वड़ हो जायगी। मैं विलकुल नहीं चाहता कि आप ऑपरेशन करायँ।

तिलक ने कहा, "मुझे वहुत काम करना है। मुझे पूर्ण स्वस्थय हो जाना चाहिए। मुझे 'ईसायन' लिखनी है, ईश्वर के दरवार का काम पड़ा है। तुम लोग ईसा की इच्छा के आड़े न आओ!" यह सुनकर डॉक्टर गोरे निरुत्तर हो गए।

उधर वहूरानी को कुछ थोड़ा-वहुत आराम हुआ ही था कि दत्तू बीमार पड़ा। हमें सिर्फ़ इतना ही पता चला था कि उसे मामूली बुखार है। परंतु उसे हो गया था 'टाइफाइड' और वहू को था छठा महीना।

अंत में तिलक का वंवई जाना निश्चित हो गया। फ़िच्ले साहव ने उनके लिए सैकंड क्लास का डिब्वा रिज़र्व कराया। तिलक का जाना तो दवाखाने के लोगों को वहुत बुरा लगा। डॉक्टर गोरे की आँखें गीली हो गईं। उन्हें पक्का विश्वास था कि आज हम गुरु महाराज की यह शव-यात्रा ही देख रहे हैं। वह और उनकी पत्नी तिलक को 'गुरु महाराज' कहा करते।

हम पूना से रात की गाड़ी में वैठे और दूसरे दिन सुवह वाईकला स्टेशन पर उतरे। जे० जे० हॉस्पिटल से तिलक को लाने के लिए 'स्ट्रेचर' भेजा गया था। उसे देखकर तिलक हँसने लगे। उन्होंने उसे लौटा दिया और खुद जाकर सवारी वगैरह तय की। हम दत्तू के घर के द्वार के पास उतरे। तिलक भी अटारी पर जा रहे थे, परंतु मलेलू पाकळ वोले, 'अव आप यहाँ न रुकिये। एकदम अस्पताल जाइए!' 'मुझे दत्तू से मिल लेने दो।

प्रात:क्रियाओं से निवृत्त हो लेने दो।'—तिलक बोले। परंतु ऊँ हूँ। उन्हें मौत ही बुला रही थी। वह सीढ़ी भी न चढ़े। अकेली कफ़नी पहने पैदल ही वह जे० जे० अस्पताल चले गए। पराधीन जीवन और पुस्तकीय विद्या— कुछ ऐसा ही हो गया। जिस दिन तिलक पैदल गये, उसके नवें दिन चार लोगों के कंधों पर जे० जे० अस्पताल से बाहर निकले।

तिलक जे० जे० अस्पताल गये। मैं और बेबी अटारी पर गईं। बाईकला स्टेशन पर ही मैं इतनी हताश हो गई थी और मेरे हाथ-पाँव इतने फूल गए थे कि कुछ न पूछो। ऊपर आकर देखती हूँ तो दत्तू का यह हाल था जैसे छह महीने से बीमार हो। उसे देखकर मेरा कलेजा काँप उठा। मैं यद्यपि बीमार न थी, तथापि लगातार बिस्तर पर पड़ी रहती थी। बहू को दत्तू का बहुत-सा काम करना पड़ता। तिलक की खबर लेने वाला घर में कोई न था। बंबई में हमारे कदम पड़ते ही हम उनसे वंचित हो गए और वह हमसे वंचित हो गए। भविष्य जानकर मैंने पाकळ के हाथ संदेश भेजा कि डॉक्टर गोरे ऑपरेशन के खिलाफ़ हैं। पाकळ के हाथ उनका संदेश आया कि क्या सर्जन हजामत बनाने का धंधा करता है? बुद्धिमान को कौन पढ़ाये? सर्जन बेचारा कोई धंधा क्यों न करता हो, लेकिन, 'केस' हाथ में लेने के बाद तीसरे ही दिन वह इंग्लैंड चल दिया। तब उसकी सर्जरी और नाई की किसवत में अगर कोई अंतर हो, तो वह मुझ-जैसी गँवार औरत को कैसे मालूम हो?

'सिंहस्थ' के पर्व पर पंडों की बड़ी भरमार होती है। उसी तरह जे० जे० हॉस्पिटल में उस समय परीक्षा का पर्व होने के कारण विद्यार्थियों की बड़ी भरमार थी। भावी डॉक्टर लोग हर रोगी के सारे अवयवों के रोगों की चिकित्सा करने के लिए इकट्ठे होते। तिलक की कसकर जाँच की जा रही थी। हमारा घर तो अब बीमारियों का वास-स्थान हो गया था। बहू कमज़ोर, लड़का बिस्तर पकड़े हुए, बंबई में कदम रखते ही मैंने भी बिस्तर पकड़ा, चिकी के लिए बंबई की हवा अनुकूल न होने के कारण वह किसी तरह दम पकड़े हुए थी। ईश्वर की कृपा से केवल बेबी अच्छी

थी। नज़दीक कोई आदमी न था। वेवी अस्पताल जाकर पूछ-ताछ कर आती थी। प्रोफेसर पाटणकर उस वक्त बंवई में थे। वह अपना काम सँभालकर, वचे हुए समय में हमें सहायता देने आ जाते थे। वह मई का महीना था, इसलिए वहुत-से परिचित लोग गरमी विताने दूसरी जगह चले गए थे। वाकी लोग अपने-अपने काम में व्यस्त थे! हमारे समधी और समधिन माथेरान गए। हमारी वहू, उनकी इकलौती वेटी की हालत ऐसी थी। इसलिए, स्वभावतः वे यह चाहते थे कि उसे भी अपने साथ ले जायँ। परंतु उसका पैर न उठता था। वह बंवई ही में रह गई। उस समय वेवी, वावू पाटणकर और मनोहरराव उजगरे ने जो कुछ किया, वह अमूल्य था। पाँच दिनों के वाद वेवी मुझे ज़वरदस्ती अस्पताल ले गई। वहाँ जाकर देखा तो तिलक वहाँ भी पड़े-पड़े लिख ही रहे थे। 'ज्ञानोदय' के लिए लेख और कुछ अभंग उन्होंने मृत्यु से लड़ते हुए लिखे थे।

उनसे मेरी अंतिम वातचीत और उनके होश में रहते हुए मेरी उनसे भेंट इस लड़की के कारण ही हुई।

"मैं अव अच्छा हूँ। जल्द ही स्वस्थ हो जाऊँगा। चिन्ता न करो। मुझे अपने दो वड़े काम अभी करने हैं। 'ईसायन' और 'ईसा का दरवार'।"

"मेरी पसंदगी का गीत कौन-सा है, वताओ तो?"

'शत्रु गराडा घालून वसले वसोत त्यांना कोण पुसे
पिता परात्पर ज्याचा त्याहुन पर्वतशतही धीर नसे
आकाशाची कुर्हाड आली कुर्हाड आली येऊँ द्या
पिता परात्पर ज्याचा प्याला खेळाया होईल सध्यां—
आधी व्याधी उभे पुढें, हें—करामरण पाठी मागें
पिता परात्पर ज्याचा त्याशीं शक्त न है लढण्याजोगें"[1]

---

१. शत्रु हमें घेरे वैठे है, पर उन्हें वैठने दो। उन्हें पूछता कौन है? जिसके पीछे पिता परमेश्वर खड़ा है, संकटों के सैंकड़ों पहाड़ भी उसका वाल वाँका नहीं कर सकते। अगर आसमान से वज्र भी वरसे, तो उसे भी वरसने दो। जिसका

'सन् १६१६ ध्यान में रखने योग्य होगा ।'

यह उपदेश मेरे लिए है, यह मैं जान गई। मेरा हृदय भर आया। मेरी गीली आँखें उन्हें दिखाई न दें, इसलिए, मैं धीरे से बाहर आई और जी भरकर रोई। उसी दिन बहू उनकी खबर लेने के लिए गई। उसे अपने पास बिठाकर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया और कहा कि तेरे अब पुत्र होगा।

दूसरे दिन मैडीकल कॉलेज का दत्तू का एक मित्र आकर कहने लगा कि तिलक को बुखार आ गया है, परंतु चिन्ता का कोई कारण नहीं है। वही बुखार १०५ तक चढ़ा। तीसरे दिन बाबू पाटणकर रात-भर उनके पास बैठा रहा।

शुक्रवार तारीख ६ मई १६१६ को दोपहर के दो बजे बेबी जे० जे० अस्पताल में उनसे मिलने गई। मैं और दत्तू सोये ही थे। दत्तू का मन उससे कहने लगा कि पपा से मिलने जाना चाहिए। वह इस समय तक बिस्तर से उठता भी न था, फिर भी उस समय वह उठकर मेरे पास आया और कहने लगा—'चलो, हम दोनों हो आयें।' परंतु, मेरी हिम्मत न होती थी। अंत में हम पैदल ही चल पड़े। वह मुझे और मैं उसे सँभालते हुए जा रहे थे। जैसे-तैसे हम अस्पताल पहुँचे। द्वार के पास बेबी एक पेड़ से टिकी खड़ी थी। हम सीधे उनके वार्ड में पहुँचे। उन्हें मॉर्फिया का इंजेक्शन दिया गया था! नज़दीक ही मनोहरराव उजगरे और स्वर्गीय काशिनाथ रघुनाथ मित्र बैठे थे। और भी दो एक व्यक्ति थे। अंत में तिलक को उनका पुत्र मिला। उन्होंने उसकी ओर आँख भरकर देखा। उनसे बोला नहीं जाता था। पर उन्होंने मुँह की ओर अंगुली दिखाई। दत्तू ने उनके मुँह में चम्मच-भर पानी डाला और उनके प्राण-पखेरू उड़ गए। वह रोज़ सुबह जो प्रभाती गाया करते थे, वह मुझे याद हो आई—

पिता परमेश्वर है, उसके लिए वह खिलौना बन जायगा। आगे आधि-व्याधि खड़ी हैं, पीछे जरा और मृत्यु हैं। परंतु जिसका पिता परमेश्वर है, उससे लड़ने की इनमें शक्ति नहीं है।

ऊठ ऊठ माझ्या जिवा। वंदुनि दिनरजनीच्या घवा
आयुर्मार्गी आक्रम नवा। कर, गौरवा देवाच्या[1]

वेबी बाहर खड़ी थी। मैं उसके पास गई और मैंने उसके गले में बाँहें डाल दीं। उससे कहा—"वेबी, यह समझ ले कि तेरी माँ मर गई, बाप ज़िंदा है। मैं तुझे किसी भी बात की कमी न होने दूँगी। तेरी शिक्षा मैं पूरी करूँगी।"

हम दोनों घर आए। थोड़ी देर के बाद श्री मित्र और मनोहरराव उजगरे ने दत्तू को घर पहुँचाया। चिकी द्वार ही में हमारी बाट जोहती हुई खड़ी थी। उसने पूछा—

'दादाजी कैसे हैं?'

'अब अच्छे हैं।'

'तो उनसे मिलने के लिए मुझे क्यों नहीं ले जातीं?'

'वह तुझसे कल मिलेंगे।'

हमारे घर में मौत के आने के कोई चिन्ह नज़र नहीं आते थे। पास-पड़ोस के लोगों को पता तक न चला। तिलक की इच्छानुसार यहाँ तक तो सब बातें ठीक हुईं। मनोहरराव उजगरे के मन और शरीर को विश्राम मिला या नहीं, भगवान् जाने। आगे का सारा प्रबंध बिना कहे उन्होंने अपने ज़िम्मे ले लिया। तार भेजना, टेलीफोन करना, छापाखानों में जाना, समय निश्चित करना यह सब-कुछ उन्होंने मलेलू की सम्मति से किया। महाबलेश्वर से मिशनरियों का तार आया कि तिलक के वसीयतनामे के अनुसार सब बातें की जायँ। तब हमें उस वसीयतनामे की याद आई। मनोहरराव बोले—क्या करना चाहिए? हमने कहा कि सब-कुछ तिलक की इच्छानुसार ही होना चाहिए।

जिस घर से छह महीने पहले बड़े दिन का उत्सव मनाकर तिलक

---

१. उठो, सूर्य की वंदना करके ईश्वर के यश के लिए जीवन-पथ पर नया क़दम बढ़ाओ!

बाहर निकले थे, उसी घर में तारीख १० मई को उन्हें वापस लाया गया। चिकी को अब सच बात का पता चला! बहुत-से लोग बंबई से बाहर चले गए थे, फिर भी, अखबार, तार और टेलीफोन के कारण अहमद नगर अलीबाग, पूना, लोनावला आदि स्थानों से आकर लोग इकट्ठे हुए। तिलक की इच्छानुसार काला रंग बिलकुल वर्जित कर दिया गया था और काली या सफ़ेद गाड़ी का सवाल ही खड़ा न हुआ, क्योंकि उनका संदूक हाथों-हाथ उठाकर ले जाने का लोगों ने निश्चय किया।

वाईकला का गिरजाघर लोगों से ठसाठस भर गया था। उनमें हिंदू भी थे और ईसाई भी। मैं रोती न थी, पर होश में न थी। प्रार्थना हो जाने पर लोग भजन गाते हुए उस संदूक को वरली के श्मशान ले गए और दूसरे दिन एक छोटे-से संदूक में उनकी अस्थियाँ समेटकर ले आए।

शव-यात्रा के समय भजन-मंडली द्वारा चुना गया भजन तिलक का ही था और आज सोलह वर्ष बीत जाने पर भी ऐसा लगता है, जैसे उसके स्वर और शब्द आज भी मेरे कानों में ज्यों-के-त्यों गूंज रहे हैं। वह भजन यह है—

भय काय तया प्रभु ज्याचा रे—ध्रु०
सर्व विसरली प्रभुमय झाली पूर्ण जयाची वाचा रे—१
जगांत विचरे उपकारास्तव परि नच तो जगताचा रे—२
येथें निर्धन परत्र ज्याचा सर्व धनाचा सांचा रे—३
देह तयाचा परंतु आत्मा त्यांत वसे ख्रिस्ताचा रे—४
आधिव्याधी मरणावरती पाय अशा पुरुषाचा रे—५[1]

१. उसे क्या भय, जिसका प्रभु है, जिसकी वाचा सब-कुछ भूलकर प्रभुमय हो गई है, जो जगत् में उपकार करने के लिए विचरण करता है, किन्तु जगत् का नहीं है; जो इस लोक में निर्धन है, किन्तु उस लोक में जिसके सारे धन का संचय है; जिसका केवल शरीर उसका है, परंतु उसमें वास करने वाली आत्मा ईसा की है। आधि, व्याधि और मृत्यु ऐसे लोगों के पैरों-तले रहती हैं।

श्रीमती

तिलक की अस्थियाँ संदूक में वन्द होते ही मुझे अपना पृथक् अस्तित्व महसूस होने लगा। दूसरे ही दिन से मुझे बहुत-से सहानुभूति के पत्र मिलने लगे। उन पत्रों पर अपने नाम के पहले के सदा के सुपरिचित 'सौ०' (सौभाग्यवती) के स्थान पर 'श्रीमती' लिखा देखकर, मेरा मन व्यग्र हो उठता। 'श्रीमती' नाम भले ही वड़े सम्मान का हो, फिर भी, वह मुझे वड़ा अशुभ लगता। तिलक के धर्म-परिवर्तन के कारण जब प्रथम हमारा वियोग हुआ था, उस समय जिस सखी ने मेरा साथ दिया था, वही इस समय फिर मेरी सहायता के लिए दौड़ आई। वह मेरी सखी थी—कविता। तिलक के बाद लिखी गई मेरी पहली ही कविता 'श्रीमती' है। इसके तीन महीने के बाद, अपनी नानी को देखकर फिर मैंने कविता लिखी। तिलक के बाद मेरे द्वारा लिखी गई यह दूसरी कविता है। बच्चे कहने लगे, 'माँ, अच्छा किया, जो आपने कविता लिखी। अब तो लोग यह न कह सकेंगे कि आपके लिए पपा ही कविता लिख दिया करते थे।' मैंने कहा, 'अरे भई, लोगों की भली चलाई! वे अब यह भी कह सकते हैं कि तिलक ने इन सारे प्रसंगों की पहले ही से कल्पना करके उन पर कविताएँ लिखकर रख दी हैं। हम यह कैसे कह सकते हैं कि लोग ऐसा न कहेंगे?'

पता चला कि बंबई में मिशन में मुझे भी कोई काम मिल रहा है। मुझे क्या काम मिलेगा? मैंने सोचा—होगा कोई भजन-कीर्तन का काम! परन्तु वह भजन-कीर्तन का काम न था।। 'श्रीमती' के योग्य काम ही मुझे

दिया गया था। काम 'मैट्रन' का था। बहुधा यह काम करने वाली श्रीमती (विधवा) ही होती हैं। हर महीने पैंतालीस रुपए वेतन मिलता है और रहने के लिए विस्तीर्ण स्थान रहता है। दत्तू भी यहाँ रह सकेगा! फिर मेरे आनंद का क्या पूछना ?

तिलक चले गए, फिर भी लड़का, बहू और लड़की मेरे नज़दीक रहेंगे। इसलिए मुझे बड़ा संतोष हुआ। परंतु गुलाब में काँटे होते ही हैं।

मैंने नौकरी की कक्षा में कदम रखा। श्रीमती हो जाने के कारण यदि यह कहूँ कि इस कक्षा में मैंने 'श्री' से पढ़ना आरम्भ किया, तो कोई हर्ज नहीं। अब मेरे सामने तख्तियाँ आईं। रोटी की तख्ती, सब्ज़ी की तख्ती, बाज़ार की तख्ती, कूड़े की तख्ती, इस तरह नाना प्रकार की तख्तियाँ (पट्टियाँ) मेरे सामने आईं। बच्चे जब छोटे थे, तब मैं ही उनकी शिक्षिका थी। परन्तु अब वे मेरे शिक्षक हुए। बाज़ार के हिसाब की अँग्रेज़ी में जाँच करनी पड़ती थी।

उन्होंने मुझे एक हिकमत सिखा दी। मुझे अँग्रेजी के अंक सिखा दिए। और शब्द का पहला अक्षर देखकर और माल देखकर दस्तखत क़रने की रीति मुझे सिखा दी थी। C—नारियल की गिरी, S—शक्कर, P—आलू, T—चाय, इस रीति से मैं हिसाब जाँचा करती।

जब मैं ग्यारह वर्ष की बच्ची थी, तभी से मेरा जीवन तिलक के साथ चल रहा था। बीच में पाँच साल के लिए हम अलग हो गए थे, परन्तु उन पाँच वर्षों में तिलक एक क्षण के लिए भी मेरे सामने से नहीं हिले, और न मैं उनके सामने से दूर हुई। मैं जो हूँ, वह सब तिलक के कारण। तिलक अपने आदर्श निश्चित कर लेते, मैं आँखें मूँदकर उन्हें आचरण में लाती। वह कविताएँ लिखते, मैं उन्हें गाती। वह भीख माँगते, तो मैं उनकी झोली पकड़कर चलती। हम दोनों में जो झगड़े होते थे, वे तब हुआ करते थे, जब मैं उनकी प्रगति का वेग सहन नहीं कर सकती थी। पूरे वेग से दौड़ती हुई 'डेक्कन क्वीन' रेलगाड़ी के पीछे बँधी खटारा गाड़ी की जैसी उठा-पटक होगी, वैसी ही मेरी हुआ करती थी। उनका वेग यदि मेरे सहन करने योग्य

होता और मुझे उनके आदर्शों को समझने का मौका मिल जाता तो फिर हमारी गाड़ी सुचारु रूप से चलती। इंजिन में जो स्वयं-शक्ति होती है, वह तिलक में थी। ज्यों ही मेरी गाड़ी एक बार रास्ते से लग जाती कि फिर उसे कोई नहीं रोक सकता था।

परन्तु अब मेरा सूत्रधार चला गया। एक नई दुनिया मेरे आस-पास पैदा हो गई। नये सिरे से जीवन आरंभ हुआ।

इस काम को करने लायक शिक्षा मेरे पास न थी और मन भी उतना तैयार न था।

मेम साहब रोज़ दो बार आतीं। मैं यह न समझ पाती कि वह क्यों आती हैं, इस तरह का काम करने का मेरा यह पहला ही अवसर था। परन्तु लड़कियों ही से मुझे मालूम हुआ कि ऐसी प्रथा है कि मैट्रन को रोज़ कम-से-कम दो बार मेम साहब के कानों के पास मुँह ले जाना चाहिए। कानों के पास मुँह ले जाने का मतलब यह था कि मैट्रन को मेम साहब के कानों में ये शिकायतें करनी चाहिएँ कि अमुक लड़की के पास चोरी से पत्र आया, अमुक ने आँख का इशारा किया, अमुक उद्दंडता से पेश आई, अमुक उससे बातें कर रही थी आदि। यह कानाफूसी हो जाने पर उन-उन अपराधिनियों को उनके अपराध की गंभीरता के अनुसार दंड दिये जाने की प्रथा थी।

सभी लड़कियाँ अच्छी कैसे होंगी? ढाई सौ जगहों की ढाई सौ लड़कियाँ थीं! एक गाँव के, एक घर के, एक माँ-बाप के लड़कों में भी कितनी भिन्नता दिखाई देती है और इसी भिन्नता में तो आनंद है। सभी पूना की गुड़ियाँ हों, तो किस काम की? बुरा न होता, तो अच्छे का पता न चलता।

मैंने सारे जीवन में कभी किसी की चुगली नहीं की और न किसी की चापलूसी की है। सिधाई और स्पष्ट-कथन हमारी विशेषता है। परंतु वे यहाँ दुर्गुण माने जाते थे और इसके कारण दो-तीन वर्षों ही में हम यहाँ बिलकुल अप्रिय हो गए। परन्तु हमें निकालें कैसे? यह एक बड़ा प्रश्न

उनके सामने उपस्थित हो गया।

यहाँ मेरे जीवन में एक अत्यन्त कठिन प्रसंग आया।

कुछ दिनों से हमारी मेम साहब और उनके पति को तैरने का बड़ा शौक हो गया था।

"आपणासारिखे करिती तात्काळ। नाहीं काळवेळ तयांलागीं[1]।" उन्होंने लड़कियों को भी तैरने ले जाना आरम्भ कर दिया। आज विद्यालय की भी छुट्टी थी और मन में भी शौक था। इसलिए लड़कियों को लेकर ही तैरने जाने का उन्होंने निश्चय किया।

साहब ने तैरने के लिए पहले ही से एक शान्त और निर्जन स्थान निश्चित कर रखा था। पिछली रात ही को यह तय हो चुका था कि लड़कियाँ, मास्टरनियाँ और मैं, सब इकट्ठी होकर एक साथ जायँगे। सब लोग सुबह उठकर, अपने-अपने कामों से जल्दी निवट गईं। बड़े लोगों को भी ऐसे समय कुछ नहीं सूझता। फिर छोटी लड़कियों के उत्साह का क्या पूछना ? आज उनके आनंद में ज्वार आ गया था। दो-दो ग्रास खाकर, हर लड़की ने विना चख-चख के अपनी व्यवस्था ठीक ढंग से कर ली और सब लड़कियाँ तैयार हो गईं। रात ही को सब लड़कियों ने अपने-अपने जेवर उतारकर मेरे हवाले कर दिए थे। वैसे उनके पास जेवर ही क्या थे। परन्तु छोटे-छोटे जेवर मिलकर वहुत-से हो गए थे।

साहब मोटर से माहीम गए। मेम साहब हम लोगों के साथ रेलगाड़ी से गईं। वह माहीम पर उतरकर, साहव के साथ आगे बढ़ गईं। हम लोग पैदल गए।

स्टेशन पर उतरते ही हमें एक लड़की के पिता मिले। हमारे साथ उन्होंने वहुत बातें कीं। वह उनकी इकलौती लड़की थी। वैसे उनके लड़के वहुत थे। परन्तु यह लड़की उनकी अंतिम संतान थी और सबकी पीठ पर

---

१. तत्काल अपने सरीखा वना लेते हैं। उन्हें इसमें देर नहीं लगती।

पैर रखकर आई थी। वह बड़ी बुद्धिमती और होशियार होने के कारण सबको अत्यन्त प्रिय लगती थी।

मैंने अभी तक शासन कभी नहीं किया था। इसलिए मुझसे शासन की धाक जमाते न बनी। लड़कियाँ और मैं आपस में रिश्तेदारों की तरह वर्ताव करते थे। वे मुझसे ऐसे पेश आती थीं, जैसे मैं उनकी कोई चाची, मौसी, दादी या नानी हूँ। मैं भी उनसे आत्मीय-जैसा व्यवहार करती। पर ये सारे रिश्ते शुष्क ही थे।

हम सब लोग मिल-जुलकर जा रही थीं। सब लड़कियाँ मेरा ही मज़ाक उड़ा रही थीं। कोई कहती—

'देख तो, नानी कैसी दौड़ती हैं?'

'अरी, उनसे जल्दी-जल्दी चलते ही नहीं बनता, तो फिर दौड़ेंगी क्या?'

'अगर नानी गिर पड़ें, तो?'

'तो मैं उन्हें उठा लूँगी।'

'तू अकेली नहीं उठा सकी तो?'

'अरी, हम चार आदमी लाकर उनसे उठवाकर ले जायँगी नानी को।'

'नहीं तो एक डोली में डालकर ले जायँगी।'

'और वह जख्मी हो गईं तो?'

'पट्टी बाँध देंगी।'

'और डूब गईं तो?'

'पानी से वाहर निकाल लेंगी।'

'और मर गईं तो?'

'हम रोयँगी।'

'अरी, नानी के वारे में ऐसी बातें न कर।'

'लड़कियो, मेरे वारे में तुम चाहे जो कहो, पर तुम लोग कुशलपूर्वक रहो। बातें करते समय हमेशा शुभ ही बोलना चाहिए। जो होना है, वह होकर ही रहता है।'

हम लोग करीव दस वजे जुहू पहूँचे। सामान वगैरह जमाया। किसी

ने अपनी दरियाँ बिछा दीं। कोई लोटने लगी, कोई पढ़ने लगी, कोई इधर-उधर फुदकने लगी। बच्चे और पशु एक ही-से होते हैं। पशुओं को जहाँ चारा मिला कि वे आगे ही बढ़ते जाते हैं। बच्चों को कोई मज़ेदार बात दिखाई दी कि बस, चले वे उसके पीछे-पीछे।

मेम साहब बोलीं—'ऐसा स्थान कभी न मिला था और न भविष्य में मिलेगा। यह हमेशा स्मरण रहेगा।'

उनकी यह भविष्य-वाणी सत्य सिद्ध हुई।

मैं गोदावरी के किनारे की रहने वाली थी। समुद्र से मेरी जान-पहचान न थी। सिर्फ़ दूर से उसे देखा-भर था।

यहाँ आते समय बहुत-से लोगों ने हमें टोका था कि आज नाग पंचमी है। समुद्र में ज्वार आयगा। इसलिए तुम लोग मत जाओ। परन्तु हमारे साहब और मेम साहब ने किसी से कह दिया था कि ज्वार दो बजे आयगा और इसी बात पर वे भरोसा कर रहे थे।

हम जब वहाँ पहुँचे, तब पानी कहीं नहीं दिखाई दे रहा था। मुझे गंगा में लबालब भरा पानी देखने का अभ्यास था। इसलिए सामने फैली हुई विस्तीर्ण और खुली मरुभूमि को देखकर, मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, 'यहाँ तो टखने गीले होने के भी लाले पड़ेंगे। यहाँ ये तैरेंगी कहाँ?'

लड़कियों ने कहा, 'हमें भूख लगी है। कुछ खाने को दीजिए।' हमारे देश की रीति यह है कि अगर किसी ने भूख का नाम लिया, तो उसे तुरंत खिला देना चाहिए और पाश्चात्त्य रीति यह है कि खाना खाने के बाद नहाना नहीं चाहिए। यहाँ मेरा और मेम साहब का मतभेद हो गया और उन्होंने यह हुक्म फरमा दिया कि पहले नहाओ और फिर खाओ!

एक-के-बाद-एक सभी लड़कियाँ निकल पड़ीं। कुछ बड़ी और मझोली लड़कियाँ सीपियाँ बीनती-बीनती हमसे काफी दूर निकल गई थीं। कुछ लड़कियाँ तैरना सीखने के लिए मेम साहब के पास थीं और तीस-चालीस छोटी लड़कियाँ मेरे साथ थीं। इसका मुझे दुःख हो रहा था कि दत्तू और बेबी मेरे साथ नहीं आए इन लड़कियों में एक छोटा 'डे-स्कॉलर' लड़का

भी आया था। वह अपनी माँ-बाप का इकलौता पुत्र था। अंधों की शाला के लड़के भी आए थे।

करीब ग्यारह बजे थे। समुद्र का पानी मरुभूमि पर फैलने लगा। पानी की गति बहुत ही मंद थी। अब जहाँ टखने भी गीले न हो सकते थे, वहाँ घुटनों तक पानी आ गया। पानी गँदला और गरम था। मेरा मस्तिष्क आखिर अत्यन्त उर्वरा ही तो ठहरा! मैंने सोचा कि इस समय लगभग बारह बजे हैं, इसलिए सब मिलों की छुट्टी हो गई होगी और उन मिलों द्वारा छोड़ा गया यह गरम पानी होगा। अब पैरों-तले की बालू खिसकने लगी और इसी समय एक चीख सुनाई दी। 'ज्वार आ गया। बाहर निकलो!' नज़दीक कोई आदमी नहीं और हाथ में लाठी भी नहीं! पैरों के निकट कहीं पत्थर नहीं। खुला मैदान! किसी का शब्द किसी को सुनाई नहीं पड़ता था! मेम साहब तैरने में मग्न थीं। लड़कियाँ सीपियाँ बीनने में मस्त थीं। मेम साहब ने कहा था कि लड़कियों के तैरने के लिए यही स्थान उपयुक्त है, क्योंकि यहाँ परिंदा पर नहीं मारता और आदमी का तो कहीं पता नहीं रहता। मुझे उनकी बात की सचाई का अनुभव हुआ। बारह कोस लंबा बंबई शहर, आदमियों से ठसाठस भरा हुआ, परंतु यहाँ एक परिंदा भी पर न मारे! जिस पानी में टखने भी गीले न होते, वह पानी अब घुटनों तक पहुँचने लगा। पर पानी की गति अत्यन्त मंद थी। पानी कमर छूने लगा। मेरे साथ जो छोटी लड़कियाँ थीं, उनके गलों तक पानी पहुँच गया। पानी की गति मंद होने और उस भयानक परिस्थिति की मुझे कोई जानकारी न होने के कारण मैं अपने साथ की सब लड़कियों को पानी से बाहर निकाल सकी। किसी के बाल पकड़कर, तो किसी का कंघा, किसी को 'ज्याकेट' और किसी की गर्दन पकड़कर, मैंने उन लड़कियों को जल्दी-जल्दी पानी से बाहर निकाला। इसी समय धीवर लोग अपनी डोंगियाँ लेकर आये। उन्होंने अंधों की शाला का डूबता हुआ लड़का निकाला। उनकी शाला हम लोगों से काफ़ी दूरी पर उतरी थी।

हमारे यहाँ सारा स्त्री-राज्य ही था। मेरे आस-पास सब छोटी-छोटी

लड़कियाँ थीं। उनमें बीरस्वामी नाम की एक ही लड़की बड़ी थी। वह कमज़ोर और बीमार होने के कारण पीछे रह गई थी। मैं अपने साथ की सब लड़कियों को पानी से निकालकर, उन्हें, 'चलो, चलो' कहकर, जैसे-तैसे हाँकती हुई उस बड़ी लड़की के पास ले गई। वह वहाँ सामान के पास बैठी थी।

वे लड़कियाँ क्रौंच पक्षी की तरह इधर-उधर भागने लगीं। जो लड़कियाँ सीपियाँ बीनने आगे चली गई थीं, उनके सिर्फ़ चेहरे, अस्पष्ट से नज़र आ रहे थे। कोई हाथ उठाकर अपने पास बुला रही थी, कोई ऊँचे पत्थर पर चढ़कर बैठ गई थी। परंतु किसी की भी आवाज़ सुनाई नहीं पड़ती थी। अब समुद्र ने उग्र रूप धारण किया। धीवर पाँच सौ रुपये माँगने लगे। मैंने उनसे कहा—'मैं पाँच सौ रुपए दूँगी, पर लड़कियों को पानी से बाहर निकालो!' वे कहते—'पहले रुपए रखो!' मेरी बात पर कौन विश्वास करता? एक नूर आदमी, दस नूर कपड़ा! मैं सदा की भिखारिन-जैसी! मेरे कपड़े चाहे अच्छे न हों, पर उस समय मुझे बीमे के ढाई हज़ार रुपए मिले थे। मेरा विश्वास था कि अगर मैं वे सब रुपये दे डालती तो भी तिलक मुझे कभी मना न करते और दत्तू भी मना न करेगा। परंतु वे धीवर वचन चाहते थे मेम साहब से और मेम साहब अपने साथ की लड़कियों को बाहर निकालकर साहब को टेलीफोन करने चली गई थीं। साहब वापस चले गए थे और थोड़ी देर के बाद लौटने वाले थे।

यह सारा खेल साढ़े ग्यारह बजे तक चलता रहा। दो बजे आने वाला ज्वार साढ़े दस बजे आ गया! बारह बजे लड़कियाँ किनारे पर आईं। मैं यह कह रही थी कि यह नासिक पंचवटी की तरह होगा। लड़कियों को दूसरे किनारे पर कोई पकड़ लेगा। फिर मैं उन्हें अच्छी सजा दूँगी।

परंतु समुद्र के लिए उन लड़कियों को हज़म करना असंभव हो गया। उसने तुरंत अपने-आप ही उन्हें लाकर किनारे पर डाल दिया।

साढ़े बारह बज गए। सुबह से सब भूखे थे। छोटी-छोटी लड़कियाँ भूख से अत्यन्त व्याकुल हो गईं। साहब आये। उन्होंने अपना पाथेय खोला

और सब को खाने को दिया। इसी समय आस-पास के बँगलों से लोग बाहर निकले, धीरे-धीरे हमारे पास आकर हमें घेरकर खड़े हो गए और हमसे प्रश्न पूछने लगे—'कुल कितनी लड़कियाँ थीं ? डूबीं कितनी ? उनके कौन-कौन हैं ? क्या सभी 'आर्फन' ही थीं ? आज आये, यही तुम लोगों ने गलती की। आज नागपंचमी है। ईश्वर को यह कैसे अच्छा लगेगा ? और तुम लोग मजे में खा कैसे रहे हो ?'

अंतिम वाक्य सुनते ही बेचारी मेम साहब ने अपने मुँह का ग्रास उसी समय नीचे डाल दिया।

मेरा आँचल बँधा हुआ ही था। उस गोल के भीतर खड़ी होकर, कमर पर हाथ रखकर मैंने एक तीखा 'लैक्चर' झाड़ा—

'इस संकट में तुम लोग क्या हमें थोड़ी-सी भी मदद कर रहे हो ? तुम सब लोग सिर्फ़ तमाशा देखने के लिए यहाँ भीड़ लगाये खड़े हो। चलो, हटो सब यहाँ से। अपना बोझ हमें स्वयं ही उठाना चाहिए।'

अब वह घेरा टूटा और लोग तितर-बितर हो गए। पहली लड़की जो आई, वह छठी अँग्रेज़ी में पढ़ती थी। इस लड़की का जन्म मेरे ही हाथ का था। इसे मैंने ही नहलाया था। उसकी माँ बचपन ही में उसे अनाथ कर गई थी। उसके बाद उसके पिता और उसकी बहन ने उसकी परवरिश की थी। कल उसकी वर्षगाँठ मनाई गई थी। कल मैंने उसके बालों को फूलों की वेणी से सजाया था। वह वेणी अभी तक उसके केशों में शोभा दे रही थी। जो चूड़ियाँ वह पहने थी, वे दो-तीन दिन पहले मैंने ही उसे पहनाई थीं।

एक-के-बाद-एक ग्यारह लड़कियाँ और बारहवाँ लड़का पानी से बाहर आये !

यह सब सत्य था या स्वप्न ? मैंने हाथ को चिकोटी काटकर देखा। स्वप्न नहीं था। एक गाड़ी में ये सब गठ्ठों की तरह भरे गए और उन्हें जे० जे० अस्पताल भिजवाया गया। मेरी अक्ल मेरे ही योग्य थी। मैंने सोचा कि इन्हें अब कुम्हार के चाक पर रखकर घुमायँगे, जिससे इनके पेट

के अंदर का सब पानी निकल जायगा और ये अच्छी हो जायँगी। साहब से पूछा—'क्या ये अच्छी हो जायँगी ?' उन्होंने कहा—'हाँ, अच्छी हो जायँगी।' एक गाड़ी भर जाने के बाद चार-पाँच लड़कियाँ बच रहीं। साहब ने उन्हें अपनी मोटर में भरा। मुझसे वह बोले—'दादी, अब आप थक गई होंगी। आइए मोटर में बैठ जाइए!' मैंने कहा—'मैं नहीं बैठूंगी। जिनकी जान पर मैं पेट भरती हूँ, वे दुःख में पैदल चलें और मैं मोटर में बैठूं ? मुझे यह पसंद नहीं।' आगे चलकर पुलिस ने मोटर रोकी। साहब हो, चाहे राजा हो, पुलिस वालों को क्या परवाह ? वहाँ से सही सलामत छूटकर, साहब आगे बढ़े। हम सब पैदल ही वापस आये। परंतु आते समय वह उमंग, उल्लास और आनंद सब विलुप्त हो गए थे। उनका स्थान अब भयानक अंधकार ने ले लिया था। पैर ऐंठे जा रहे थे, सीने में धड़कन हो रही थी, मन चिन्ता से भरा था! अब हमारे पैर सिर्फ़ चल रहे थे। मुँह खोलकर बात करने को जी नहीं चाहता था। रास्ते-भर समुद्र में से निकाली गई वे लड़कियाँ ही आँखों के सामने मूर्त्त हो रही थीं। अमुक ने ऐसा कहा, अमुक ने उसे इस तरह का जवाब दिया, एक नहीं, दो नहीं! ओफ़, दुश्मन पर भी ऐसा प्रसंग न आय!

हम स्टेशन पहुँचे। फिर वही व्यक्ति मिला। उसने पूछा—'मेरी लड़की कहाँ है ?' हमारे स्टेशन पहुँचने से पहले ही टेलीफोन के ज़रिए यह अशुभ समाचार सर्वत्र फैल चुका था।

वह हर लड़की से पूछ रहा था। सबने मेरी ओर अँगुली दिखा दी। मैं बड़ी जो ठहरी! वे छुट्टी पा गईं। मेरे हृदय में एक पत्थर-सा अड़ गया।

'क्यों बाई, चुप क्यों हो ? बोलती क्यों नहीं ? क्या हुआ ? मेरी लड़की यहाँ कहीं भी नहीं दिखाई दे रही है। बताओ! मुझसे छिपाओ मत।'

मैं क्या बोलती ? हमारा कट्टर दुश्मन भी हमसे ऐसा अशुभ समाचार कहने की हिम्मत न करता। प्रिय पाठको, मुझ पर यह कितना बड़ा

संकट आ पड़ा था ? सच कह दूँ या झूठ बोल दूँ, यही मैं नहीं समझ पाती थी। सच बोलना भी पाप, और झूठ बोलना भी पाप ! जो है, वह सामने आयगा ही। मैंने कहा—'मैं कुछ ठीक से नहीं जानती। शायद वह पीछे हो या आगे चली गई हो।'

हमने जैसे-तैसे गाड़ी पकड़ी।

सात बजे हम अपने और साहब अपने स्थान पर पहुँचे। बँगले से साहब ने संदेश भेजा कि फाटक बंद कर दो। किसी को भीतर न आने देना और बिना इजाज़त के किसी लड़की को बाहर न जाने देना।

डॉक्टर गुरुबाई करमरकर और मिस्टर ब्युएल आकर मुझसे मिल गये। मेरे समधी और समधिन भी आये और चले गए। कुछ लोग बोले—'अच्छा हुआ, जो यह सारी घटना अधिकारियों के समक्ष हुई।'

हम हुक्म के बंदे ठहरे ! हमने फाटक बंद कर दिया। चौकी पर जागीरदार आसन जमाकर डट गया। जागीरदार के हाथ में एक डंडा था। वह मुसलमान था। उसने चालीस साल तक इस स्थान पर ईमानदारी से चौकीदारी का काम किया है। फाटक के बाहर की तरफ लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी थी। बाहर लाठियों की आवाज़ें लगातार आ रही थीं। दीवारों पर से पत्थरों की वर्षा हो रही थी। सब कहते—'दरवाज़ा खोलो, वरना हम उसे तोड़ देंगे। फिर क्या होगा, हम कह नहीं सकते। हमारी जान चली जाय, तो भी हमें परवाह नहीं। सरकार कहीं चली नहीं गई है। हमारी लड़कियाँ हमें दिखाओ, नहीं तो यहाँ लाशें बिछ जायँगी।'

घर के भीतर चारों ओर रोना-धोना मचा था और बाहर यह कोलाहल ! मेरी हिम्मत पस्त हो गई। ऐसा लगने लगा कि जमीन फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ तो अच्छा ! भीतर हिम्मत बँधाने वाले तीन ही पुरुष थे। दत्तू, नारायण राव और जागीरदार। नौकरानियों में से एक की बहन डूब गई थी, तो एक की मानी हुई लड़की चल बसी थी, इसलिए वे अपने ही दुःख में मग्न थीं। घर में अन्न बहुत था, परंतु उसे उठाने के लिए किसी का हाथ न उठता था और खाने के लिए मुँह नहीं खुलता था।

जगह-जगह बड़ी लड़कियाँ अंग सिकोड़े पड़ी हुई थीं और छोटी लड़कियाँ मास्टरनियों के आश्रय में पड़ी थीं। बड़े आदमी भी ऐसे कोलाहल में घबरा जाते हैं, तो इन बेचारियों की क्या बिसात ?

रोना-धोना, चीखना-चिल्लाना और शोर-गुल, जारी ही था। मैं फाटक के पास गई और बुलंद आवाज़ में मैंने बाहर खड़े हुए लोगों से कहा, 'मैं दरवाजा खोले देती हूँ। तुम मेरा कुछ भी करो। मैं डरती नहीं। परंतु तुम इस तरह दंगा न करो। मैं नहीं पहचानती कि कौन किसकी लड़की है। मैं चारों तरफ की बत्तियाँ जलाये देती हूँ। तुम भीतर आ जाओ और अपनी-अपनी लड़कियों को पहचान लो !'

इतना कहकर मैंने ताला खोल दिया। सब लोग तेज़ी से भीतर घुस आए। जितनों की लड़कियाँ थीं, उतनों के रिश्तेदार आये। उनके साथ ही मेरी पूछ-ताछ करने के लिए भी एक औरत आई थी।

प्रत्येक ने गालियों के शब्दों में मेरे और मेरे अधिकारियों के पुरखों का बखान किया। बहुत-से लोग अपनी लड़कियों को उसी वक्त अपने साथ घर ले गए।

मैंने कहा—'अधिकारियों का हुक्म नहीं है। तुम उनसे पूछकर लड़कियों को ले जाओ !'

'हम तुम्हें और तुम्हारे अधिकारियों को जूते की नोक पर मारते हैं। तुम अपने अधिकारियों पर मिट्टी का तेल डालकर दियासलाई लगा दो। इतनी लड़कियाँ मर गईं ! और तुम कैसे बच गई ?'

वह मेरे लिए बड़ी कठिन रात थी। दत्तू, मैं और नारायणराव रात-भर खड़े ही रहे। बाहर जागीरदार भी खड़ा ही रहा। बंबई से और आस-पास के गाँवों से लोग अपनी लड़कियों का पता लगाने के लिए आने लगे। छोटी लड़कियाँ घबराई हुई थीं। कुछ पहले ही से बीमार थीं, तो कुछ हाल ही में बीमार हो गई थीं। इस प्रकार एक नहीं, दो नहीं, बल्कि अनेक झंझटें थीं। किसी को चाय, किसी को काफी, किसी को सोडा दो। राई, अँगीठी, गरम पानी, रोटी, मक्खन आदि में से किसे किसकी

कब ज़रूरत पड़ जाय इसका कोई ठिकाना न था। अटारी पर जाती, नीचे आती। फिर नीचे से ऊपर जाती! बहुत-से मेहमान आये थे, उनका समाधान करती, खुशामद करती। किसी को धीरज बँधाती, किसी को 'काका-बाबा' कहकर, घर वापस भेज देती। एक रात में मेरे बीस-पच्चीस रुपये सिर्फ़ ऊपरी खर्च में उड़ गए! फिर मेरी छाती धड़क रही थी सो अलग। छोटी लड़कियाँ रह-रहकर जोर से रो पड़तीं—

'नानी, छुमुंदर-छुमुंदर!'

वहाँ श्रीधरराव गायकवाड़ मैनेजर थे। विवाह के समय जिस तरह किसी बड़े-बूढ़े से पूछते हैं कि अमुक महाशय लड़की माँग रहे हैं, क्या उन्हें लड़की दे दी जाय, उसी तरह मुझे बुजुर्गों का सम्मान देने वे आए। बोले, 'कितने संदूकों की जरूरत होगी, उनकी लंबाई-चौड़ाई, और ऊँचाई कितनी रखी जाय?' आदि। मैं क्या खाक जानती थी। सिर्फ़ हाँ में हाँ मिला रही थी।

सुबह होते ही साहब आए। बोले—

'नानी जी, क्या आप लड़कियों को पहचान लेंगी?'

'जी हाँ।'

'क्या उनके नाम भी बता सकेंगी?'

'हाँ, परंतु किसके सामने?'

मेरे प्रश्न का कोई उत्तर दिये बिना ही साहब चल दिए। मेरी छाती धड़कने लगी। मस्तिष्क में चक्र घूमने लगा। अब यदि नाम ठीक से न बता सकी, तो क्या होगा? पहली बार साहब ही मेरे साथ थे। उन्होंने मुझे नाम बताये। मैं एक भी लड़की को न पहचान सकी। फिर नाम कैसे बताती? पर नाम बताने का मौका ही न आया।

मैंने जीवन में सब प्रकार के अनुभव प्राप्त किये हैं। परंतु किसी अदालत की सीढ़ी चढ़ने का मौका मुझे कभी नहीं मिला था। करीब ग्यारह बजे मैं अदालत की ओर तिलक के जाने के बाद प्रथम बार ही जे० जे० अस्पताल की सीढ़ियाँ चढ़ी। वहाँ लोक-गंगा में बाढ़ आई हुई थी। दरवाज़े

के पास मोटरों और बग्घियों का ताँता लगा हुआ था। साइकिलें भी असंख्य थीं। और पैदल चलने वालों की तो कोई गिनती ही न थी।

मुझे चाहे आलसी कहो, परंतु समुद्र-स्नान करते समय मेरे बदन पर जो साड़ी थी, वही इस समय भी थी। मेरा आँचल उस समय जैसा बँधा हुआ था, उसी तरह अब भी बँधा था। वह गीली साड़ी बदन ही पर सूख गई थी। मेरे शरीर का मंथन जारी ही था। एक तो पहले ही मेरी गर्दन हिलती है और ऊपर से यह कंपन! फिर क्या पूछना था? पूरा शरीर ही ताजिये का गुम्बद बन गया। मैं ताँगे से उतरी। चिकी के बाप ने मुझे उठाया और ले जाकर भीतर ज्यूरी के सामने खड़ा कर दिया। उस भीड़ में मुझे अपनी एक अत्यन्त प्रिय सखी दिखाई दी। वह थी डॉक्टर गुरुबाई करमरकर। उनके पास जाकर मैं बैठ गई। मेरा नाम पुकारा गया। मैं थर-थर काँपने वाली मैना पिंजरे में बंद हो गई। अब बयान शुरू हुआ। वही साड़ी, उसी तरह बँधा हुआ आँचल। दोनों हाथ कटघरे पर टिके हुए, मानो लक्ष्मीबाई बड़े भारी पात्र के मंथन के लिए ही खड़ी हैं। सारी देह हिल रही है। पीठ पर खुले हुए बाल लोट रहे हैं। आगे कटघरे पर सिर ज़ोर-ज़ोर से गिर रहा है। अब सिर्फ़ ऊद और कपूर ही की देर है कि यह देवी फिर बोलने लगेगी। बयान शुरू हुआ, परंतु इस ठाठ में मुँह से शब्द ही नहीं निकलता था।

इसी समय डॉक्टर गुरुबाई खड़ी हुई। वह बोलीं—'मैं ज्यूरी से एक प्रार्थना करना चाहती हूँ। कृपा करके मुझे इस स्त्री के पीछे खड़े होने की अनुमति दी जाय। मैं उसे कोई सुझाव नहीं दूँगी। लेकिन पीछे खड़ी होकर उसकी गर्दन पकड़ने पर वह बोलेगी।' उन्हें अनुमति मिल गई और वह मेरे पीछे आकर खड़ी हो गईं।

आगे देखा तो राव बहादुर आठवले! मुझमें थोड़ी हिम्मत आई। हमारे प्रश्नोत्तर इस प्रकार हुए—

'जब आप गईं थीं उस समय वहाँ पानी कितना था?'

'बिलकुल नहीं था।'

'लड़कियों के पास कौन-कौन थे ?'

'हम दोनों।'

'आप क्यों नही डूबीं ?'

'यह मैं क्या बताऊँ ?'

'पानी किस दिशा से आया था और किस दिशा को गया ?'

'मैं भूगोल नहीं जानती। परंतु इतना कह सकती हूँ कि बाईं तरफ से आया था और दाहिनी तरफ गया।'

बस मेरा बयान समाप्त हो गया। लड़कियों का आगे क्या हुआ, यह देखने मैं नहीं गई। जे० जे० अस्पताल के दृश्य का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। माँ और बहनें पत्थर के फर्श पर धड़ाधड़ सिर पटक रही थीं। छोड़िये, वह याद भी बरदाश्त नहीं होती।

हमारे घर जो मृत्यु-यज्ञ शुरू हुआ था, उसमें पहली आहुति ठोंबरे की थी। उसके बाद तिलक की। उसके तुरंत बाद ही मेरे बड़े भाई केशवराव मामा का नंबर आया। हम लोगों ने बोर्डिंग हाउस में आकर रहना शुरू किया ही था और हम वहाँ कुछ व्यवस्थित रूप से जम ही पाए थे कि केशवराव मामा की मृत्यु का अशुभ समाचार हमारे कानों में पड़ा। उसके बाद हमारी चिकी, फिर देवरजी, फिर मेरेसम धी की बहन, इसके बाद जिन्हें मैं लड़कियाँ और नातिनें मानती थी, वे ग्यारह लड़कियाँ, 'मनो-रंजन' मासिक पत्र के संपादक श्री मित्र, रेंदालकर कवि, काका साहब मिरीकर, पंडिता रमाबाई, मेरे समधी—इस प्रकार कुल मिलाकर बीस-बाईस व्यक्तियों को उन बीस-बाईस महीनों के भीतर काल छीनकर ले गया। मौत की घाटी से हम गुज़र रहे थे। बीच में कौन उठा लिया जायगा, इसका कोई ठिकाना न था।

तिलक की मृत्यु के पहले ही से चिकी का स्वास्थ्य कोई बहुत अच्छा न था। परंतु उस गड़बड़ में चिकी की ओर विशेष ध्यान देने को समय न मिला। उसकी उपेक्षा हुई और उसके लिए मुझे लगातार दुःख होता है।

मेरे पीछे कर्म दौड़ रहा था और सामने पेट दौड़ रहा था। दिवाली की छुट्टियों में लड़कियाँ अपने-अपने घर जाने लगीं। चिकी ने चाहा कि वह भी जाय। वैसे वह बड़ी उत्साही लड़की थी। उसकी इच्छा होती कि घूमने जाऊँ, चाँदनी में बैठूँ, गाँव जाऊँ। इन सब कार्यक्रमों में वह भाग लेना चाहती थी। परंतु कोई भी उसकी यह इच्छा उसके मन के अनुसार पूरी न होने देता। उसके लिए ऐसी विपदाओं के बीच समय और धन कौन खर्च करता ? उसके बाप का यह हाल था कि वह नौकरी करता-छोड़ता, इधर-उधर घूम रहा था। उसने दूसरा विवाह कर लिया था। चिकी लगातार मेरे पीछे लगी थी कि मुझे अपनी नई माँ के पास पूना भेज दो। इन माँ-बेटी ने कभी एक-दूसरी का मुँह भी नहीं देखा था। इस समय अनायास ही लड़कियों का साथ था, इसलिए मैंने उसे पूना भेज दिया। परंतु पूना की जलवायु उसके लिए अनुकूल न रही। वहाँ से वह और भी अधिक बीमार होकर लौटी। अब मेरा ध्यान उसकी ओर गया। डॉक्टर की दवा शुरू की। परंतु **"का वर्षा जब कृषी सुखाने"** वाली स्थिति हुई। दत्तू, बेबी, रूथ सब ने उसकी चिन्ता की। डॉक्टर रोज़ आते। वैसे वह इतनी बीमार न थी कि निरंतर बिस्तर ही पर पड़ी रहती हो। एक दिन उसने मुझ से कहा, 'नानी, रोमन कैथलिक लोगों की मृत्यु कितनी अच्छी होती है। मोमबत्तियाँ जलती हैं, अगरबत्तियाँ लगी रहती हैं, फूल रखे रहते हैं! मुझे ऐसी मृत्यु बहुत अच्छी लगती है।'

'अरी ओ चिकी, देख, तू कहीं मरना-वरना नहीं। अगर मरी तो नाना तुझे अच्छी तरह पीटेंगे।'—बेबी बोली।

'सच नानी ? क्या ऐसा होगा ? स्वर्ग में वह कैसे पीटेंगे ? अगर वह पीटेंगे, तो मैं मेज़ के नीचे छिप जाऊँगी।'

मृत्यु से पहले उसने बड़ा हठ किया। कहा, 'नानी, तुम अपने हाथ से मुझे नहलाओ।' मुझे काम था। मैंने कहा, 'चिकी, ऐसा हठ क्यों करती है ? तुझे बुआ नहला देगी, नहीं तो नौकरानी नहला देगी।' परंतु वह सुनती ही न थी। उसने कहा, 'नानी, तुम्हें काम रहता है, यह ठीक है।

पर तुम खुद अपने हाथ से मुझे नहलाओ। तुम्हारे ही हाथ से नहाना मुझे अच्छा लगता है।' मैंने गुस्से में उसे नहला दिया।

नौकरानी को वह एक ओर ले गई और उससे बोली, 'देख मेरी नानी का बिस्तर लगाकर रख दिया कर और उसका पानी पीने का लोटा अच्छी तरह माँजकर स्वच्छ रखा कर। वह काम करते-करते थक जाती है और चाहे जो खा-पीकर जैसे-तैसे सो जाती है।'

चिकी मेरी अत्यन्त चिंता रखती। यह बात नहीं कि सिर्फ़ मेरी ही रखती हो। घर के सब लोगों के लिए वह बहुत काम किया करती। दूसरी लड़कियों की भी वह सेवा करती—उनके लिए कष्ट उठाती। वह अत्यन्त प्यारी लड़की थी। शीघ्र ही अपनी मीठी आवाज़ में 'नानी, जाती हूँ। नानी मैं बहुत जल्द लौटूँगी—,' इस प्रकार कहते हुए उसने प्राण छोड़े। उसके वे शब्द आज भी कभी-कभी मेरे कानों में गूँज उठते हैं और बहुत दुःख होता है।

उसकी दवा का बिल चालीस रुपया हुआ था। मैं डॉक्टर को ये रुपये देने गई। परंतु उन्होंने उनमें से एक रुपया भी न छुआ। बोले, 'माताजी, आपने उसके लिए इतने सालों तक इतना किया। मैंने उसे सिर्फ़ थोड़ी-सी दवा ही दी, तो क्या बहुत किया?'

नौ महीने की उम्र से जिसे सँभाला था, वह मेरी चिकी बारह वर्ष सुख देकर चली गई।

१५ जुलाई १९२० के 'ज्ञानोदय' में उस पर यह छोटा-सा मृत्यु-लेख आया—

"एक छोटी-सी प्यारी लड़की को ११-जुलाई के दिन भगवान् के घर का बुलावा आ गया। छोटे बच्चों से लेकर बड़े-बूढ़ों तक जिस-जिसका इस लड़की से संबंध आया था, उस-उस व्यक्ति को यह समाचार सुनकर उसका अभाव खले बिना न रहेगा। दुनिया के चंद दिनों के इस मुसाफ़िर का नाम था सुभद्रा रामभाऊ धर्माधिकारी।"

बंबई में हम किसी तरह दो साल टिके रहे। वहाँ हम खप नहीं रहे

थे और यह हम जानते भी थे।

परंतु किसी को भी हमसे यह वात साफ-साफ कहने की हिम्मत नहीं होती थी। अव सवको मेरे स्वास्थ्य की एकदम चिन्ता होने लगी ! वैसे मेरे स्वास्थ्य में कुछ भी विगाड़ नहीं हुआ था। परंतु दूसरों की इस चिन्ता के कारण निश्चय ही कुछ विगाड़ होने वाला था। मुझे कुछ होने के वदले उन्हींको मैं खाँसी के रूप में लग गई थी और विना सौंठ के उनकी वह खाँसी किस तरह दूर हो, इसकी उन्हें चिन्ता होने लगी थी। जो भी मुझसे मिलता, कहता, 'नानीजी आप हवा वदलने कहीं वाहर चली जाइए !' मैं कहती, 'मुझे हुआ क्या है ? मैं क्यों जाऊँ ?' मुझे कुछ हुआ नहीं था, परंतु इनकी मेरे प्रति चिन्ता के कारण मैं ऊव उठी थी। साफ-साफ और "सीधे कह देने में उन्हें किसका भय था ? परंतु यह था सुसंस्कार का प्रभाव। हर्र लगे न फिटकरी, रंग चोखा आए !"

कोई हमारे अनजाने में भी हमारे घर में झाँकता तो यह कभी न पाता कि वहाँ कोई वात चोरी से या छिपाकर हो रही है। सव-कुछ खुल्लम-खुल्ला होता। हम जव वातें करते रहते, तो हमारे घर के दरवाज़े और खिड़कियाँ पूरे खुले रहते। परदा-प्रथा हमारे लिए हमेशा ही से अनुकूल नहीं रही। इसलिए हमारे वारे में कानाफूसी करके, हमारे घर में चोरी से झाँककर, हमारे वारे में कल्पना करके जव देखा कि मुझमें कहीं कोई छल-कपट नहीं है, तव यह हवा वदलने का पाखंड खड़ा हुआ।

इसी गड़वड़ में एक दिन एक भद्र महिला आकर मुझसे कहने लगी—'नानाजी, आप सचमुच कहीं चली जाइए। जैसी दिखाई देना चाहिए, वैसी आप नहीं दीख रही हैं।' मैंने कहा—'देखिए आप सव लोगों का शायद यह खयाल है कि मैं आपकी वातें नहीं समझ रही हूँ। मैं सव समझती हूँ। कुछ दिनों से मेरे स्वास्थ्य के वारे में आप सव लोगों को एक-दम वहुत भारी चिन्ता उत्पन्न हो गई है। पर, अव मेरी इतनी ही इच्छा है कि इस काम को विना तनख्वाह लिये करूँ। दत्तू की कॉलेज की 'टर्म'

पूरी होने तक मुझे रहने के लिए स्थान की आवश्यकता है।' भद्र महिला ने कहा—'परंतु श्रीमतीजी, मुझे यहाँ दवाखाना शुरू करना है।' मैंने कहा—'करो न दवाखाना शुरू। मेरे हाथ मज़बूत हैं। मैं मिठाई की दूकान खोलूँगी और उस पर अपने नाम का साइन-बोर्ड लगाऊँगी।'

कराची की डॉक्टर ताराबाई इसी समय हमारे घर परीक्षा के लिए आई थीं। उनकी माँ मुझे अपनी बहन मानती थीं और बिलकुल बहन-जैसा ही बर्ताव करती थीं। ताराबाई ने कहा—

'मौसी, आप कराची चलती हैं? मैं बेबी और भाभी को काम दिला दूँगी। फिर भाऊ वकालत की शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र हो जायगा।'

'अरी, कराची ही क्या, मैं विलायत जाने के लिए भी तैयार हूँ। स्व-देश में चोरी और परदेश में भीख!'

दत्तू हवा बदलने के लिए पारोला गया था। वहाँ वह बीमार पड़ गया। परंतु उसकी इस बीमारी की मुझे कोई खबर ही न थी। ये बच्चे मुझसे कुछ भी न कहते थे। ताराबाई, पाटणकर और बेबी ही से तार और पत्रव्यवहार होता था। फलों की पारसलें जातीं। परंतु, मुझे इसका कुछ भी पता न रहता। यहाँ के सब समाचार पत्रों द्वारा दत्तू को मालूम हो जाते।

परीक्षा होने के बाद ताराबाई कराची चली गईं। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने बेबी और रूथ के लिए काम खोजना शुरू कर दिया था। दत्तू का स्वास्थ्य ठीक हो जाने के कारण वह अब सपरिवार बंबई लौट आया। हम सब फिर एकत्र हो गए। अब चिन्ता रह गई थी सिर्फ़ खाने की और पैसों की। बीमारी-बीमारी अब कहीं कुछ न बची थी। वैसे लोगों द्वारा लगा दी गई बीमारी तो थी ही। परंतु उसके लिए डॉक्टर क्या करे?

शीघ्र ही ताराबाई का पत्र आया। परीक्षा के फल की तरह हम उस पत्र की बाट जोह रहे थे। आखिर परीक्षा-फल आ गया। यह परीक्षा हमारे भाग्य की परीक्षा थी। उसमें पास होते ही हम ऊँची कक्षा में पहुँच गए।

ताराबाई का पत्र आया कि 'आपकी सारी व्यवस्था हो गई है। बेबी के लिए १३० रुपये और रूथबाई के लिए १५० रु० मासिक वेतन निश्चित कर दिए हैं। आप लोगों के लिए ३० रु० मासिक किराये का एक मकान भी देख रखा है। इसलिए तुरंत तार से खबर दीजिए कि आपका क्या इरादा है?'

हमने कराची तार भेज दिया। अपना सामान समेटना और बाँधना शुरू किया। बाज़ार-हाट किया। दत्तू के रहने का प्रबंध उसकी सास के घर कर दिया।

जब से मैं यहाँ काम पर लगी थी, तब से मैंने अपने अधिकारियों को कभी भोजन के लिए न बुलाया था और न कभी उन्हें परोसा ही भेजा था। यहाँ ऐसी धारणा थी हो गई है कि मैट्रन के कामों में एक यह भी काम होता है। मेरी धारणा थी कि भोजन भेजने अथवा खाने के लिए बुलाने की अपेक्षा अपने सच्चे काम से अधिकारियों को संतुष्ट रखा जा सकता है। अब काम छोड़ने का हमारा निश्चय हो चुका था और हमने अपनी सारी तैयारी भी पूरी कर ली थी। इसलिए मैंने अपने साहब और मेम साहब को पहली और अंतिम बार भोजन के लिए निमंत्रित किया। अपने स्वभाव के विरुद्ध परंतु दत्तू के आग्रह से मैंने भोज का दिन काम छोड़ने से ठीक एक महीने पहले का तय किया। खाना समाप्त होने तक हममें से कोई भी काम के बारे में कुछ न बोला। हमने सारा वक्त बड़े मज़े में बिताया। फिर जब साहब और मेम साहब जाने लगे, तब अपना त्याग-पत्र और एक महीने का नोटिस मैंने उन्हें थमा दिया।

इस तरह त्याग-पत्र हाथ में आने पर उन्हें आश्चर्य हुआ।

'आप कहाँ जा जायँगी?'

'जहाँ भगवान् ले जायगा वहाँ।'

'इस सब सामान का क्या करेंगी?'

'इसकी हमने सब व्यवस्था कर दी है।'

मेम साहब ने कहा—'मैं तुम्हें सर्टीफ़िकेट भेज दूँगी।'

'मुझे उसकी ज़रूरत नहीं। मेरा यह पहला और अंतिम काम है। मैंने किसी की तावेदारी कभी, न की थी और अव भविष्य में भी नहीं करूँगी।'

वड़े दिन की छुट्टी हुई। यहाँ का काम पहली तारीख से छोड़ दिया था। कराची का दूसरी तारीख से शुरू होने वाला था। हम वड़े दिनों में कराची के लिए रवाना हुए। दत्तू हमें पहुँचाने आया।

वंदरगाह पर हमारे मित्रगण हमें पहुँचाने आए थे। इसका मतलव यह नहीं कि हमारे गले में पुष्पहार और हाथ में पुष्पगुच्छ देने आए थे, क्योंकि हम कोई वड़ा पराक्रम करने नहीं जा रहे थे। परंतु सामान का प्रवंध करने और लड़कों-वच्चों को उठाने-धरने के लिए ये लोग आये थे।

जहाज़ ने भोंपू वजाया। वह हमें पेट की राह ये चला। हम दूर सरकने वाली वंवई की तरफ और उसके किनारे खड़े अपने मित्रों की ओर आनंद से देख रहे थे। सागर शान्त था। पानी का रंग वीच-वीच में वदल रहा था। हमारे मन में भी भिन्न-भिन्न विचार उठ रहे थे। दुनिया के लिए चाहे न हो, पर अपनी दृष्टि से हमें कराची इंग्लैंड प्रतीत हो रहा था। इतनी दूर के पराये प्रदेश में केवल तीन वच्चे और तीन स्त्रियाँ जायँ और वहाँ तीन वर्ष काटें। हम एक तरफ और दत्तू एक तरफ। हमारे पास कोई पुरुष नहीं। वैसे हमारे पास दो पुरुष थे, परंतु वे थे सिर्फ पंगत ही के काम के। साथ के लिए वे वेकार थे। एक पुरुष ढाई वर्ष का था, दूसरा पुरुष डेढ़ वर्ष का था।

स्वतंत्रता! तिलक का एक गीत इस समय याद हो आया—

साँग कुठें पाहुँ तुला सखि स्वतंत्रते
जनि विजनीं सांग कुठें रमशि सुदृतें
फिरिव मला दाहि दिशा
कर मम अन्नान्न दशा

परि तूँ हो माझी एकदां—
तुजविण मज जगत सकल विकल भासते।[१]

१. हे सखी स्वतन्त्रता, बता मैं तुझे कहाँ खोजूं ? तू कहाँ है ? इस संसार में है या बियावान जंगल में है ? बता तू कहाँ है ? हमें चाहे दशों दिशाओं में घुमा, चाहे दाने-दाने के लिए मोहताज कर। परंतु, तू एक बार हमारी हो जा। तेरे बिना हमें सारी दुनिया सूनी लगती है।

माँ

(लेखक—देवदत्त नारायण तिलक)

मेरी माँ, पत्नी और बहन ने कितना साहस किया, इसकी कल्पना बहुत कम लोग कर सकेंगे। अपना देश छोड़कर अकेली स्त्रियाँ ही तीन छोटे-छोटे बच्चों को अपने साथ लेकर सैंकड़ों मील दूर गईं और और वहाँ जाकर उन्होंने अपनी अलग गृहस्थी बसाई, यह कोई आसान बात न थी। पूरी गृहस्थी का भार माँ पर डालकर, ये दोनों काम पर जातीं। माँ के निश्चयी, स्नेहपूर्ण और विनोदी स्वभाव के कारण वे दिन भी बड़े आनंद में कटे। मैं बंबई में वकालत के लिए अध्ययन करने लगा। यह निश्चय हुआ था कि अपने एल-एल० बी० होने तक मैं बंबई में रहूँ और ये लोग कराची में रहें। इसके अनुसार दो-ढाई साल के बाद कराची की गृहस्थी समाप्त करके वे फिर महाराष्ट्र में आईं। डॉक्टर ह्यूम की बड़ी इच्छा थी और आग्रह भी था कि हम फिर लौटकर महाराष्ट्र में आयें। परंतु यहाँ आकर ठहरें कहाँ? हम पुन: मिशन की नौकरी नहीं करना चाहते थे। ऐसी इच्छा होती थी कि नासिक जाकर वहीं स्थायी रूप से रहें, क्योंकि माँ का वह पीहर था। पर सवाल यह था कि वहाँ जाते ही मेरी वकालत कैसी चलेगी? एक तो थोड़ा-सा भी अनुभव न था, दूसरे वहाँ किसी से बिलकुल जान-पहचान नहीं थी। मेरी पत्नी नौकरी करके मुझे सहायता देने के लिए तैयार थी। डॉक्टर ह्यूम फिर काम आए। सरकार पर उनका अच्छा प्रभाव था। उन्होंने कोशिश करके रूथ को तुरंत ही नासिक में नवस्थापित लड़कियों की एक सरकारी पाठशाला में नौकरी दिला दी और सन् १९२४ में

हम नासिक आये। पहली रात को हमें सिर रखने के लिए भी स्थान न था।

मेरी अभी परीक्षा नहीं हुई थी। इसलिए, मैं बंबई ही रहने वाला था। परंतु माँ अपनी बहू और नातियों को लेकर नासिक पहुँची। मैं भी उनके तुरंत बाद नासिक आया। मुझे उनका इंतज़ाम कर देना था। मैं जिस दिन नासिक पहुँचा, उसके पहले दिन वे लोग नासिक आ गए थे और प्रोफेसर पाटणकर के घर ठहरे थे। पाटणकर उस वक्त अकेले ही थे। वहाँ के पाखाने को छूत लग जाने के कारण दूसरे ही दिन हमें वह घर छोड़ देना पड़ा। फिर कोढ़ी बालकों के लिए बनाए गए 'लेडी पोलवर्थ होम' में बड़ी मुश्किल से हमें जगह मिली और आखिर वहाँ जाकर रहना पड़ा। यह खयाल आता कि यदि हमारा निजी मकान होता तो इस कष्ट से छुटकारा पा जाते।

आगे चलकर सात-आठ वर्षो में हम नासिक में अच्छी तरह जम गए और माँ की ज़िंदगी ही में हमारा एक निजी मकान भी वहाँ बन गया।

मकान बनवाने के दो वर्ष पहले एक दिन माँ अपने नातियों के साथ आगरा रोड पर घूमने गई थी। वे नवदुर्गा के दिन थे। रास्ते में लोगों की बड़ी भीड़ थी। गाड़ियों और घोड़ों का भी बड़ा जमाव था। एक गाड़ी रास्ते पर बड़े वेग से आ रही थी। भीड़ में भगदड़ मच गई और इस दौड़-धूप में नाना गिर पड़ा। माँ वहीं एक बड़ के पेड़ के नीचे बच्चों को लेकर बैठ गई। उसके मस्तिष्क में विचार उठ रहे थे। अगर हमें यहीं ज़मीन मिल जाय और दत्तू अपना मकान यहीं बनवा ले, तो क्या ही अच्छा हो। परंतु उसका यह विचार कार्य-रूप में परिणत होना असंभव ही था, क्योंकि वह गॉल्फ ग्राउंड था, और दत्तू के पास मकान बनवाने के लिए रुपया कहाँ था? लेकिन उनके मन में ये विचार ज़रूर उठे। उसने बैठे-बैठे उस स्थान पर अपना निजी घर बनने का दिवा-स्वप्न देखा और प्रार्थना भी की कि, 'भगवन्, मेरे विचार को साकार कर दे।'

माँ ने घर आकर यह बात हम लोगों से कही। फिर हम वह सब भूल गए।

फिर माँ बंबई चली गई। इसके बाद वाई जाकर मिसेज़ ह्यूम के पास रही। जब वह वाई में थी, तब हमने मकान के लिए ज़मीन खरीदी और मकान बनवाने की तैयारी करने लगे। जब माँ वाई से लौटी, तब हमने उसे मकान की जगह दिखाई। उसे देखते ही वह बोली—'अरे, यही तो वह जगह है। यहीं मैंने बैठकर प्रार्थना की थी।'

इस तरह आखिर हमारी दौड़-धूप खत्म हुई और हम नासिक में स्थायी रूप में रहने लगे। तीस वर्ष के बाद माँ पुनः अपने मायके में वापस आई।

प्रत्यक्ष रूप से नानी या दादी बनने के कितने ही वर्ष पूर्व चिकी ने माँ को नानी कहकर पुकारना शुरू कर दिया था। नासिक में आरंभ में वह 'मनी' थी, फिर 'मनूताई' हुई, 'मनू मौसी' हुई और अपने जीवन के अंतिम चरण में 'नानी' और 'दादी' हुई। सब उसे 'नानी' या 'दादी' कहते और वे नाम उसे शोभा भी देते। यहाँ के कवि 'कुसुमाग्रज' ने उस पर एक सुंदर कविता लिखी है। उसमें वह कहते हैं—

'फुलांमधें फुलपाखरूं होइल,
होइल कोकिल वा। अशा उत्फुल्ल वसंतांत॥
और आणिक सरुनी वसंत,
होतां पुढे वाळवंट। तरीहि येईल मजसंगे।"[1]

जिस तरह तिलक की आध्यात्मिक उन्नति उनके अंतिम काल में अधिक हुई, उसी तरह माँ की बौद्धिक उन्नति उसके जीवन के अंतिम काल में बहुत हुई। जिस स्त्री से ठीक ढंग से लिखते भी न बनाता था, उसने 'स्मृति के चित्र'-जैसी गद्य-रचना और 'ईसायन'-जैसा महाकाव्य लिखा, क्या यह एक चमत्कार ही नहीं है?

सन् १९३३ में नासिक में एक कवि-सम्मेलन हुआ था। माँ की कविताएँ कतिपय मासिक-पत्रिकाओं में छपती थीं और वह कवयित्री के

---

1. फूलों में तितली बन जायगी, उत्फुल्ल वसंत में कोकिला बन जायगी और वसंत समाप्त हो जाने के बाद मरुभूमि भी हो जाय, तो भी वह मेरे साथ आयगी।

रूप में प्रसिद्ध हो गई थी। ईसाइयों की कुछ सभाओं में उसने अपनी वक्तृत्व-कला दिखा दी थी। समाज-सेविका के रूप में तो मूक और अपढ़ जनता के वीच जीवन-भर वह प्रसिद्ध रही। परंतु इन वातों से उसे जितनी प्रसिद्धि नहीं मिली थी, उतनी इस कवि-सम्मेलन में उसके द्वारा दिये गए स्वागताध्यक्ष के भापण से एकदम मिल गई।

कवि-सम्मेलन में जव वह अपना धारा-प्रवाह भाषण देने लगी, तव नासिक के कितने ही साहित्यिक आश्चर्यचकित हो गये। भाषण समाप्त होने पर कई लोग खास तौर पर मेरे पास आए और उन्होंने मुझे वधाई दी। लड़कों के कोई वड़ा काम करने पर माँ-वाप को वधाई दी जाती है, यह मैं जानता था। परंतु ऐसा अनुभव वहुत ही कम लड़कों को हुआ होगा। माँ ने अपना भापण एक वार भी कागज़ में न देखकर धारा-प्रवाह रूप में दिया। स्त्री-वक्ताओं की हमेशा की आदत के अनुसार वह अस्पप्ट और धीरे-धीरे नहीं वोली थी, वल्कि उसका भाषण विलकुल स्पष्ट और वुलंद आवाज़ में हुआ। और इसी पर सवको आश्चर्य हुआ।

कवि-सम्मेलन का अंतिम कार्य-क्रम काव्य-गायन (कविता-पाठ) का था। थियेटर टसाठस भरा हुआ था और लोग वहुत शोर-गुल मचा रहे थे। कोई एक खास कवि ही अपनी कविता सुनावे, दूसरे कवि मुँह भी न खोलें, यह आग्रह लोग करने लगे। कार्य-कारिणी-सभा ने प्रत्येक कवि को जहाँ तक संभव हो एक-एक कविता सुनाने का मौका देने का निश्चय किया था। हाई स्कूल के एक विद्यार्थी ने भी उसमें अपनी पैंठ जमा ली थी। परंतु उसकी कविता सुनने को कोई तैयार ही न होता था। लड़के की आवाज़ धीमी थी और वह घवराया हुआ भी था। अंत में माँ से न रहा गया। वह मंच पर आकर खड़ी हो गई। इतने विशाल जन-समूह के सामने सारे शोर-गुल को अपनी वुलंद आवाज़ से दवाते हुए उसने जो चार शव्द कहे, वे इतने प्रभावशाली हुए कि उनके वाद अंत तक, वहाँ इतनी शान्ति छाई रही कि यदि आलपीन भी गिरती तो उसकी आवाज़ भी स्पष्ट सुनाई पड़ जाती।

कवि-सम्मेलन के बाद माँ ने अपना लेखन और पठन-पाठन पुनः जोरों से शुरू कर दिया। उसका अधिकांश ध्यान अब 'ईसायन' में उलझा हुआ था और उसका यह प्रयत्न रहता कि जहाँ तक संभव हो उसके इस कार्य में कोई बाधा न आय। तिलक ने इस महाकाव्य के साढ़े दस अध्याय लिखे थे। इन साढ़े दस अध्यायों में ईसा मसीह के चरित्र की कथा ईसा के बचपन से आगे नहीं बढ़ी थी। यह प्रचंड कार्य अब उसने अपने हाथ में लिया और उसमें ६४ अध्याय जोड़कर, वह ग्रंथ पूरा किया। जिस समय वह इस कार्य में लगी हुई थी, उस समय मेरे सामने एक जटिल प्रश्न खड़ा हो गया था। निपाणी के ईसाई-साहित्य-सम्मेलन का मैं अध्यक्ष था। इसके बाद का सम्मेलन नागपुर के ईसाइयों ने नागपुर में करने का निश्चय किया था। परंतु उन्हें कोई अध्यक्ष नहीं मिल रहा था और वे मुझे ही अध्यक्ष बनाना चाहते थे। उनके पत्र पर पत्र और तार पर तार आने लगे। मुझे फिर लगातार दूसरे वर्ष वह अध्यक्ष-पद स्वीकार करना उचित नहीं लगता था। तब मैंने माँ को अपनी कठिनाई बताई पाटणकर हमेशा की तरह इस बार भी हमारी मदद के लिए दौड़े आए और उन्होंने सुझाव दिया कि माँ ही को अध्यक्ष बनना चाहिए। यह सुझाव नागपुर के लोगों को भी पसंद आया और अपने नित्य के स्वभाव के अनुसार माँ ने उनकी प्रार्थना तुरंत स्वीकार कर ली। उसने सम्मेलन के अध्यक्ष का अपना भाषण लिखना एकदम शुरू कर दिया।

उस वर्ष उसी समय नागपुर में मराठी साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन था। उसके बहुत-से मेहमान ईसाई साहित्य-सम्मेलन में उपस्थित रहा करते। माँ का वक्तृत्व उस समय अधिक बड़े और अधिक मर्मज्ञ समाज के सामने प्रकट हुआ और उसका वह भाषण भी बड़ा प्रसिद्ध हुआ।

सन् १९३३ का नासिक का कवि-सम्मेलन और उसमें दिया गया माँ का भाषण, सन् १९३४ के नागपुर के ईसाई-साहित्य-सम्मेलन का उसका भाषण, सन् १९३५ में प्रकाशित 'स्मृति के चित्र' के भाग, सन् १९३५ के

अंत में हुआ उसका अभिनंदन-समारोह और १६३६ की उसकी वीमारी— इन सब वातों ने उसके जीवन के अंतिम चार वर्ष अत्यन्त स्मरणीय वना दिए हैं।

लड़की, वहन, माँ और दादी और नानी के नाते, जीवन-भर, उसने जो भी मिले उनकी, जो कर सकती थी, वह सेवा की। इस सेवा में ऊँच और नीच के भेद-भाव का तो प्रश्न ही कभी उसके सामने खड़ा नहीं हुआ। भूलकर भी उसे कभी घृणा भी न आई। तिलक का कथन था—'इस सृष्टि की दिव्यता मनुष्यत्व है।' तिलक के इस कथन के प्रति दृढ़ विश्वास होने के कारण वह कैसा वर्ताव करती है, इसका उसे ज्ञान ही न रहता। इस तरह का वर्ताव करना उसका स्वभाव ही हो गया था।

कभी-कभी वह सुवह ही वाहर चल देती। घर के प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने काम में व्यस्त रहने के कारण दिन-भर उसकी किसी को याद न आती। परंतु शाम और रात होते ही हमें उसकी चिन्ता होने लगती। इधर हम चिन्ता करते और उधर वह किसी मौसी या वुआ के घर, उसकी किसी संवंधिनी की सहेली के कठिन प्रसव में सहायता देने के लिए वैठी होती। अथवा, घर आने के लिए निकल पड़ने पर रास्ते में यह पता लगते ही कि अमुक को ज्वर चढ़ आया है, वह वापस लौट जाती। परंतु उसे घर की वड़ी चिंता लगी रहती। वह जानती थी कि घर में हम लोग उसके लिए चिन्तित हो रहे होंगे। ऐसी स्थिति में वह किसी से भी 'वावा-दादा' कहकर, उसके हाथ घर यह संदेश भेज देती कि मैं अमुक-अमुक स्थान पर हूँ, मेरे लिए चिन्ता न करना।

माधव मनोहर अपने संस्मरण में लिखते हैं—

"श्री तिलक के घर के सामने ही मेरे मित्र प्रो० जोगलेकर रहते हैं। पिछले साल श्रीमती कमलावाई जोगलेकर सख्त वीमार थीं। माँ को कहीं से उड़ती हुई भी खवर मिल जाय कि कोई परिचित वीमार है, तो उनसे

कैसा भी समय हो, और उस बीमार व्यक्ति का घर कितनी ही दूर हो, माँ तुरंत ही उसी समय उसके यहाँ पैदल ही चल देती। माँ यदि घर में नहीं होती तो वह अवश्य किसी बीमार की खबर लेने गई होती। और समय-कुसमय की, ठंड और हवा की, अपनी वृद्धावस्था की सदा-रुग्ण परिस्थति की रत्ती-भर भी परवाह न करके उस बीमार व्यक्ति की सेवा-सुश्रूषा आरंभ कर देतीं। फिर उस बीमार व्यक्ति की रुग्ण-शय्या के नज़दीक माँ का आसन कितने घंटे और कितने दिन जमा रहेगा, यह कोई नहीं कह सकता था। जब उन्हें पता चला कि श्रीमती कमलाबाई जोगलेकर बीमार हैं, तो स्वयं बीमार होते हुए भी माँ उनकी खबर के लिए अपनी खाँसी सहित आई और तुरंत उन्होंने रोगिणी की सेवा-सुश्रूषा आरंभ कर दी !"

एक बार दिन के बारह बजे शरणपुर के रास्ते पर माँ एक पेड़ के नीचे थोड़ा विश्राम कर रही थी। वहाँ से चले आ रहे एक महाशय ने उसे देखा। आँचल बँधा हुआ, पैरों में चप्पलें, कंधे पर पल्ला और हाथ में एक मुड़ा हुआ हरा कागज़—इस साज-सज्जा में माँ उस पेड़ की छाया में खड़ी थी। उक्त महाशय ने पूछा—'नानी जी, आप इतनी तेज़ धूप में कहाँ जा रही हैं ?'

'ज़रा इसके यहाँ हो आती हूँ। उसे सिनेमा का विज्ञापन देखने को नहीं मिलता। वे लोग हमारे घर डाल जाते हैं। इसके यहाँ डालने को कहती हूँ, तो टाल-मटोल कर देते हैं।'

महाशय जी ने घर जाते-जाते मुझसे आकर यह बात कही और मैंने माँ के लिए छाता भेजा।

नासिक की श्रीमती ताईसाहब विंचुरकर कहती हैं—"मेरा और उनका नानी और नातिनी का रिश्ता था। प्रायः सभी स्थानों पर वह नानीजी कहलाती थीं और हमारे महिला-मंडल की भी वह नानी थीं।

"अपने स्नेह-पूर्ण स्वभाव के कारण वह सबको प्रिय थीं। उन्हें कहीं भी जाने की मुमानियत न थी। गरीब, अमीर, छोटे, तरुण और वृद्ध—

सब लोगों की वह प्रिय थीं और जहाँ जातीं, वहाँ उनका अच्छा स्वागत होता।

"उनके उपदेश मुझे अब पग-पग पर याद आते हैं। वह हमेशा कहतीं—दूसरे लोग हमसे चाहे-जैसा बर्ताव करें, परंतु हमें उनके साथ हमेशा अच्छा ही बर्ताव करना चाहिए।

"महीने-पन्द्रह दिनों में जब तक कम-से-कम एक बार वह अपने इष्ट-मित्रों के घर जाकर उनका कुशल-समाचार न पूछ आतीं, तब तक उन्हें चैन ही नहीं पड़ता था। हर घर के नाती-नातिन, लड़की और बहू के प्रति उनका बड़ा स्नेह-भाव रहता। यदि वह किसी के घर में यह देखतीं कि वहाँ किसी ने नया जेवर बनवाकर पहना है अथवा नया कपड़ा खरीदा है, तो उन्हें बड़ी खुशी होती और वह अत्यन्त आत्मीयता से उसके बारे में पूछ-ताछ करके अपना संतोष व्यक्त करतीं। दूसरों के काम आने का शौक तो उन्हें बेहद था। किसी के लिए दवा बना देना, किसी के घर, साथ के लिए, सोने को चले जाना, बीमारों का साथ देना, किसी के लिए नौकरानी ढूंढ़ देना—ऐसे अनेक काम उनके पीछे हमेशा लगे ही रहते थे। धूप, बारिश, भूख-प्यास की अवहेलना करके दूसरों के काम वह बड़ी लगन से करतीं।

"हमारे महिला-मंडल की सभाओं में वह हमेशा उपस्थित रहतीं। उन्हें हम लोगों पर बड़ा अभिमान था। एक बार किसी दूसरे शहर से एक वयोवृद्ध महिला हमारे मंडल में भाषण देने आई थीं। अपने भाषण में उन्होंने हम तरुणियों को खूब फटकारा। उनका भाषण समाप्त होते ही हमारी नानीजी उठीं और बड़े आवेश से उन्होंने हम पर लगाये गए आक्षेपों का खंडन कर डाला और यह प्रतिपादित किया कि सब लड़कियाँ (स्त्रियाँ) आर्य स्त्रियाँ हैं और वे अत्यन्त सुशील हैं। जब नानीजी ने हमारा पक्ष लिया तब कल्पना कीजिए कि हमें कितना आनंद हुआ होगा? जब वह हमारे साथ सच्ची आत्मीयता से पेश आतीं, तब वह हमें पराई कैसे लग सकती थीं? हाँ, अगर हमसे कहीं कोई भूल हो जाती तो अलबत्ता हमें

उनकी डाँट खानी पड़ती।

"एक बार महिला-सभा में एक प्रोफेसर साहब का व्याख्यान रखा गया था। परंतु महिला-मंडल की मंत्राणी जी प्रोफेसर साहब से व्याख्यान देने की प्रार्थना करना भूल गई थीं। अब क्या किया जाता? अब उसी वक्त जाकर प्रोफेसर साहब से व्याख्यान देने की प्रार्थना करने की हममें से किसी की भी हिम्मत नहीं होती थी, क्योंकि तुरंत व्याख्यान देने के लिए कौन राज़ी होता? हमने नानीजी को आगे बढ़ाया। हमारी खातिर नानीजी चिलचिलाती धूप में प्रोफेसर साहब के घर गईं और उन्हें 'भैया-दादा' कहकर लैक्चर देने के लिए राज़ी कर लिया। वह नानीजी की बात टाल न सके और इस तरह नानीजी ने अपनी नातिनों की इच्छा पूरी की। एक बार मंडल में हमने उनसे काव्य-गायन करने को कहा, तब उन्होंने यह बात इस शर्त पर स्वीकार की कि हर सदस्या अपने-अपने घर के पुराने और रद्दी कपड़े इकठ्ठे करके नानी के घर पहुँचा दे। दो-तीन दिनों के बाद नानी पुराने कपड़ों का गठ्ठा बाँधे भंगी-मुहल्ले की ओर जाती हुई दिखाई दीं।

"एक दिन सुबह साढ़े आठ बजे नानी मेरे घर आईं और बोलीं—अपने घर के पुराने और जो छोटे हो गए हों, वे सब कपड़े तो दो मुझे। आज आषाढ़ की अमावस है, दीप-पूजन का दिन!' मैं कुछ समझ ही न पाई। मैंने कहा—'नानी, यह क्या कह रही हैं आप? आज कहाँ से आई अमावस? आपका तो हिसाब ही कुछ अलग रहता है!'

"तब वह हँसीं और बोलीं—'देखो आज हरिजन-दिवस है। साल में एक दिन यह दिवस आता है। इस दिन हरिजनों की बस्तियाँ साफ की जाती हैं। हरिजनों को नहलाया जाता है, उन्हें खाना खिलाया जाता है, अच्छे-अच्छे कपड़े दिये जाते हैं। इस दिन हमें अपने हरिजन भाइयों के प्रति प्रेम, सहानुभूति और सराहना के भाव व्यक्त करने होते हैं। जिस तरह आषाढ़ की अमावस को हम घर में सँभालकर रखे हुए अपने सारे दियों को अच्छी तरह माँजकर स्वच्छ कर देते हैं, उसी तरह यह पर्व

भी है' ।"

माँ हर काम को लगन से करना पसंद करतीं । हरिजन-दिवस के दिन निकलने वाले हरिजनों के जुलूस और सिर्फ़ उस एक ही दिन की घर की सफाई माँ को पसंद न थी । इसीलिए वह हरिजन-दिवस को आषाढ़ की अमावस कहा करतीं । वह कहतीं—'यदि सचमुच प्रकाश फैलाना है, तो दियों को रोज़ माँजकर स्वच्छ करना चाहिए, और वह इन दियों को रोज़ माँजकर स्वच्छ करने का प्रयत्न करतीं ।

पतित स्त्रियों की उन्हें बड़ी चिन्ता रहती और सन् १६०८-१६०६ से उन्होंने इस विषय पर भाषण देकर और लेख लिखकर जनमत बनाने का भरसक प्रयत्न किया था ।

माँ का यह पक्का विश्वास था कि एक पत्नी के जीवित रहते हुए पुरुष को दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए । इसके लिए वह ऐसे लोगों से भी लड़ीं, जिन्हें वह पुत्रवत् प्यार करती थीं । लाक्षणिक रूप से नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने ऐसे लोगों के कान उमेठे थे । वे लोग यद्यपि अपनी करनी से न चूके, फिर भी अपने कान उमेठ दिए जाने के कारण वे लोग माँ से नाराज़ न हुए । उलटे मुझे तो यह विश्वास है कि माँ की इस निःस्पृहता के कारण उनके प्रति उन लोगों के हृदय में जो प्रेम और आदर था, वह और भी अधिक बढ़ गया ।

माँ को लड़के-लड़कियाँ और नाती-नातिनें चाहे जब मिल जाते । इसी तरह सोपानदेव चौधरी मिले । फिर वह हमारे घर के सामने ही रहने आ गए ।

एक दिन माँ सोपानदेव के घर सोई थी । रात को करीब दो बजे वह वहाँ उठकर लिखने लगी । लिखते-लिखते उसे याद आया कि पिछले दिन उसने अपने लेखों की फाइल शान्ति-सदन के बरामदे में छोड़ दी है । वह उसी समय वैसी ही उठी । शान्ति-सदन और हमारे घर के बीच जो रास्ता था, वह वृक्षों और झाड़ियों से भरा हुआ था और वहाँ अँधेरा था । परंतु माँ यह जानती ही न थी कि भय किस चिड़िया का नाम है । वह शान्ति-

सदन गई और फाइल लेकर लौटी। रास्ते में दो चोरों ने देखा कि बुढ़िया आँचल में कुछ छिपाये ले जा रही है। ज्यों ही माँ झाड़ियों के बीच पहुँची त्यों ही चोरों ने सामने जाकर उसका रास्ता रोक दिया। परंतु माँ चौंकी नहीं, डरी भी नहीं। उसने उलटे उन्हींसे डाँटकर पूछा—'क्या चाहते हो?' उनमें से एक वोला—'कुछ नहीं। हमने सोचा कोई चोर है।' माँ वोली 'क्यों रे, चाँदनी रात में क्या कोई चोर इस तरह खुल्लम-खुल्ला चोरी करेगा?' इसके वाद वे दोनों चले गए। दूसरे दिन उसने हमसे यह वात कही।

सोपानदेव के घर एक दिन एक कवि-मित्र मेहमान होकर आये थे। वह आधी रात को जाग पड़े। भीतर हो रही वातचीत उन्हें स्पष्ट सुनाई दे रही थी। वे भी घवरा गये। परंतु सुवह तक कुछ न वोले।

'अरे सोपानदेव, उठ भाई! वन्या के आसार कुछ ठीक नज़र नहीं आ रहे हैं। अगर थोड़ी ब्रांडी हो तो ले आ!'

'माँ आप कव उठीं?'

'अरे भाई, मैं तो सारी रात जागती रही हूँ। वन्या मेरी गोदी ही में है।'

वन्या को ब्रांडी पिलाई गई। वन्या अच्छा हो गया।

सुवह मेहमान ने पूछा—'कौन वीमार था?'

सोपानदेव ने रोगी को उनके सामने पेश किया। वह वन्या विलाव था!

हमारा एक कुत्ता था। उसके संबंध की एक स्मृति माँ के शव्दों ही में देता हूँ—

"भैंसें गईं, मुर्गियाँ गईं, एक तोता था वह भी उड़ गया, अव रह गए वुलैकी कुत्ता और उसकी पत्नी। वुलैकी हमारे घर तेरह वर्ष तक रहा। एक कुतिया ने राहुरी में हमारे घर में वच्चे दिए। उसका एक पिल्ला हमने पाल लिया था। चार साल तक एक कुतिया वुलैकी के पास रही। अंत में उसकी मृत्यु के वाद वह भी अन्न-पानी का त्याग करके मर गई! वह

रात-दिन हमारे बाड़े में रहा करती। जब बुलैकी बूढ़ा हुआ, तब उसे शारीरिक पीड़ा बहुत होने लगी। लेकिन, चंपी उसे छोड़कर कहीं न जाती। बुलैकी के लिए खाट और अँगीठी लाई गई थी। उसके शरीर पर मैं दवा मलती। लोग हँसते। परंतु वह कुत्ता भी सब सेवा मनुष्य की तरह करा लिया करता था। आँखों में दवा डालना, पेट में दवा लेना, खटिया पर पड़े रहना यह हर तरह के काम वह कर लेता था। जब वेदना अधिक होती, तब वह कराहने लगता और उसकी कराह सुनते ही चंपी दौड़ती हुई घर में मेरे पास आती और मेरा आँचल खींचकर मुझे उसके पास ले जाती। एक दिन दोपहर को करीब दो बजे चंपी आई और मुझे बाहर ले गई। मैंने जाकर देखा तो कुत्ता बहुत ज़्यादा कराह रहा था। मुझे देखते ही वह खाट से नीचे उतर पड़ा। उसने मेरे पैर चाटे और वहीं गिरकर प्राण छोड़ दिए। उसके चार छोटे-छोटे पिल्ले उसकी लाश पर कूदने लगे। चंपी ज़ोर-ज़ोर से गला फाड़-फाड़कर रोने लगी। तिलक से और मुझसे यह दृश्य देखा न जाता था। हमने उसे भीतर के कमरे में बंद कर दिया और बुलैकी को वहीं कम्पाउंड में दफ़ना दिया। परंतु चंपी ने छूटते ही वह स्थान खोज निकाला और आगे महीने-भर तक वह उस स्थान पर बैठकर रोती रही। उसने अन्न-पानी का त्याग कर दिया और अंत में दुःख से वहीं प्राण छोड़ दिए। धन्य बेचारी !"

सोपानदेव के पड़ोस में एक महाशय रहते थे। उनका भतीजा अठारह साल का हो गया था, परंतु बुद्धि की दृष्टि से तीन साल ही का रह गया था। बचपन में उसे टाइफाइड हुआ था और इस बीमारी का असर उसके दिमाग पर हो गया था। माँ को उस पर बड़ी दया आती थी। उसने उसे रोज़ अपने साथ घूमने ले जाने और पढ़ाने का निश्चय किया। माँ उससे कहती—

'हाँ, बिंदु बताओ तो यह काहे का पेड़ है ?'

'बरगद का।'

परंतु वह होता पीपल का। दूसरा पेड़ यदि बरगद का होता, तो

विंदु उसे अवश्य ही पीपल का वताता।

एक वार सोपानदेव वोले—'माँ आप क्यों व्यर्थ माथापच्ची करती हैं? आवा साहव जितना कर सकते थे, सव कर चुके हैं। उन्होंने कोई भी उपाय वाकी नहीं रखा है। आप वरगद का पेड़ दिखाती हैं, तो उसे वह पीपल कहता है और आप पीपल दिखाती हैं तो उसे वह वरगद कहता है।'

इस पर माँ वोली—'अरे इसमें विंदु ही की क्या वात है? वड़े-वड़े लोग भी वरगद की छाल पीपल में लगा देते हैं' और 'पीपल की छाल वरगद में लगा देते हैं। फिर यह तो वेचारा वच्चा ही है।'

नासिक की अनेक संस्थाओं ने इस अशिक्षित किन्तु अत्यन्त सुसंस्कृत तथा उदार और स्नेहमयी "लक्ष्मीवाई" का अभिनंदन करने का निश्चय किया और इस जगत्-नानी ने इसके लिए सहमति भी दे दी।

जीवन-भर अनेक विचित्र परिस्थितियों से लड़ते हुए वह यहाँ तक आ पहुँची थी। पच्चीस साल पहले उसने एक उपन्यास लिखना आरंभ किया था। उस उपन्यास का हम लड़कों ने मज़ाक उड़ाकर उसे उस समय वहुत तंग किया था। परंतु आज के उसके लेखन का मज़ाक उड़ाने की हममें से किसी में भी योग्यता न थी। उन लड़कों में से जितने भी इस समारोह में आ सकें वे किसी भी तरह अवश्य आयँ इसके लिए मैंने और प्रोफेसर पाटणकर ने अपने हस्ताक्षरों से अपने वाल-मित्रों को पत्र भेजे। उसमें सहज भाव से एक वाक्य लिख दिया था कि—'माँ की उम्र अव वहुत हो गई है, यह लिखने की ज़रूरत ही नहीं।' परंतु इस वाक्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि पन्द्रह लोगों में से दस लोग इस समारोह में आये। यह तो हुआ हमारे मित्रों के वारे में। साहित्यिकों में से भी कितने ही साहित्यिक उपस्थित थे।

१५ दिसंवर सन्, १९३५ को नासिक के सर्कल थियेटर में यह समारोह हुआ। 'स्मृति-चित्रैं' (स्मृति के चित्र) के पहले दो भाग प्रकाशित हो चुके थे और तीसरा भाग इस समारोह में प्रकाशित होने वाला था। उत्तम लेखिका के रूप में माँ इसी ग्रंथ के कारण प्रसिद्ध हुई।

हम सबके सामने उसका चरित मूर्त्त हो उठा। 'मनुष्य' शब्द खोजने के लिए जिसे एक बार एक घंटे तक कोशिश करनी पड़ी थी, उसीके शब्द अब इतने मूल्यवान सिद्ध हुए थे कि सैकड़ों लोग एक घंटा पहले, उसका सम्मान करने के लिए थियेटर में एकत्रित हो गए थे। भीतर जगह पाना कठिन हो गया था। कई लोगों को बाहर ही खड़ा रहना पड़ा। घर में मेहमानों के इंतज़ाम में लगे रहने के कारण मुझे वहाँ जाने में देर हो गई। परंतु वहाँ जाकर देखा, तो मेरे लिए भी भीतर जाना कठिन हो गया। मेरी आँखों में आनंद के आँसू उमड़ उठे। उस समय प्रत्येक संस्था की ओर से माँ के सम्मानार्थ उसे पुष्प-मालाएँ पहनाई जा रही थीं! नासिक छोड़कर जब वह पति के घर गई थी, उस समय यह दृश्य किसी की कल्पना में भी न आया होगा।

सभा-मंच पर अभिनंदन-समारोह के सभापति श्री प्रह्लाद केशव अत्रे बैठे थे। उनके एक ओर हरि-भक्ति-परायण श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर और दूसरी ओर माँ बैठी थी और आस-पास उसके प्रिय अन्य लोग बैठे हुए थे।

भाषण हुए। बड़े सुंदर भाषण हुए। उन भाषणों की विशेषता यह थी कि वे सब भाषण आत्मीयता के भाव से आप्लावित थे। उनमें श्री पांगारकर से लेकर श्री अत्रे तक सबने समान रूप से महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।

अत्रे ने कहा—"लक्ष्मीबाई को कलम का उपयोग करना भी नहीं आता। उन्होंने अपना बहुत-सा लेखन दियासलाई की नोक से किया है। हममें से बहुत-से साहित्य-सेवी फाउंटेन पेन से लिखते हैं। परंतु हमसे 'स्मृति के चित्र'-जैसा हृदयस्पर्शी ग्रंथ निर्मित करते न बना। जिस दियासलाई की सींक से लक्ष्मीबाई लिखा करती थीं, उस सींक की नोक में रहने वाली ज्वलंत आग उन्होंने अपने साहित्य में उँडेल दी है। अन्य लेखक फाउंटेन पेन से भले ही लिखते हों, पर उनके फाउंटेन पेन की स्याही से उनका हृदय नहीं झरता।

"अब मैं सब लोगों की तरफ से लक्ष्मीबाई के चरणों में सिर रखता हूँ

और अंत में उनसे अत्यन्त श्रद्धा तथा आग्रहपूर्वक यह प्रार्थना करता हूँ कि आपने मराठी साहित्य की इतनी बड़ी सेवा की है कि अब यदि हम आपसे और लिखने के लिए कहें, तो इसका अर्थ यह होगा कि हमारे पास हृदय नहीं है, हम निर्दय और कठोर हैं। मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि अपनी ढलती अवस्था में आप पूर्ण विश्राम लें और आपका जीवन अत्यन्त आनंद और शान्ति में बीते।"

अंत में माँ ने भाषण दिया। उसमें उसने कहा—"जिस दिन मुझे पूर्ण विराम मिलेगा, उसी दिन मेरे लेखन को भी पूर्ण विराम मिलेगा।"

और सचमुच जैसा कि उसने कहा था, वह अंत तक लिखती रही। इसमें उसने कभी कोई व्यवधान नहीं आने दिया। 'स्मृति के चित्र' के आधे लिखे चौथे भाग को पूरा लिखकर और 'ईसायन' का ७४ वाँ अध्याय समाप्त करके उसने लेखनी रखी और अभिनंदन-समारोह की भविष्य-वाणी तीन ही महीने के भीतर सत्य सिद्ध करके दिखा दी।

आठ दिन रह गए !

माँ जलगाँव श्रीमती आनंदीबाई शिर्के के घर गई थी। वहाँ उसे इन्फ्लुएन्ज़ा हो गया। वहाँ से उसकी मानस-कन्या, डॉक्टर पद्माबाई शिंदे, उसे अपने घर भुसावल ले गई। मेरी पत्नी बीमार थी। उसे लेकर मैं अकोला गया था।

डॉक्टर पद्माबाई के पत्र से हमें पता चला कि माँ को इन्फ्लुएन्ज़ा हो गया है। उसी समय हमें यह भी पताचला कि माँ भुसावल से खामगाँव जाने का इरादा कर रही है। पत्नी को अकोला छोड़कर मैं जब नासिक लौटा, तब मुझे चैन नहीं पड़ता था। मैंने नाना को जलगाँव भेजा। वह दूसरे दिन माँ को ले आया। वह अच्छी दिखाई दी। डॉक्टर पद्माबाई का पत्र पढ़कर मैंने उसकी बीमारी के बारे में जो कल्पना की थी, वैसी वह बिलकुल न दिखाई दी। आते ही, जिन-जिनसे मिलना संभव था, उन सबसे वह मिल आई। मैंने कहा—'माँ, अब तुम थक गई हो। हाल ही में बीमारी

से उठी हो। इसलिए, अब कुछ दिन के लिए 'ईसायन' की रचना बंद कर दी। उसने मेरी बात स्वीकार की। इसी समय सोपानदेव 'रिकार्डिंग' के लिए बंबई गये और उनकी पत्नी के सहारे के लिए माँ उनके घर सोने के लिए गई। दादी के साथ मेरे बच्चे भी गप्पें मारने के लिए गये। साढ़े आठ या नौ के करीब बच्चे आकर कहने लगे कि दादी 'धर्मात्मा' देखने जा रही है।

मैंने नाना से कहा—'तू दौड़ता हुआ जा और उसे रोक ले।' परंतु नाना लौटकर आया और बोला कि वह चली गई।

मुझे माँ पर बड़ा क्रोध आया। वह हाल ही में बीमारी से उठी थी। ठंड के दिन थे। शहर के सिनेमा के नौ बजे वाले शो में जाकर घर रात को बारह बजे वापस आना! परंतु, उसके उत्साह की तो सीमा ही न थी।

पपा की मृत्यु के बाद माँ कहती—'तिलक ने अपनी मौत को खुद बुलाया था। स्वर्ग में जब उनसे भेंट होगी, तब पहले मैं उनसे खूब लड़ूँगी।' माँ की जिस तरह पपा से लड़ने की इच्छा हुई, उसी तरह आज मेरी भी इच्छा हुई कि मैं उससे लड़ूँ। दूसरे दिन मैं न बोला। पर, तीसरे दिन मैंने डाँटा। तब वह बोली—'अरे, परसों गई थी, और कल फिर गई थी।' मैं बिलकुल हतबुद्धि ही हो गया। मैंने उससे कहा—'माँ अब ऐसा करने से काम नहीं चलेगा। अब तुम आज से सोने के लिए अपने घर ही आ जाओ!' तब वह राज़ी हुई कि अब मैं अपने को सँभालूंगी और सोपानदेव के लौटते ही घर आ जाऊँगी।

परंतु वह सुयोग न आया। उसी रात को करीब दो-तीन बजे लीलाबाई घबराई हुई आकर मुझे पुकारने लगीं। नाना और मैं नीचे ही सोये थे। लीलाबाई कहने लगीं—'माँ बहुत घबरा रही हैं। उन्हें ज़ोर से ठण्ड लग रही है।' मैं भागता हुआ आगे गया। नाना और अशोक पीछे से गरम पानी करके रबर की थैलियाँ और दवाएँ आदि लेकर आये। माँ को इतने ज़ोर से ठंड लग रही थी कि घर के सारे कपड़े उढ़ा दिए गए, उसके ऊपर अशोक और नाना लेट गए, भीतर गरम पानी की थैलियाँ रख दी गई,

फिर भी ठंड से वह काँप रही थी। सोपानदेव के घर कोई पुरुष न था। सिर्फ़ दो छोटे-छोटे वच्चे और लीलावाई थीं। नाना, अशोक और मैं सुवह तक वहाँ बैठे रहे। सुवह माँ को वुखार आ गया।

मुझे उस दिन नादगाँव में काम था और दूसरे दिन जलगाँव में। जलगाँव का काम दूसरे दिन सुवह ही करके उसके बुखार की पाली तक आया जा सकता था। परंतु पाँव घर से वाहर नहीं निकलते थे। माँ लगातार मुझसे कह रही थी तू काम पर जा। उसके स्नेह-सिक्त शब्द आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं।

'वाल्या,[1] जा। मैं अच्छी हूँ। चिन्ता न कर। जा, वाल्या, जा।'

वह मुझे कभी 'वाल्या' न कहा करती थी। परंतु उस दिन मेरे जाने तक अत्यन्त प्रेम-भरे स्वर से वह लगातार यही कहे जा रही थी। हाथ के छूने से ज्वर नहीं मालूम होता था। परंतु देह में काफ़ी बुखार होगा या उसके लिए उतना ही वुखार वहुत अधिक हो गया होगा। मैं डॉक्टर को ले आया और उसके यह विश्वास दिलाने पर कि यह मामूली मलेरिया है, मैं रवाना हुआ। जाते समय उसके पास जाकर खड़ा हुआ। उसकी आँखें मुँदी हुई थीं। मैंने सोचा शायद नींद आ रही हो। परंतु मेरे नज़दीक जाते ही वह वोली—'वाल्या, जा। मैं अच्छी हूँ। चिंता न कर!' यह मुझे बड़ा अजीव-सा लगा। पर, मैं अपने काम के लिए चल पड़ा। नादगाँव में जैसे-तैसे काम खत्म करके उसी रात की गाड़ी से जलगाँव पहुँचा। आधी रात वीत चुकी थी। स्टेशन पर गाड़ी के पहुँचते ही प्लेटफार्म पर श्री फडनीस दिखाई दिए। उन्हें देखते ही मेरा कलेजा काँप उठा।

'चलो, हमारे घर चलते हो? परंतु मैं सोचता हूँ कि तुम अभी अपने घर लौट जाओ। अभी गाड़ी का समय है। पाटणकर का तार आया है।'

मैंने तार पढ़ा। तार में मुझे वापस वुलाया था। परंतु यह नहीं लिखा था कि क्यों। इसलिए मैं और भी अधिक घवरा गया। मेरे नासिक छोड़ने

---

१. 'वाल्या' यानी 'वेटा' शब्द का प्यार से कहा जाने वाला रूप।

के बाद क्या कुछ भला-बुरा हो गया ? मैं कुछ समझ न पा रहा था। सारी रात बैठे-बैठे काट दी। सुबह नासिक उतरा। अब यह कैसे मालूम हो कि हुआ क्या है ? घर आते ही पहले सामने सोपानदेव के घर की ओर नज़र डाली। बाहर एक लालटेन जल रही थी। इधर हमारे घर में भी सन्नाटा दिखाई दे रहा था। फिर घबराया। नाना के द्वार खोलते ही मैंने उससे पूछा—'दादी का क्या हाल है ?' वह बोला—'दादी मज़े में हैं।' अब मेरी जान में जान आई।

पाटणकर से रात को डॉक्टर वर्टी ने कहा था कि माँ के 'हार्ट' (दिल) में बहुत कमज़ोरी आ गई है। यह सुनकर पाटणकर ने मुझे तार दे दिया था। कुछ भी हो, यह सुनकर कि वह अच्छी है, मुझे आनंद हुआ।

उस दिन उससे मिलने बहुत लोग आये। बुखार न आया। हाँ, विनोद और प्रेम में बाढ़ अवश्य आ गई।

कुछ स्त्रियाँ जब मिलने आईं, तब माँ ने उनसे कहा—'अजी, तुम लोगों ने मेरा अभिनंदन-समारोह किया था न ? इसलिए, मुझे नज़र लग गई है। अब राई-नोन उतारकर मेरी नज़र उतार दो !'

सब लोगों को बड़ा आनंद आया और वे हँसने लगीं। उसके पेट में अब अधिक दर्द होने लगा, फिर भी वह दूसरों को खूब हँसाती थी और इसलिए हम सबको बहुत हिम्मत बँधती थी। पांगरकर महाराज उससे मिलने आये थे। उसने उनसे कहा—'महाराज आत्मा और शरीर का झगड़ा चल रहा है। देखें कौन जीतता है ?'

शाम को डॉक्टर वर्टी बोले—'देखिए, इनके पेट के बीच में एक गाँठ-सी प्रतीत हो रही है। मेरा खयाल है कि आप किसी दूसरे डॉक्टर को भी परामर्श के लिए ले आइए।' डॉक्टर वाव्ले कनाडा अस्पताल की डॉक्टर रॉबिन्सन को ले आए। उन तीनों के पर्याप्त परामर्श के उपरान्त डॉक्टर वाव्ले और रॉबिन्सन जाकर सर्जन मेजर ग्रे को ले आए।

इधर यह गड़बड़ हो रही थी कि उग्र मंजुलाबाई की लड़की तुलसाबाई आ गई। उसे माँ की बीमारी का कोई पता ही न था। तुलसाबाई को देख-

कर माँ को बड़ी खुशी हुई।

डॉक्टर लोगों ने जाँच आदि करने के वाद यह निश्चित किया कि रोगिणी के पेट के भीतर 'इन्टेस्टाइनल ऑब्सट्रक्शन' है और उसका ऑपरेशन होना चाहिए। वे लोग अँग्रेज़ी में वातें कर रहे थे, पर माँ सब समझ रही थीं। डॉक्टर रॉविन्सन मुझे एक ओर ले गईं और वोलीं—'ऑपरेशन करना होगा। कहिए, आपकी क्या राय है?' मैंने कहा—'मैं माँ ही से पूछे लेता हूँ।' इसी समय लीलावाई माँ से कहने लगीं—'माँ, तुम विलकुल न डरो। इसका कोई ऑपरेशन थोड़े ही करेंगे!' परंतु माँ ने उनसे कहा—'अरे, अगर ऑपरेशन की ज़रूरत ही हो, तो वह होना ही चाहिए। मुझे ऑपरेशन से ज़रा भी भय नहीं लगता।'

माँ के इन शब्दों को सुनकर मैं वोला—'माँ ऑपरेशन करना है। तुम तैयार हो?' वह वोली—'हाँ, मैं विलकुल तैयार हूँ।'

माँ का हार्ट कमज़ोर होने पर मुझे तार भेजा गया था, परंतु सच पूछा जाय तो हम लोग जितने वहाँ वैठे हुए थे, उनमें किसी का भी हार्ट माँ के हार्ट की तरह सशक्त न था।

मैंने माँ को डॉक्टर वाव्ले की मोटर-कार में अच्छी तरह सुला दिया। इसके वाद वहाँ से चलते-चलते माँ वोली—'देखो, मेरी वहन से कह देना कि मैं लौटकर आती हूँ। वह कोई चिन्ता न करे।' ये वहन थीं भाई साहव वेदरकर। वह वेचारी वीमार थीं। लेकिन उसी स्थिति में उठकर, लाठी टेकती हुई वह वाहर आई और माँ से मिल गईं। रात-भर अस्पताल में ऑपरेशन के सिवा और जो-जो भी भी उपाय संभव थे, मेजर ग्रे ने वे सव करके देख लिए। परंतु उनका कोई उपयोग न हुआ। यह निश्चित हुआ सुवह आठ वजे ऑपरेशन होगा।

उसके कमरे से वाहर जाने से पहले नर्स ने उसकी कंघी-चोटी की और दो वेणियाँ गूँथीं। मैं ध्रुव को लेकर उसके पास गया, तो वह उससे वोली, 'देखो वेटा ध्रुव, कैसे एक छोटी लड़की की तरह मुझे सजा रहे हैं।'

स्ट्रेचर पर लिटाकर ऑपरेशन-रूम में ले जाते समय उसके मुँह पर

धूप पड़ रही थी। यह देखकर डॉक्टर शेखवाई ने उसके मुँह पर चादर उढ़ा दी। उसे दूर हटाकर, माँ ने उनसे कहा—'अजी, क्या तुम मुझे भीरु समझ रही हो ?'

ऑपरेशन-रूम के वाहर हम सब लोग चिंताग्रस्त खड़े थे। माँ को भीतर ले जाने के वाद करीव एक घंटे तक हमें उसकी वातें सुनाई पड़ रही थीं। मैं सोच रहा था कि शायद ऑपरेशन करना स्थगित कर दिया गया है। चलो, यह अच्छा हुआ। मुझे वड़ी खुशी हुई। इसी समय एक नर्स किसी काम से वाहर आई। जव उससे पूछा तव मालूम हुआ कि ऑपरेशन हो रहा है। माँ डॉक्टर से गप्पें हाँक रही थी और वहाँ भी थोड़ा विनोद हो रहा था। अंत में मेजर ग्रे ने उसे वातें करने से मना कर दिया। पहले-पहले ऑपरेशन 'स्पाइनल इंजेक्शन' देकर हुआ। अंत में, थोड़ा-सा क्लोरोफ़ार्म दिया गया। ऑपरेशन कुल मिलाकर ढाई घंटे होता रहा और वह सफल हुआ।

मेजर ग्रे ने मुझे यहीं एक कमरा दे दिया था। इस कारण मैं माँ के पास रह सका। तुलसावाई तो लगातार उसके पास वैठी ही थी।

ऑपरेशन समाप्त होने के कोई आध घंटे वाद माँ होश में आई और मुझसे वोली—'दत्तू, ध्रुव आया था न रे ? वह मुझसे प्यार करता है। वेचारा वाहर ही से झाँककर चला जाता है।'

मैंने ध्रुव को लाकर उसके सामने खड़ा कर दिया। उसकी पीठ पर हाथ फेर लेने पर माँ को वड़ा संतोष हुआ। नाना उसके पास खड़ा हुआ था। उसकी मैट्रिक की परीक्षा नजदीक आ गई थी। माँ ने उसे आग्रह पूर्वक वापस भेज दिया। मैंने पत्र भेजकर अपनी पत्नी को यहाँ की सारी वातों से परिचित कराया और लिखा कि वह आने की जल्दी न करे; क्योंकि घर में दो वीमारों की देख-भाल करना वड़ा कठिन होगा। परंतु उसका पत्र आया कि यहाँ के सामान का 'पैकिंग' पूरा होते ही मैं नासिक आ रही हूँ। मैंने उसे न आने के लिए तार भेजा। मेरे माँ से यह कहने पर भी कि मैंने उसे न आने का तार दे दिया है, उसने दो वार मुझसे पूछा—

'क्या रूथ आई ?' तब मुझे बड़ा अजीब-सा लगा। मुझे लगने लगा कि तार न भेजता, तो अच्छा होता। परंतु मेरे तार का कोई लाभ न हुआ। रूथ आई और माँ के सिरहाने जाकर खड़ी हो गई। तब हम तीनों को बड़ा संतोष हुआ। ऑपरेशन अच्छा हुआ था। तीसरे दिन माँ ने मुझसे कहा— 'अब एक ही टाँका खोलने को रह गया है।' मुझे खुशी हुई। परंतु अब उसे खाँसी आने लगी और छाती में साँस भरने लगी। अब दो दिन और बचे थे। इन दो दिनों में उसने जिस धैर्य का परिचय दिया, जो उदार वृत्ति और आशा दिलाई, वह सचमुच अवर्णनीय है। रोगिणी के अत्यन्त क्षीण हो जाने के कारण डॉक्टर ने मुझे जताकर कह दिया था कि माँ से मिलने के लिए मैं किसी को न आने दूँ। फिर भी दिन-भर सब वर्गों के स्त्री-पुरुष लगातार उससे मिलने आ रहे थे। उन्हें समझाते-समझाते हमारी नाक में दम आ रहा था। इधर आगे के द्वार से मैं लोगों को हटाता, तो पिछले दरवाज़े से लोग घुस पड़ते और उससे बातें करते बैठे रहते और इनमें उसके भंगी छात्र-छात्राओं से लेकर बड़े-बड़े विद्वान् स्त्री-पुरुष तक सब प्रकार के अमीर और गरीब लोग रहते।

इन दो दिनों में वहाँ जो छोटी-मोटी बातें हुईं, उनकी जानकारी बाद में सोपानदेव ने प्राप्त की और इस संबंध में उन्होंने जो लिखा है, उसका कुछ अंश आज यहाँ देता हूँ—

"इस तरह के पेट के ऑपरेशन के रोगियों को सँभालना परिचारिकाओं के लिए एक विकट समस्या रहा करती है। कई बार ऐसे रोगियों के हाथ-पाँव बाँधकर रखने पड़ते हैं। परंतु, हमारी माँ का नाम अस्पताल में सब लोग ले रहे हैं कि उसने दवा पीने, इंजेक्शन लगवाने तथा अन्य किसी भी विषय में ज़रा भी कष्ट न दिया। अस्पताल के तीन दिनों में एक बार ही उसने अरुचि-सूचक मुँह बनाया था। क्योंकि ज़िंदगी में कभी माँस न खाया था। फिर भी अरुचि-सूचक शब्द उसने मुँह से न निकाला। उसने नर्स को कभी यह आभास नहीं होने दिया कि मेरे दर्द हो रहा है। उसके पास बैठी हुई तुलसाबाई श्री भाऊसाहब को बाहर ले जाकर, उनसे दो-चार

वार कह गई कि, 'माँ कहती है कि यहाँ से प्राईमस स्टोव हटा दो और वत्ती वाला चूल्हा रखो !' भाऊ साहव ने सोचा कि अशक्तता के कारण उसने यह धुन पकड़ ली होगी। परंतु माँ ने उन्हें अपने पास बुलाकर कहा—'ये परिचारिकाएँ वड़ी चपल होती हैं। कहीं किसी का आँचल आग न पकड़ ले। इसलिए स्टोव को यहाँ से हटा दो और उसकी जगह एक वत्ती वाला चूल्हा लाकर रख दो !' स्वयं दुःख में होते हुए भी दूसरों की चिंता करने का उनका यह स्वभाव देखकर परिचारिकाओं को वड़ा आश्चर्य हुआ होगा।

"विस्तर पर लाकर सुलाने के वाद उसके वदन में एक नुकीला तिनका गड़ गया। उसे टटोलकर उसने निकाला और हाथ में लिया। फिर नज़दीक खड़ी हुई परिचारिका को दिखाकर उससे कहा—'क्यों जी, क्या यही है तुम्हारा इंतज़ाम ? मेरी जगह यदि कोई वच्चे वाली स्त्री होती, तो वच्चे को कितना कष्ट होता ? भविष्य में चादरों की अच्छी जाँच कर लिया करो !' यह वात वताते हुए वह परिचारिका डवडवाई हुई आँखों से वोली—'इतनी आत्मीयता से हमें किसी ने भी उपदेश न दिया था।'

"एक निजी परिचारिका के हाथ से थर्मामीटर फूट गया और यह माँ ने देख लिया। उसने एकदम भाऊ साहव को अपने पास वुलाया और उनसे कहा, 'वेचारी का थर्मामीटर फूट गया है। उसे एक नया खरीद दो। तुम्हें पैसों की ज़रूरत हो, तो मेरी अलमारी में 'डेली लाइट' किताव के भीतर रखे हैं, ले लेना !"

·

यह उसने कभी न दिखाया कि मेरी कुछ आशाएँ अधूरी रह गई हैं, मौत से वह डरती न थी। शायद वह यह सोचती होगी कि मेरा थोड़ा-सा काम करने को वाकी रह गया है, क्योंकि, उसने एक परिचारिका से कहा था—'मेरी रोटी तवे पर पक चुकी है। अव उसे सिर्फ़ आग पर सेकना वाकी रह गया है। इसलिए उसे सेकने की इच्छा हो रही है। मेरे वच्चों को उसे देखने की ज़रूरत न पड़े। 'स्मृति के चित्र' के अधूरे चौथे भाग को

और 'ईसायन' के अंतिम अध्याय को जाँचना वाकी रह गया है। उसके मन में यह होगा कि इसे समाप्त करके फिर अपनी जीवन-लीला समाप्त करूँ।

तेईस तारीख। रात को पाटणकर दवाखाने से वापस आये। उन्होंने मुझसे कहा—डॉक्टर कहते हैं कि अव ठीक है। इसलिए तुम जाकर सो जाओ। तुलसावाई तुम्हें उठा देगी। मुझे वह सच लगा। पाटणकर रात को वही माँ के पास रहना चाहते थे। परंतु इतिहास की पुनरावृत्ति न हो, इसलिए जान-वूझकर वह चले गए। पपा की मृत्यु से पहले की रात को पाटणकर ही उनके पास थे और इस समय जान-वूझकर उन्होंने वह मौका टाल दिया। वरना, इस समय भी वही माँ के पास रात बैठे होते।

मुझे वड़ा समाधान मालूम हुआ। मैं शान्ति से जाकर सो गया। मेरे सोने के वाद पाटणकर और रूथ कव गये, इसका मुझे कोई पता न था। आधी रात के वाद तुलसावाई ने आकर मुझे जगाया।

'भाऊ, चलो ! माँ वुला रही है।'

वारह वजकर पचास मिनट हुए थे। माँ ने मेरी ओर देखा नहीं, किसी की ओर भी न देखा। उसे नींद आ रही थी। उसके नेत्र बंद थे। चेहरे पर शान्ति की छटा पूर्ण रूप से झलक रही थी। मृत्यु-छाया की खिड़की में से वह गुज़र रही थी अवश्य। फिर भी ऐसा नहीं दिखाई दे रहा था कि मृत्यु का उस पर कोई प्रभाव रहा हो।

तुलसावाई फूट-फूटकर रो पड़ने के इरादे में थी। मैंने उसे वाहर निकाला। इतनी शान्ति से जा रहे प्रवासी को अपने रोने-धोने की आँच नहीं लगने देनी थी। मुझसे अपना रुदन रुकता न था। परंतु, उस प्रसंग को अत्यन्त धैर्य से और स्वयं माँ की वृत्ति को शोभा देने योग्य रीति से निभाना था। मैंने मन-ही-मन ईश्वर की और माँ की प्रार्थना की और परमेश्वर की कृपा से एवं माँ के शील के प्रभाव से उस प्रसंग पर मैं उसे शोभा देने लायक वर्ताव कर सका।

अठारह घंटों के वाद उसका मृत शरीर श्मशान-भूमि को ले जाया गया। शव-यात्रा के समय तक उसके चेहरे पर झलकने वाली स्मित और

शान्ति की छटा विलुप्त नहीं हुई। शव-यात्रा में सब धर्मों के सब प्रकार के और सब विचारों के यूरोपियन और हिन्दुस्तानी स्त्री-पुरुष नासिक से तथा अन्य स्थानों से आये।

माँ के जीवन और अंतिम घड़ी की ओर देखने पर मुझे उस दिन तिलक का एक गीत निरंतर याद आ रहा था। अंत में शव के संदूक को श्मशान-भूमि की ओर ले जाते समय जब भजन-मंडली ने मुझसे पूछा कि कौन-सा भजन गाया जाय, तब मैंने उनसे वही गीत गाने को कहा—

जिंकुन मरणाला मरणाला
जीव कुडींतुन गेला
अक्षयतेचा अधिकारी हा
इकडून तिकडे झाला
विश्वासाचा जिना चढोनी
दिव्य मंदिरीं शिरला
मेला नाहीं निजला क्षणभर
पुन्हा सुखानें उठला
प्रभुनें ह्याला किती दयेनें
अजरामर हो केला।[1]

१. मृत्यु पर विजय प्राप्त करके प्राण काया से निकल गए। प्राण अक्षय हैं। इधर से उधर चले गए। विश्वास-रूपी जीना चढ़कर उसने दिव्य मंदिर में प्रवेश किया। वे प्राण मरे नहीं, क्षण-भर के लिए सो गए और पुनः सुख से जाग उठे। कितने प्रेम से परमेश्वर ने इसे अजरामर कर दिया।